विचारों के नये आयाम

लेखक
सौभाग्यमल जैन, एडवोकेट

संपादक
डा० सागरमल जैन

प्रकाशक
अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-
कान्फ्रेंस; देहली

भगवान महावीर के २५वीं निर्वाण शताब्दी समारोह के उपलक्ष में

● विचारों के नये आयाम

लेखक—सौभाग्यमल जैन

संपादक—डा० सागरमल जैन

प्रकाशक—आनन्दराज सुराणा
प्रधानमन्त्री :—
अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेंस
१२ शहीद भगतसिंह मार्ग
जैन भवन
नई दिल्ली

मुद्रक :
श्रीचन्द सुराना के लिए
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा
प्रथम बार : वि० सं० २०३२ विजयादशमी
अक्टूबर १९७५

प्रकाशकीय

मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है कि मध्य भारत के भूतपूर्व मंत्री तथा अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस के उपाध्यक्ष श्री सौभाग्यमल जी जैन की पुस्तक 'विचारों के नये आयाम' पाठकों के सन्मुख उपस्थित की जा रही है। उपरोक्त पुस्तक में श्री जैन साहब के भिन्न-भिन्न समय पर लिखे गये निबन्धों का संग्रह है, जिन्हें हमीदिया कालेज, भूपाल के दर्शनशास्त्र के सहायक प्राध्यापक डॉ० सागरमल जैन ने संपादन तथा क्रमबद्ध करके वर्तमान रूप में प्रस्तुत किया है। श्री जैन ने सामाजिक तथा धार्मिक अन्धविश्वास तथा रूढ़ मान्यताओं पर चोट की हैं, तथा समाज के अन्तस्तल को झकझोर कर प्रगतिशील दिशा की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया है।

प्रस्तुत पुस्तक केवल स्थानकवासी जैन समाज ही नहीं अपितु पूरे जैन समाज के लिये प्रेरणाप्रद रहेगी। इस पुस्तक की भूमिका केवल जैनदर्शन ही नही, अपितु भारतीय दर्शनों के अपूर्व व्याख्याकार, समन्वय-संस्कृति के जबर्दस्त हामी संत श्रद्धेय कवि श्री अमर मुनि जी ने लिखी है।

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव वर्ष में अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस, देहली द्वारा यह प्रकाशन पाठको के सन्मुख प्रस्तुत है। आशा है कि समाज इस से नई दिशा ग्रहण करके समाज तथा राष्ट्र के उत्थान में प्रयत्नशील होगा

आनंदराज सुराना
प्रधान मन्त्री
अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन
कान्फ्रेंस, देहली

जैन भवन
12 शहीद भगतसिंह मार्ग
नई दिल्ली।

आमुख

इस अखिल विश्व में प्रकृति ने जिन-जिन प्राणियों को देखने के लिए आखे दी हैं वह सब जगत के व्यापार (कामकाज) घटनाओं को देखते हैं। इस प्राणी जगत मे मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो अपनी चक्षुइन्द्रिय के द्वारा देखने के पश्चात जगत के (व्यापार) घटनाओं पर ऊहापोह करता है, मनन करता है और संभवतः यही पशु तथा मनुष्य में विभाजक रेखा है। उपनिषदों के प्रणेताओं ने अपनी बाहें उंची उठाकर घोषणा की थी कि "समस्त प्राणी जगत में मनुष्य श्रेष्ठतर है" श्रमण संस्कृति में तो मानव का स्थान देवताओं से भी ऊंचा बताया तथा घोषणा की थी कि वह प्राणी जगत में सर्वोच्च है। मानव जन्म दुर्लभ है, वह स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। इस्लाम ने भी मनुष्य को 'अशरफुल मखलूकात' घोषित किया। जैसा कि एक विद्वान ने कहा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में जन्म लेता है, समाज की घटनाओं का उसके मन-मस्तिष्क पर प्रभाव होता है ! उन पर वह मनन करता है। लेखक का जन्म एक रूढ़ि तथा परम्पराओं से आबद्ध परिवार में होने के बावजूद "सामाजिक प्रश्नों" पर मनन की प्रक्रिया ने उसे एक विद्रोही व्यक्तित्व का रूप दे दिया। लेखक ने जीवन के प्रारम्भिक कार्य क्षेत्र में उतरने के समय से ही सामाजिक जीवन में कुविचार पूर्ण रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास पर आधारित परम्पराओं की प्रवंचना तथा छलना देखी तो उसका मस्तिष्क विद्रोही भावना से व्याप्त हो गया। परिणामस्वरूप उसने अपने जीवन का एक महत्वपूर्ण कार्य, इस पर विवेक पूर्ण आघात निश्चित किया और इस कार्य का श्रीगणेश अपने परिवार से ही किया। परिवार में परम्परा के नाम प्रचलित कई प्रथाओं पर सफल आघात किया। समाज के अन्य परिवार मे प्रचलित कुरीति के पालन के समय असहयोग किया। परिणाम-स्वरूप उसके कार्य के क्षेत्र का विस्तार हो गया। जब वह विधानसभा का सदस्य निर्वाचित हुआ (तत्कालीन ग्वालियर राज्य द्वारा निर्मित उच्च सदन राजसभा, मध्यभारत की विधानसभा तथा वर्तमान मध्यप्रदेश की अन्तरिम विधान सभा में १२ वर्ष लेखक सदस्य रहा) तब जैन समाज में "बाल दीक्षा" की रोक के लिए तथा हिन्दू समाज में प्रचलित 'पशु पक्षी का बलिदान' की रोक के लिये तत्कालीन विधान सभा में बिल प्रस्तुत किये। हालांकि लेखक की मान्यता है कि केवल कानून बन जाने से सामाजिक सुधार बहुत कठिन है जब तक कि जनमत जागृत नहीं हो, फिर

भी लेखक ने दोनों बिल के समग्र समाज में चेतना जागृत की । लेखक का विश्वास है कि मानव को प्राचीन तथा अर्वाचीन के औचित्य तथा अनौचित्य का निर्णय परीक्षा के अनंतर करना चाहिए जैसा कि संस्कृत के महाकवि कालिदास ने अपनी एक कृति में कहा था—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि नूनं नवमित्यवद्यम् ।
संतः परीक्षान्यतरद् भजन्ते, मूढः पर-प्रत्ययनेय बुद्धिः ।।

इसीलिये देश के उद्‌भट विद्वान स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्द ने एक स्थान पर कहा था कि देश में कुल ऐसी हवा फैल गई थी कि संस्कृत में कुछ भी लिख दिया जावे उसे शास्त्र वचन कहकर उसे पालने का कर्तव्य बताया जाता था । एक विद्वान ने कहा था—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न तु कर्तव्यविनिश्चयः ।
विवेकहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते ।।

तात्पर्य यह है कि शास्त्र के भावार्थ, तात्पर्य समझने के लिये स्वयं की प्रज्ञा आवश्यक होती है अन्यथा उसके बुरे परिणाम हो सकते हैं जैसा कि मानव समाज की कई कुरीढ़ियों के मूल मे आप्त वाक्यों का भ्रामक अर्थ लगा लेने का कारण हुआ है ।

लेखक को अपने जीवन के उषःकाल से ही स्वाध्याय का शौक रहा है उसी का यह परिणाम है कि उसके जीवन में साहित्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो सकी, उसे भाषा की दृष्टि ने महत्वाकांक्षी बना दिया, भारतीय भिन्न भाषा-ओं में काम चलाने के अनुरूप अपना ज्ञान अर्जित किया तथा जीवन में 'विवेक' का वास्तविक मूल्यांकन हो सका । लेखक के जीवन में कई उतार-चढ़ाव आए । लगभग १२ वर्ष के विधान सभा की सदस्यता के काल (सन् १९४५ से सन् १९५७) में से कुछ समय विधान सभा का उपाध्यक्ष तथा लगभग ४–५ वर्ष मंत्रिमण्डल का सदस्य रहा किन्तु उस जमाने में भी सामाजिक कार्य तथा साहित्य सेवा जीवन के प्रमुख अंग रहे ।

लेखक प्रारम्भ से ही कृशकाय, दुर्बल तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से एक निर्धन व्यक्ति रहा है, लेखक जब मंत्री मण्डल का सदस्य होने के नाते ग्वालियर निवास करता था तब स्थानीय साहित्यिक मित्र के स्वास्थ्य पृच्छा के प्रश्न का उत्तर लेखक ने उर्दू के एक शायर के शब्दों में दिया था —

तिफली गई, अलामते पीरीं अयां हुई ।
हम ताकते ही रह गये,अहदे-शबाब को ।।

किन्तु इस स्वास्थ्य निर्धनता के साथ लेखक में हास्य-विनोद की कमी नहीं

रही, जिसके कारण लेखक अ ज भी अपने जीवन के सन्ध्या काल में उत्साह की कमी नहीं पाता है।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के द्वारा समय-समय पर लिखे हुए निबन्धों का संग्रह है। इस ग्रन्थ (निबन्धों का संग्रह) की उपादेयता, उपयोगिता का मूल्यांकन लेखक का कार्य नहीं है, इसका मूल्यांकन तो पाठक ही कर सकते हैं जैसा कि एक संस्कृत के विद्वान ने कहा था कि—

कविः करोति काव्यानि, स्वादं जानाति पण्डितः।
तरु सृजति पुष्पाणि, मरुद् वहति सौरभम् ॥

यदि इस निबन्ध संग्रह से समाज में अन्धविश्वास, कुरीति आदि के प्रति सात्विक क्रोध उत्पन्न हो सका, उसकी चेतना जाग्रत हो सकी तो लेखक धन्य मानेगा तथा उसका यह लघु प्रयास सफल होगा।

श्रद्धेय कवि श्री अमरमुनिजी की महती कृपा है कि जिन्होंने मेरे निवेदन पर अपनी सहस्रों व्यस्तताओं के बावजूद इस संग्रह की प्रस्तावना लिखने का कष्ट किया कि श्रद्धेय कवि श्री एक उद्‌भट विद्वान है, जहां जैन दर्शन का गहराई के साथ अध्ययन किया, वहीं उन्होंने अन्य भारतीय दर्शनों का भी उतना ही बारीकी तथा गहराई के साथ अध्ययन किया है, उसी का परिणाम है कि वह भारतीय दर्शनों के अपूर्व व्याख्याकार है। वह प्राचीन तथा अर्वाचीन ज्ञान विज्ञान के उद्‌भट विद्वान है, उनके विचार मौलिक तथा साम्प्रदायिक घेरे से मुक्त होते हैं, उनकी दृष्टि समन्वय-मूलक है, उनके जीवन में विज्ञापन, प्रदर्शन नही है जो कुछ है वह खुली हुई पुस्तक के समान है, वाणी तथा कर्म मे साम्यता है, यही महात्मा का लक्षण हैं। कवि श्री के मन में भी अन्धविश्वास, गलत मान्यताओं तथा धारणाओं के प्रति सात्विक क्रोध है, और वह ऐसी समाजरचना के हामी है जिसमें आध्यात्मिकता हो, ढोंग नही हो, अन्तर तथा बाह्य मे कोई भेद न हो। कवि श्री के पास बैठकर लेखक ने बहुत कुछ प्राप्त किया है। लेखक अपना सद्‌भाग्य मानता है कि उसे कवि श्री का आशीर्वाद प्राप्त है।

लेखक के निबन्धों के सम्पादन का कार्य डाक्टर श्री सागरमलजी जैन ने किया है जो भोपाल हमीदिया कालेज में दर्शनशास्त्र के सहायक प्राध्यापक हैं उन्होंने निबन्धों का सम्पादन करने का कष्ट किया है वह तो मेरे अनुज के समान है उनका आभार मानकर उनके प्रति अनात्मीय नहीं होना चहता।

शुजालपुर मण्डी
दिनांक १५–८–७५

—सौभाग्यमल जैन

सम्पादकीय

श्री सौभाग्यमलजी जैन समाज के उन मूर्धन्य चिन्तकों में से है जिन्होंने समाज की समस्याओं को निकटता से जाना है, न केवल जाना है, वरन उनका अनुभव किया है। वे समाज की रोग-ग्रस्त शिराओं के पारखी है। उन्होंने अपने अनेकानेक सामयिक लेखों में समाज की दुःखती रग को छुआ है और उसके निदान और चिकित्सा का प्रयास भी किया है। यद्यपि उन्होंने सामयिक विषयों पर लेख लिखकर ही विविध पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपने विचारों को जन-जन तक पहुँचाया है और किसी गंभीर विषयों पर ग्रन्थ प्रणयन का प्रयास नहीं किया है। किन्तु उनके इन लघु-निबन्धों और सामयिक लेखों में भी उनका विषय गाम्भीर्य स्पष्टतया देखने को मिलता है। वे एक ऐसे विद्वान है, जिसकी कलम पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं, अपितु समाज की चेतना को जाग्रत बनाये रखने के लिए चलती रहती है। दूसरी विशेषता यह है कि दर्शन जैसे गम्भीर विषय से लेकर हास्य-व्यग्य जैसे रोचक विषयों पर भी उनकी लेखनी.चली है,यद्यपि जीवन की प्रौढ़ता के साथ उनकी लेखनी भी प्रौढ़ होती गई है। फिर उन्होने जो कुछ लिखा है वह लेखनी पर संयम रखते हुए अपनी विद्रोही अन्तरात्मा के साथ एक रूप होकर लिखा है मर्यादा में रहकर भी उन्होंने समाज-जीवन की प्रवंचनाओं और छलनाओं पर स्पष्ट चोट की है। वे अपने लेखन में एक पूरे अहिंसक समालोचक रहे हैं।

यदा कदा मुझे उनके लेखों को पढ़ने का अवसर प्राप्त होता रहा और मुझे यह लगा भी इन लेखों में सभी कुछ मात्र सामयिक मूल्य का नहीं है, उसमें बहुत कुछ ऐसा हैं जिसका साहित्य और चिन्तन की दृष्टि से शाश्वत मूल्य हो सकता है। फिर भी इन सामयिक लेखों के शाश्वत मूल्य वाले अंशों का किसी ग्रन्थ के रूप में प्रणयन हो यह कल्पना नहीं जाग सकी। प्रसंगवश एक बार उनके प्रकाशित लेखों और रचनाओं के संग्रह को देखने का अवसर मिला तब यह विचार आया कि इन्हें एक ग्रन्थ का रूप दिया जा सकता है

मैंने उस संग्रह को प्राप्त किया और उसमें जो भी ऐसा लगा जिसका साहित्य एवं चिन्तन की दृष्टि से स्थायी मूल्य हो सकता था, उसे सम्पादित करने का प्रयास किया।

वस्तुतः सम्पादन का यह कार्य मुझे अधिक कठिन नहीं लगा क्योंकि आदरणीय सौभाग्यमल जी सा० की लेखनी इतनी प्रौढ़ एवं मंजी हुई है कि उसमें संशोधन एवं परिष्कार के लिये तो कुछ था नहीं, सम्पादक के रूप में मेरे जिम्मे तो एक ही कार्य था, वह यह कि उन लेखों में जो कुछ सामयिक था उसे शाश्वत मूल्य वाले अंशों को क्रमबद्ध रूप से संकलित कर दूं।

प्रस्तुत ग्रन्थ को मैंने विविध विधाओं के आधार पर कुछ शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित करने का प्रयास किया है, यद्यपि यह एक प्रयास मात्र ही है,क्योंकि कोई कठोर विभाजक रेखा खीच पाना सम्भव नहीं था। मात्र पाठकों को अपने रुचि के विषय पढ़ने में सुविधा हो इस दृष्टि से ही यह प्रयास किया गया है। पुस्तक के प्रमुख शीर्षक हैं १ आत्मनिवेदन २ काव्य ३ हास्य-व्यंग्य ४ राष्ट्र और राष्ट्रीयता ५ महावीर के प्रति ६ जैन आचार-मीमांसा ७ दर्शन और धर्म ८ समाज और संस्कृति एवं ९ जीवन-दर्शन

प्रस्तुत संकलन में विचार रूपी सुमन तो लेखक के ही हैं, मैने तो उन बिखरे हुए विचार सुमनों की एक माला ग्रन्थित करने का प्रयास किया है, ताकि श्री सौभाग्यमलजी की चिन्तन वाटिका में खिले हुए ये सुमन मां सरस्वती के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करने में सहायक हो सके। मैं अपने प्रयास को कहां तक यथोचित बना पाया हूँ यह तो पाठक वृन्द के मूल्यांकन का विषय है। मेरे श्रम की सार्थकता तो इसी में है कि युवा पीढ़ी उनके इन विचारों से युगबोध और चेतना प्राप्त करें।

—(डा०) सागरमल जैन

प्रस्तावना : हृदय के दो बोल

साहित्य मानव जाति की विचार सम्पत्ति का वह अक्षय कोष है, जिसमें से मानव को अतीत से प्रेरणा मिलती है, वर्तमान से कर्म की स्फुरणा मिलती है, और भविष्य से कल्याणकारी योजनाओं के स्वप्न मिलते हैं। साहित्य के अभाव में मानव शरीर से भले ही मानव हो, परन्तु अन्तर जगत में स्फुरित होने वाली चेतना ज्योति की दृष्टि से तो वह बिना सींग-पूंछ का निरा पशु ही है, और कुछ नहीं। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा था—

'साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात्पशु पुच्छ विषाणहीनः ॥

साहित्य सहस्रधारा का ज्ञान प्रवाह है। धर्मशास्त्र, दर्शन, कला, विज्ञान, नीति, काव्य, नाटक, व्याकरण आदि हजारों धाराओं में प्रवाहित है, साहित्य गंगा एक-से एक गम्भीर और एक से एक विशाल। कहीं भाव की चमत्कृति है, तो कहीं भाषा की। मानव मन में कुछ पाने की जिज्ञासा होनी चाहिए। साहित्य में से उसकी मनोभूमिका के अनुसार कुछ-न-कुछ मिल ही जाएगा।

साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा निबन्ध भी है। अपने छोटे से वामनाकार शब्द शरीर में एक विशाल विचार-चेतना को इस प्रकार अभिव्यक्ति देता है कि मानव का अन्तमन ज्ञान के दिव्य आलोक से जगमगा जाता है। अल्प-से-अल्प अध्ययन से ही पाठक को अपने जीवन-निर्माण के लिए एक स्पष्ट दिशा मिल जाती है, और मिल जाती है चेतना को चिन्तन के आनन्द की एक सहज उपलब्धि।

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं में अनेक निबन्ध प्राप्त हुए हैं, जिन्हें प्रकरण ग्रन्थ कहा जाता है। महान् दार्शनिक वाचस्पति ने तो अपने एक लघुकाव्य न्यायग्रन्थ का नाम ही 'न्याय सूची निबन्ध' रखा है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि निबन्ध शैली आधुनिक युग के पाश्चात्य विचारकों की ही कोई खास देन है। यह ठीक है कि निबन्ध की प्राचीन और नवीन शैली में काफी अन्तर है। नवीन शैली के भी अनेकविध रूप है। निबन्धों के रूपों में कितनी ही विभिन्नता हो, पर एक ऐसी एकरूपता भी है, जो सर्वत्र

परिलक्षित होती हैं। वह है एक विषय, वस्तुतत्व, घटना एवं दृश्य आदि का निश्चय पूर्वक परीक्षण तथा विश्लेषण, फिर भले ही यह वैयक्तिक (व्यक्तिगत) भूमिका पर हो या निर्वैयक्तिक (तटस्थ) भूमिका पर।

प्रस्तुत निबन्धसंग्रह के निबन्ध वैचारिक एवं सैद्धान्तिक श्रेणी के अधिक है। प्रेरणास्पर्शी गंभीर भाग ,सहज सरल भाषा और सुबोध प्रवाहशील शैली की दृष्टि से निबन्धों में एक ऐसा आकर्षण है, जो पाठक के जिज्ञासु हृदय को सहसा प्रबुद्ध एवं प्रमुदित कर देता है। लेखन पर व्यापक अध्ययन तथा तर्क प्रधान सूक्ष्म चिन्तन की छाप यत्र तत्र परिलक्षित होती है, बहुश्रुतता लेखन का प्राण तत्व है। किन्तु बहुश्रुत का अर्थ किताबी कीड़ा या तोता रंटत नहीं है। बहुश्रुत वह होता है जो ज्ञान के विविध स्रोतों से प्राप्त चितनरस को अपनी अनुभूति की प्राणवत्ता से परिष्कृत करता है, उसे एक नया विशिष्ट रूप देता है, जिस प्रकार मधुमक्खी विविध प्रकार के पुष्पों से रस ग्रहण कर उसे अपनी रसायनिक प्रक्रिया के द्वारा मधु का रूप देती है। प्रस्तुत निबन्धों मे इसी प्रकार बहुश्रुतता है, जो पुरातनता के साथ नूतनता लिए हुए है, और नूतन के साथ पुरातनता। पुरातनता और नूतनता का ऐसा एक अद्भुत मिश्रण है, निबन्धो मे, जो दोनों ही दृष्टि से पाठकों को काफी गहराई तक प्रभावित करता है।

निबन्ध मे यदि इधर-उधर के ग्रन्थों के सन्दर्भ ही अधिक हो तो वह पाठक को उबाने लगता है, और यदि ग्रन्थों के सन्दर्भो से सर्वथा शून्य ही हो निबन्ध, तो वह एक दम हल्के स्तर पर पहुँच जाता है, उसके शाश्वत मूल्य काफी मन्द पड़ जाते हैं। प्रस्तुत निबन्धों का लेखक दोनों आपत्तियों से बचकर चला है, फलतः वैचारिक प्रवाह अतीत में से वर्तमान में प्रवाहित होता हुआ भविष्य की ओर बढ़ता चला जाता है।

कुछ निबन्ध ऐसे हैं, जो मानव के अन्तंमन मे शाश्वत सत्य के प्रति सहज श्रद्धा जागृत करते हैं, उसमें आध्यात्मिक एवं नैतिक भावना की दीप्ति जगाते और कुछ निबन्ध ऐसे भी हैं, जो विचार-क्रान्ति के दबे स्तर को मुखर बनाते है। जीर्ण-शीर्ण सामाजिक रूढ़ियों तथा सम्प्रदायवाद के चक्र में उलझे निर्जीव धार्मिक मताग्रहों पर लेखक ने खूब कस-कस कर वे संहारक प्रहार किए हैं, कि मानव के विचार जगत में एक भूकंप का सा झटका लगने लगता है। ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ लेखक अतीत के प्रति विद्रोही बनकर खड़ा हो गया है। परन्तु यह विद्रोह केवल अतीत का संहार ही नहीं करता, संहार के साथ नया निर्माण भी करता है। लेखक जहाँ अनुपयोगी हुए पुरातन को दृढ़ता के साथ

एक ओर धकियाता है, तो कल्याणकारी नव-सृजन के हेतु विचारो की एक नई उर्वर भूमिका भी तैयार करता है।

संक्षेप में निबन्ध काफी सुन्दर हैं, आकर्षक हैं, प्रेरणा-प्रद हैं। पाठक के हृदय और मस्तिष्क दोनों के लिए ही एक खासी अच्छी विचार सामग्री उपस्थित करते हैं। व्यापक अध्ययन, सूक्ष्म चिन्तन, विचारों की गहराई, अभिव्यक्ति की सरलता आदि निबन्धों की कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं जो लेखक के प्रति सहज ही पाठक को प्रशंसा मुखर बना देते हैं।

निबन्ध संग्रह एक बृहत्काय ग्रन्थ ही हो गया है। श्रमण संस्कृति से लेकर आत्म निवेदन तक के नौ खण्डों मे ग्रन्थ विभक्त है। अन्तिम दो-तीन खण्डों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र लेखक अपनी चिन्तन-यात्रा को वैचारिकता एवं सैद्धान्तिकता के पथ पर ही आगे बढ़ाता है। कुछ निबन्धों में लेखक चिन्तन के क्षेत्र में काफी गहरा उतर गया है परन्तु अभिव्यक्ति की सहज सरलता के कारण पाठक उससे ऊबता नहीं, प्रत्युत-प्रतिपाद्य विषयों की जानकारी अपने मानसिक धरातल पर सहज भाव से अंकित करता रहता है। धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे लेखक वैचारिक उत्तेजना के साथ जो नये मूल्य स्थापित करता है। पाठक की जिज्ञासा बुद्धि उसे प्रायः स्वीकृत ही करती है तिरस्कृत नही। अतएव मैं आशा रखता हूँ, जन जीवन की समष्टिगत चेतना को सम्यक् परिबोध देने वाले ये तत्वदृष्टि परक निबन्ध जैन जगत् ही नही, अपितु प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय एवं समाज में युगानुकूल चेतना जाग्रत करने की दृष्टि से सब ओर समादृत होंगे।

मेरी चेतना में कुछ भाव निबंधकार श्री सौभाग्यमलजी जैन के सम्बन्ध में भी उभर रहे हैं। श्री जैन को मैं इधर अनेक वर्षों से बहुत अधिक निकटता से देखता आ रहा हूँ। वे बड़े ही सरल, सौम्य एवं सहृदय व्यक्ति है। सौजन्य की तो वे एक भव्य प्रतिमूर्ति ही है। वस्तु स्थिति का शीघ्र ही आकलन करने वाली सहज प्रतिभा, अध्ययनशील व्यापक विद्वता, तथा राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों को स्पर्श करने वाली कार्यकुशलता आदि उनकी कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जो उनके व्यक्तित्व की गरिमा को चार-चाँद लगा देती है। संघर्ष एवं मनोमालिन्य के पथ पर अग्रसर होती हुई जनपरिषद् में मैंने उन्हें देखा है, वे शीघ्र उत्तेजना को शान्ति, प्रेम एवं सद्भावना में बदल देते हैं, तथा क्षुब्ध जन-चेतना को एक निर्माणकारी मोड़ पर ले आते है। विराट जन-सभाओं का सुचारु रूप से संचालन करना कोई उनसे सीखे।

श्री जैन अच्छे लेखक ही नहीं, अच्छे प्रवक्ता भी हैं। उनकी प्रवचन शैली परिष्कृत, सारगर्भित एवं सुगठित है। श्रोता उन्हें काफी देर तक सुनना चाहता है, लगता है उसे कि कुछ मिल रहा है। कोई भी मंच हो, उनका नेतृत्व आत्मीयता के माधुर्य से स्निग्ध होता है, फलतः वह आक्रामक नहीं संक्रामक होता है। एक वाक्य में कहूं तो श्री जैन अनेक मानवीय गुणों के पुंजीभूत जीवित स्मारक हैं। मैं हृदय से मंगलकामना करूंगा, उनके जीवन का वसंतकाल आखिर तक सुरभित बसन्तकाल ही रहे। हर क्षेत्र में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की मोहक सुगन्ध महकती रहे, और जब भी अपेक्षित हो जन-जीवन को उनसे कुछ-न-कुछ ऐसा मिलता रहे, जो कभी भुलाया न जा सके।

जैन भवन,
लोहामंडी, आगरा
माघ पूर्णिमा, १९७४

—उपाध्याय अमरमुनि

अनुक्रमणिका

पंचम आयाम

☐ **भगवान महावीर ५६—१०६**

छठा आयाम

☐ **आचार-मीमांसा १०७—१६८**

सप्तम आयाम

☐ दर्शन और धर्म १६६—२५८

दर्शन

धर्म

अष्टम आयाम

☐ समाज और संस्कृति २५६ ३१६

नवम आयाम

—०—

प्रथम आयाम

☐ आत्म-निवेदन

(१) जीवन का लेखा-जोखा

(२) श्रद्धेय पिताजी के प्रति

सौभाग्य से दुर्भाग्य की ओर

१

जीवन का लेखा-जोखा

उर्दू साहित्य के एक प्रसिद्ध शायर ने कहा है कि :—

"मेरी जिन्दगी एक मुसलसिल सफ़र है,
जो मंजिल पे पहुंचा तो मंजिल बढ़ा दी।"

(१) वास्तव में जीवन-कला के पारखियों ने मानव-जीवन को यात्रा ही माना है। भारतीय ऋषि-मुनियो ने प्राचीन साहित्य में "जीवेम शरदः शतम्" वाक्य के द्वारा अपने जीवन मे सौ वर्ष तक शरद ऋतु के दर्शन की इच्छा प्रकट की है। इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि प्राचीन समय में भी मानव-जीवन की अवधि सौ वर्ष मानी जाती रही, किन्तु आज सौ वर्ष का जीवन प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त नहीं है। मनुष्य के जीवन में "मृत्यु" (चिरनिद्रा) बड़ी अनिश्चित वस्तु होती है। मृत्यु समय की दृष्टि से निश्चित है। जैन साहित्यकारों ने अयवंतकुमार की एक घटना का उल्लेख किया है "जिस समय अपनी बाल्यावस्था में पूर्व संस्कार तथा जैन मुनियों के जीवन-दर्शन से कुमार प्रभावित होकर सांसारिक जीवन त्याग की बात कहते हैं, माता-पिता से अनुमति प्राप्त करने के लिए निवेदन करते हैं उस समय उन्होंने यही बात कही थी कि ' मैं यह अवश्य जानता हूँ कि मृत्यु निश्चित है किन्तु कब ? यह नहीं जानता हूं इसी कारण अविलम्ब मुझे साधु-जीवन व्यतीत करने के लिए दीक्षित होना चाहिए।

(२) इसी प्रकार मैं भी नहीं जानता कि मेरी जीवन-यात्रा कब पूर्ण हो, इतना निश्चित है कि यह यात्रा एक दिन समाप्त होने वाली है। यदि हम भारतीय ऋषि-मुनियों की दीर्घ जीवन की इच्छा १०० वर्ष को आदर्श मान लें तो आज २४ फरवरी, १९६० को मैं अपने जीवन की लम्बी यात्रा में से आधा भाग समाप्त कर रहा हूँ—अर्धशताब्दि पूर्ण कर ५१वें वर्ष में प्रवेश कर रहा हूँ। मेरे जीवन की एक घटना आज मुझे स्मरण आती है। सन् १९३३ में जब मैं अखिल भारतीय श्वे० स्था० जैन कान्फेरन्स के अजमेर अधिवेशन तथा उस समय आयोजित हमारे स्थानकवासी समाज के एक ऐतिहासिक साधु-

सम्मेलन से वापिस लौटा तो मुझे भयानक रूप से "पैंचिश" का आक्रमण हुआ। उसके कारण मैं बहुत अशक्त हो गया। मैं पूर्व से ही "पैंचिश" का रोगी रहा हूं और आज भी हूँ। तब मेरे कुटुम्बीजन उज्जैन में शासकीय चिकित्सालय में औषधि उपचार के लिए ले गये तो शासकीय चिकित्सक महोदय ने अत्यन्त निराशापूर्ण उत्तर दिया और निकट भविष्य में मेरी जीवन-लीला समाप्ति की घोषणा की, मुझे भी अनुभव हो रहा था कि वास्तव में जीवन-लीला की समाप्ति निकट है, किन्तु अपने ही नगर के एक सम्माननीय Honorary सज्जन के आयुर्वेदीय उपचार के कारण प्रतिदिन स्वस्थ होता गया -- जीवन-लीला समाप्त नहीं हो सकी और आज भी जीवित हूं। मैं अनुभव करता हूँ कि उर्दू शायर की उक्त भावना के अनुरूप में मंजिल पर पहुँच रहा था किन्तु फिर मंजिल बढ़ा दी गई। अर्ध शताब्दि तक मंजिल पहुँच गई। देखिये कब तक मंजिल आगे बढ़ती रहेगी।

(३) मानव-समाज का वह वर्ग जो अपने को भद्र संस्कृति का हामी मानता है, अपने वर्ष-ग्रन्थि-दिवस पर समारोह आयोजित करता है, ख्याति प्राप्त सार्वजनिक नेता के वर्ष-ग्रन्थि दिवस पर उनके अनुयायी-प्रशसक समारोह आयोजित करके दीर्घ-जीवन की कामना करते हैं। सम्बन्धित व्यक्ति भी हर्ष मनाता है किन्तु विचार करने से ज्ञात होगा कि वास्तव में वह आयु वृद्धि नहीं, आयु हानि है, उर्दू के एक शायर ने ठीक ही कहा था कि :—

हिसाबे-उम्र का यह अजब तरीका है,
उम्र बढ़ती है मगर वाकये में घटती है।

इसी प्रकार हिन्दी के एक कवि ने कहा था—

मूरख नर समझे नहीं बरस गांठ को जाय।

इस कारण आज का दिवस मेरे हर्ष का नहीं, आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण का दिवस है। आज मैं "अनशन" करके आत्मचिन्तन कर रहा हूँ। मनुष्य-जीवन में स्वास्थ्य का महत्वपूर्ण भाग है। स्वस्थ मनुष्य पूर्ण रूप से प्रत्येक प्रकार के कार्य करके सफलता सम्पादित कर सकता है। दुर्भाग्य से मेरे जीवन में "स्वास्थ्य" की खामी रही, वर्षों के अनियमित जीवन ने आज से वर्षों पूर्व ही स्वास्थ्य को खराब कर डाला। अक्टूबर सन् १९५६ में विश्वधर्म-सम्मेलन में सम्मिलित होकर जब मैं अस्वस्थ होकर मृत्यु से संघर्ष करता हुआ जापान से वापस आया तब मेरे तत्कालीन ग्वालियर स्थित शासकीय निवास पर कई सज्जन मेरे स्वास्थ्य के प्रति चिन्ता व्यक्त करते। एक कवि-हृदय ने मेरी "मिजाज पुरसी" की। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि महाशय, मेरे अभी तक के

जीवन का चित्र कवि की केवल एक उक्ति में है, उसने सम्भवत: मेरे जैसे रोगी की दशा देखकर ही उक्त पंक्ति कही थी—

"निकली गई अलामते पीरी अया हुई,
हम ताकते ही रह गये अहदे शबाब को।"

अर्थ—लड़कपन गया और मुझमें वृद्धता के चिन्ह प्रकट होने लग गये। मैं यौवन अवस्था की प्रतीक्षा ही करता रहा।

मेरे विदेश प्रवास के समय भयानक रोग ने मुझे भविष्य के प्रति सचेत कर दिया। मैं विदेश से दिनांक १८-१०-५६ को वापस आया और लगभग १५ दिवस रोग शैया पर रहा। पाठकों को स्मरण होगा कि दिनांक ३१-१०-५६ को मध्य भारत राज्य समाप्त होकर नवीन मध्य प्रदेश का दिनांक १-११-५६ को निर्माण हो गया, फलस्वरूप मध्य भारत के मंत्रीगण ने अपना त्याग-पत्र दे दिया। मैं भी दिनांक ४-११-५६ को अपने Home Town आ गया तब से लगभग नियमित जीवन, आंशिक रूप से निवृत्त जीवन जैसा व्यतीत कर रहा रहा हूँ। नियमित जीवन व्यतीत करने की आदत ने मेरी जिन्दगी की मंजिल को फिर बढ़ा दिया है।

(४) प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या मानव-जीवन की मंजिल, उसका लक्ष्य केवल "मृत्यु" है? वास्तव में ऐसा नहीं है, किन्तु आखिर मानव-जीवन के अन्त में केवल एक बार मनुष्य को यही अलभ्य अथवा दुर्लभ्य वस्तु प्राप्त होती है। अलभ्य अथवा दुर्लभ्य इसलिए कहता हूँ कि कोई दुखी मनुष्य मानसिक अथवा शारीरिक रूप से यदि चाहे कि मुझे दुख से पिण्ड छुड़ाने हेतु मृत्यु-वरण करले, मुझे अपनी चिर शान्ति की निद्रा में ले ले किन्तु हम देखते हैं कि कई समय उस दुखी मनुष्य को वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कह नहीं सकते कि मानव-जीवन में मृत्यु की लालसा क्या इसलिए है कि मानव को नव-जीवन प्राप्त हो। भारतवर्ष के ही नहीं संसार के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भगवद्गीता"में भगवान श्रीकृष्ण ने मनुष्य जीवन में मृत्यु को पुराने वस्त्र त्याग करने की और नव-वस्त्र परिधान करने की उपमा दी है, आत्मा को अमर कहा है :—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

इसी प्रकार फारसी के प्रसिद्ध विद्वान "मौलाना रूमी" ने मानव जीवन के सम्बन्ध में कहा था कि—

"हफ्त सद् हफ्तार कालिब दीदा अम्
हमचूं संब्जा बारहा सेइदा अम् ।"

मैंने ७७७ बार मनुष्य जीवन प्राप्त किया और वनस्पति के मानिन्द उत्पन्न हुआ और मानव जीवन समाप्त कर दिया। इस प्रकार अनुमान होता है कि मानव नव-जीवन प्राप्ति हेतु "पुनर्जन्म" के लिए ही इसे एक मंजिल के रूप में ग्रहण करता है, आखिर मानव "नवीनता" का प्रेमी तो है ही।

(५) मेरे कुटुम्ब में मेरे पूज्य पिता का प्रथम पुत्र होने के कारण मेरा लालन-पालन अत्यन्त लाड़-प्यार से किया गया। भारतीय विचारकों के अनुसार यदि लालन-पालन किया जाता तो सम्भवतः मैं अधिक व्यवहारिक अनुभव प्राप्त व्यक्ति होता। अत्यन्त लाड़ प्यार मुझे तो वरदान ही हुआ किन्तु उसके कारण मुझमें कुछ कमियाँ भी रह गई। भारतीय विचारकों ने तो कहा था कि—

लालयेत् पंचवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्ते तु षोडषे वर्षे, पुत्रं मित्रवदाचरेत् ॥

किन्तु मेरा लाड़ मेरे प्रपिताह के जीवन-काल तक उनके द्वारा होता रहा और उनके पश्चात् मेरी माता द्वारा, उनके भी स्वर्गवास के पश्चात् मेरे पिता द्वारा होता रहा—यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आज भी लाड़-प्यार हो रहा है। इस प्रकार की जिन्दगी से जहाँ मेरे जीवन में सुसंस्कृतता आई वहाँ व्यावहारिक अनुभव की कमी भी रही। फारसी के एक विद्वान ने अपनी संसार प्रसिद्ध पुस्तक में एक स्थान पर अपनी आत्माभिव्यक्ति करते हुए कहा था कि—

"चहल साल उम्रे अजीजत गुजिश्त
मिजाजे तो अज साल तिफलीन गश्त ।"

उक्त विद्वान कवि ने ४० वर्ष की अवस्था तक बचपन न जाने की बात कही थी। मेरे लिए यह कहना कठिन है कि मेरा बचपन ४० वर्ष की अवस्था तक जा चुका था या नहीं? मेरा ख्याल यह है कि "बचपन" की चुहलबाजी बहुतपूर्व समाप्त हो चुकी थी और समय से पूर्व ही प्रौढ़ता अनुभव कर रहा था किन्तु बचपन के साथ जो अनुभव-शून्यता रहती है वह आज भी कायम है। देखिये जीवन के उत्तरार्द्ध में अनुभवप्राप्ति का कोई अवसर प्राप्त होता है या नहीं।

(६) इस अनुभव-शून्यता का मुझे मेरे जीवन में एक लाभ भी हुआ है, वह यह कि इसके कारण जीवन का आधा भाग पूर्ण हो जाने पर भी मुझ पर

कौटुम्बि उत्तरदायित्व का भार सुपुर्द नहीं किया गया। मैं आज ५१ वर्ष का होने पर भी कुटुम्ब में अपने पूज्य पिताजी की संरक्षकता में रहता रहा हूँ। उनकी आयु लगभग ७७ वर्ष की होते हुए भी अपने प्राकृतिक तथा नियमित जीवन के कारण अत्यन्त Hard Work करते हैं, अपेक्षाकृत स्वस्थ भी हैं। मेरी कामना है कि उनकी संरक्षकता मुझे आजीवन उपलब्ध रहे। कौटुम्बिक उत्तरदायित्व के भार के पश्चात् के जीवन की मैं कल्पना करके ही सिहर उठता हूँ। इस संरक्षकता के साथ-साथ मुझे अभी तक मेरे लघु भ्राता केशरीमल का असीम स्नेह प्राप्त रहा। पूज्य पिताजी के उत्तरदायित्व वहन करने मे चि० केशरीमल अत्यन्त सहायक हैं। पारिवारिक फर्म "सितापचन्द पन्नालाल" (लगभग ४ पीढ़ी पूर्व के नाम के पिता-पुत्र का नाम) के कार्यों में, घरेलू कार्यों में, रिश्तेदारी सम्बन्धी उत्तरदायित्व निभाने में सब प्रकार के कार्यों में चि० केशरीमल अनुपम सहायक सिद्ध हुए। भवन निर्माण के कार्यों में प्रवीण हैं। मैं उसे House Hold 1anager कहा करता हूं। मेरी पत्नी श्रीमती श्रेयकंवर का स्वर्गवास दिनाक २-८-१९४६ को हो चुका था। वह अल्प आयु में ही स्वर्गस्थ हो गई। उसने अपने अल्प जीवन में मुझे अत्यधिक सन्तोष प्रदान किया। सन् १९४२ के "भारत छोड़ो" आन्दोलन में कुछ भाग लेने के पश्चात् जब मैं बीमार हो गया तो जुलूस का संगठन उसने किया। अपनी सहेलियों को साथ में ले जाती। हमारे सन् १९२५-१९४६ : २२ वर्षीय दाम्पत्य-जीवन में कभी ऐसा प्रसंग स्मरण नही आता कि जब मुझे मेरे कर्तव्य-पालन में मेरी पत्नी बाधक हुई हो, सदैव सहायक रही। अत्यधिक कार्य-व्यस्तता, प्रवास के कारण, सान्निध्य (निकटता) होनी चाहिए थी, वह सम्भव नहीं थी किन्तु उन्होंने इसकी कभी शिकायत नहीं की अपितु कर्तव्य-रत रहने के लिए प्रोत्साहित ही किया, मेरी पत्नी के स्वर्गवास के पश्चात् मेरे बच्चों का लालन-पालन उसी भाँति चि० केशरीमल की पत्नी ने ही किया। आज बीती स्मृतियाँ करते समय मैं यह अनुभव करता हूँ कि यदि मुझे इस प्रकार की कौटुम्बिक निश्चिन्तता प्राप्त नहीं हुई होती तो सम्भवत: मुझे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने का अवसर प्राप्त नही हो सकता था। निश्चित रूप से इस प्रकार का अबाधित अवसर प्राप्ति का श्रेय इस कौटुम्बिक निश्चिन्तता को ही है।

(७) उपरोक्त प्रकार के लालन-पालन के कारण जीवन में एक कमी और रह गई वह यह कि मेरी शिक्षा आधुनिक रूप से अथवा सुव्यवस्थित रूप से नहीं हो पाई। मेरा जन्म एक सुसम्पन्न धनी परिवार में हुआ था जिसमें शिक्षा के प्रति अधिक रुचि नहीं थी और न वातावरण ही, आवश्यकता भी अनुभव नहीं की जाती थी। पाठक जानते हैं कि अधिकतर श्रेष्ठ परिवार में बालकों

को अपनी सम्पन्नता के अभिमान के कारण शिक्षित करना अथवा आधुनिक ढंग से ग्रेज्युएट, पोस्ट ग्रेज्युएट, अथवा टेकनिकल शिक्षा की आवश्यकता नहीं मानी जाती थी, उन्हें क्या पता था कि कुछ वर्षों के पश्चात् स्वतन्त्रता के कारण समाज के ढांचे में ऐसा राजनैतिक परिवर्तन आयेगा कि जब सम्पत्ति की उपयोगिता कुछ न रह जायेगी। किसी व्यक्ति का जीवन-यापन केवल सम्पत्ति के आधार पर नहीं हो सकेगा। समाज में सम्पत्ति की उपयोगिता कम हो जायेगी Social values कम हो जावेगी। खैर, किन्तु मुझे पठन-पाठन का इतना शौक था कि लाड़-प्यार के कारण जहाँ पितामह ने शिक्षा समाप्ति के पश्चात् मुझे अन्यत्र भावी शिक्षा के हेतु भेजने से इन्कार किया तब भी मैंने खानगीरूप से अपना मैट्रिक्यूलेशन की परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए अभ्यास प्रारम्भ रखा, मैं इस दिशा में एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति हूँ। मेरी इच्छा थी कि मैं भारतीय तथा विदेशी भाषाओं का अध्ययन करूँ, फलस्वरूप मैंने खानगीरूप से ही हिन्दी, अंग्रेजी, फारसी, गुजराती, उर्दू, मराठी, संस्कृत, प्राकृत का अध्ययन जारी रखा। जब मैंने सन् १९३० में वकालत परीक्षा पास करके कानूनी जगत में प्रवेश किया तो मुझे इस बात की आवश्यकता महसूस होने लगी कि मैं कानून के आधुनिकतम ज्ञान के साथ धारा शास्त्री के रूप में कार्य करूँ, इस कारण कानून (ग्वालियर राज्य के तत्कालीन कानून) के साथ-साथ कोष की सहायता से आंग्ल भारतीय राज्य-नियमों का अध्ययन किया, परिणाम यह हुआ कि मुझे अधिकतर व्यक्ति लाग्रेज्युएट ही मानते रहे। मुझे अपने जीवन मे डिग्री का अभाव केवल एक समय ही अखरा जब कि इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण सज्जन ने प्रश्न किया। इसके पूर्व कभी इसके अभाव की बात अनुभव ही नहीं की। वैसे मैं अपने को ऐसा मानता हूँ कि विभिन्न भाषाओं में मेरा काम चल जाता है किन्तु उक्त सभी भाषाओं का "अधिकारी" नहीं कहा जा सकता अंग्रेजी में कहावत है कि "Jack of all master of none। मैं दैनिक समाचार पत्र प्रत्येक दो मास एक भाषा के मँगाता था। उसके पश्चात् दो मास दूसरी भाषा के मँगाता था जिससे मेरा सभी भाषाओं के साथ जीवित सम्पर्क रहता रहा।

(८) जैसा ऊपर कहा है कि धनी परिवार मे शिक्षा की आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती थी और न वातावरण ही था, इसी प्रकार कुटुम्ब में कोई निजी पुस्तकालय अथवा पुस्तकों का संग्रह न था—मेरी पूज्य माता के पास "जैन धर्म" से सम्बन्धित २-३ पुस्तकें थी जो उन्होंने मेरी अध्ययनप्रियता के कारण प्रदान कर दीं। उक्त पुस्तकों के कारण मन में एक भाव जागृत हुआ कि मैं क्यों न अपना निजी पुस्तकालय जैसा स्थापित करूँ। General know-

ledge के शौक ने मुझे विवश किया कि मैं सुविधानुसार विभिन्न भाषाओं की पुस्तकें मँगाऊँ और पढ़ूँ। वैसे पुराने युग में हमारे देश में पढ़ने के स्थान पर सुनने की प्रवृत्ति अधिक रही, इसी कारण प्राचीन साहित्य में विद्वान व्यक्ति को "बहुश्रुत" Well Heard कहा जाता था। किन्तु उक्त परम्परा समाप्त हो रही थी इसीकारण मैंने विभिन्न भाषा तथा विषयों से युक्त एक निजी पुस्तकालय स्थापित करना प्रारम्भ किया—आज उक्त पुस्तकालय संक्षिप्त रूप से ही सही, धीमे-धीमे ही सही तरक्की कर रहा है। मेरे जीवन में एक लालसा रही है कि मैं "बंगला" का अध्ययन भी करूँ—इस कारण मैंने अपने विभाग (वित्त) के तत्कालीन सचिव श्री बी० के० चटर्जी से बंगला की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्ति हेतु पुस्तकें मँगाई, प्रयत्न भी प्रारम्भ किया किन्तु समयाभाव के कारण सफल नहीं हो सका। मैं चाहता हूँ कि जीवन के उत्तरार्द्ध में इस इच्छा की पूर्ति करूँ। "बंगला" साहित्य अत्यन्त महान तथा हिन्दी जगत के लिए अनुकरणीय है।

(९) इस General knowledge का चाव मुझे जीवन में नहीं होता तो मैं अनुभव करता हूँ कि मैं कही का न रहता। यह मेरी पूँजी रही। इसी ने मेरे अज्ञान के ऊपर पर्दा डाला, संस्कृत साहित्य के एक अनूठे ग्रंथ "भर्तृहरि-शतक" में "मौन" को अज्ञान का आच्छादन कहा है—

स्वायत्तमेकांतगुणं विधाता,विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे, विभूषणं मौनमपंडितानाम्॥

मेरे लिए वही आच्छादन रहा। वैसे मुझे हिन्दी तथा उर्दू साहित्य से अधिक स्नेह रहा। अपने इस चाव से मैंने हिन्दी तथा उर्दू साहित्य की आराधना की, साहित्य-प्रेमी रहा। इच्छा यही रही कि मैं भी साहित्य सर्जन करूँ किन्तु समय के अभाव ने इस इच्छा की पूर्ति नहीं होने दी। केवल कभी-कभी लेख-कहानी लिखता रहा किन्तु भावी जीवन में सम्भवतः इस इच्छा की पूर्ति कर सकूँ ऐसी आशा की जाना अनुपयुक्त न होगा।

(१०) मैंने जीवन के कार्यक्षेत्र में एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में प्रवेश किया। सन् १९३० में शुजालपुर में मालवा प्रान्तीय पोरवाल महासभा का सम्मेलन बुलाकर सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध प्रस्ताव किये। उसके साथ ही अखिल भारतीय पोरवाल महासभा के लिए वातावरण तैयार किया किन्तु उक्त प्रान्तीय महासभा किसी कारण से अपना प्रथम अधिवेशन करके ही समाप्त हो गई, वैसे मेरे जीवन में भी जातीय संस्था के नाम पर कार्य का यह प्रथम तथा अन्तिम अवसर रहा। आजीवन मुझे जातीय संस्था के कार्य करने की रुचि भी

समाप्त हो गई, न केवल इतना ही प्रत्युत जाति में भी कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। मेरा सम्बन्ध तो सामाजिक कार्यकर्ता, राजनीतिक कार्यकर्ता तक विस्तृत हो गया जिसमे जाति का कोई लगाव न था। किन्तु इस प्रारम्भिक कार्य ने जीवन में सामाजिक कार्य करने की प्रेरणा प्रदान की, जैन समाज में अपना कार्यक्षेत्र बनाकर समय-समय पर रूढ़ि तथा कुरीतियों को समाप्त करने का कार्य किया। मैं आज भी अनुभव करता हूँ कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व जितनी आवश्यकता सामाजिक कार्य Social reform की थी उतनी ही, बल्कि उससे अधिक आवश्यकता आज समाज सुधार की दिशा में कार्य करने की है, कारण स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् राजनीति की तरफ प्रत्येक व्यक्ति का लगाव हो गया है, उसमें प्रलोभन है— इसी का कारण है कि आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे राजनीति व्याप्त है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व प्रलोभन के अभाव के कारण प्रत्येक व्यक्ति राजनीति की ओर नहीं दौड़ता था। जो व्यक्ति थोड़े से राजनीति मे जाते थे वह जोखिम उठाकर जाते थे। इस कारण सामाजिक कार्यकर्ताओं की कमी है। इस दिशा में केवल सेवा ही सेवा है, पदों का मोह नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि राजनीति के साथ-साथ मेरा सामाजिक सुधार के कार्य से सम्बन्ध रहा है। मन्त्री पद की मुक्ति के साथ ही मैंने पुनः सामाजिक सुधार के कार्य में अधिक रस लेना प्रारम्भ किया है। आशा करता हूँ कि जब तक मै सार्वजनिक जीवन मे रहूँगा सामाजिक सुधार का कार्य भी करूँगा। वर्षों पूर्व सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन की आवश्यकता थी, आज भी है, कई क्षेत्रों में आज भी पदो, अत्यधिक व्यय आदि के रिवाज मौजूद हैं जिससे जन समाज त्रस्त है और स्वयंकृत आपत्तियों में फसता है।

(११) मेरे कार्यक्षेत्र मे प्रवेश करते ही सामाजिक कार्य के साथ-साथ राष्ट्रीय मनोवृत्ति के कारण मुझे राजनीतिक खिंचाव प्रारम्भ हो गया।

सन् १९ ० से ही अखिल भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के कार्यों मे भाग लेना आरम्भ किया। देश में विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए नव-जागरण का संचार हो रहा था। सन् १९२९ को ३१ दिसम्बर की रात्रि तक के अल्टीमेटम ने देश मे जान फूंक दी थी। इस पृष्ठभूमि में कोई युवक कांग्रेस के राष्ट्रीय हलचलों से दूर रह सके यह सम्भव नही था; इस कारण समय के साथ-साथ राष्ट्रीय प्रवत्तियों में अधिकाधिक रस लेने लगा। प्रजातन्त्र की प्रथम सीढ़ी के रूप में स्वायत्त शासन का अनुभव आवश्यक माना जाता है। सन् १९३३ में ही स्थानीय नगरपालिका का सदस्य चुन लिया गया। इस बीच मैंने देश की एकमात्र राजनीतिक संस्था कॉंग्रेस के विभिन्न पदों पर कार्य किया। स्वतन्त्रता आन्दोलन मे भाग लिया—सन् १९३८ में तहसीलबोर्ड तथा जिला बोर्ड

एवं औकाफ कमेटी का सदस्य चुन लिया गया। स्थानीय नगर-पालिका का १९३३ से १९४९ तक सदस्य रहा। इसके पश्चात् सभापति नियोजित किया गया—समयाभाव के कारण १९५१ में त्यागपत्र दिया। सन् १९४५ से ही तत्कालीन ग्वालियर राज्य की "राज्यसभा" का सदस्य चुन लिया गया। तब से ही संसदीय जीवन का—प्रारम्भ हो गया। सन् १९४८ में भारत का निर्माण हो गया। उसकी अन्तरिम धारासभा का सदस्य नियोजित किया गया और तत् पश्चात् उसका कार्यवाहक अध्यक्ष नियोजित किया गया। सन् १९५२ में "आगर" निर्वाचन क्षेत्र से आम चुनाव में निर्वाचित हो गया। संसदीय जीवन स्थगन सन् १९५७ में उस समय हुआ जब कि कई कारणों से मैंने आवश्यक समझा कि मैं कुछ समय के लिए संसदीय जीवन से अवकाश प्राप्त करूँ। इस १२ वर्षीय संसदीय जीवन में मध्यभारत राज्य द्वारा नियुक्त कई महत्वपूर्ण समिति, (जमींदारी समाप्ति समिति, मद्य निषेध समिति, जिला पुनर्गठन समिति) के अध्यक्ष तथा सदस्य के रूप में कार्य किया। विधान सभा के सदस्य के नाते विभिन्न विभागों द्वारा नियुक्त समिति तथा विधानसभा द्वारा नियुक्त प्रवर समितियों में कार्य किया। इस प्रकार नवनिर्मित मध्यभारत राज्य के विधान सभा के कार्यवाहक अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, वित्तमन्त्री तथा राजस्व एवं स्वायत्त शासन मंत्री के रूप में कार्य किया। मैं प्राप्त अनुभव के आधार पर इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि राजनीतिक जीवन में लोक-प्रियता की पूर्व में इतनी अधिक आवश्यकता नहीं थी जितनी आज है, वास्तव में आज लोकप्रियता की अधिक आवश्यकता है। जनसाधारण सदैव विशेषकर आम चुनाव में सैद्धान्तिक पक्षापक्ष के बजाय व्यक्तिगत लाभ-अलाभ की बात अधिक सोचता है, इस कारण लोकप्रियता अपने मान्य सिद्धान्तों से च्युत होने पर ही मिल सकती है।

यदि किसी व्यक्ति अथवा Ruling Party से सम्बन्धित किसी व्यक्ति का वैध अथवा अवैध कार्य आपने नहीं किया तो आज की परिभाषा में आप "अलोकप्रिय" हो जावेंगे। इस कारण विचारशील व्यक्ति को यह विचार करने को विवश होना पड़ेगा कि वह लोकप्रिय है या नहीं? एक बार राष्ट्रपिता पूज्य गांधीजी ने कहा था कि—

All compromise is based on give and take but there can be no give and take in fundamental. Any compromise on fundamental is surender because it is all give and no take.

(१२) मेरे जीवन के प्रारम्भ से ही धार्मिकता के प्रति स्नेह, रुचि रही

है। निश्चय रूप से धार्मिकता उदार वस्तु है। जो व्यक्ति धार्मिकता को साम्प्रदायिकता के समकक्ष मानते हैं वे त्रुटि पर हैं। साम्प्रदायिकता संकुचित, अनुदार वस्तु है। परम्परागत संस्कार के कारण मेरे जीवन पर जैनधर्म की छाप अधिक है। पाठक जानते हैं कि जैनधर्म में कई शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं, मेरे मत में जैनधर्म की शाखा-प्रशाखाओं में आंशिक सत्य है। एक दिन ऐसा आयेगा कि जब भगवान महावीर द्वारा उपदेशित अनेकांत व कर्म सिद्धान्त का जैन समाज अपने आंतरिक मतभेदों को समाप्त करने में उपयोग करेगा। मेरी अपनी तो यह मान्यता है कि ससार के प्रत्येक धर्म में आंशिक सत्यता है जब तक धर्मों के मूल सिद्धान्तों का समन्वय न हो जाए तब तक वह आंशिक सत्य के रूप में विद्यमान रहेंगे। एक आचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा था कि पृथक्-पृथक् धर्म पाखण्ड है, इसका तात्पर्य यह है कि धर्मों का समन्वय होने पर ही "धर्म" संज्ञा सार्थक होगी। भगवान महावीर के कार्यकाल में "सूत्रकृतांग" के अनुसार ३६३ वाद इस देश में प्रचलित थे। प्रत्येक वाद अपने को सत्य कहता है और विश्व मे किसी एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता था। भगवान महावीर की ही यह शक्ति थी कि उन्होंने उक्त वादों का समन्वय किया। मेरी आतरिक इच्छा है कि जैन धर्म की सेवा करने साथ विश्व मे ऐसा वातावरण निर्माण करने में सहायक होऊ कि विश्व मे समस्त धर्मों मे कोई विरोध न हो। ससार के समस्त धर्म एक दूसरे के पूरक हों इसी कारण मैंने भारतवर्ष मे आयोजित सर्व धर्म सम्मेलन मे कार्य किया तथा जापान मे विश्वधर्म सम्मेलन मे भाग लिया। काश, मैं इस इच्छा को जीवन में पूरी कर सकूं।

(१३) प्रश्न यह है कि इस प्रकार के सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित व्यक्ति क्या यह कह सकता है कि उकी वाणी, शरीर और कर्म में साम्यता है? जब मैं आत्म-निरीक्षण करता हूँ तो इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि जीवन में इस साम्यता की कमी है, पूर्णरूप से न सही तो आंशिक रूप से ही सही। यही मेरी आत्म-ग्लानि का काला पृष्ठ मेरी आत्मा के सन्मुख न हो तो बड़ी भयानक तथा स्वयं को धोखा देने वाली वस्तु होगी। एक विद्वान ने संस्कृत में कहा था कि—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

इसी प्रकार एक उर्दू शायर ने कहा था कि—

इल्मी तरक्की से जबां तो चमक गई,
मगर अमल से फरेबी दगा साथ है।

मैं नहीं कह सकता कि भाषा में कोई विशेष संस्कारिता आई या नहीं? और अमल मे फरेब, दगा है या नही? किन्तु इतना निश्चित है कि अमल वैसा

नहीं जैसा कौल है ? संक्षिप्त में कौल और फैल में साम्यता आवश्यक है। काश ! में जीवन के उत्तरार्द्ध में पूरी कर सका तो अहोभागी होऊंगा।

(१४) एक बार महात्मा गांधी ने कहा था कि—

"जीवन सारी कलाओं से महत्तर है। मैं तो यहां तक कहूंगा जिस व्यक्ति का जीवन पूर्णता के निकट है वही महानतम कलाकार है—गौरवपूर्ण जीवन के चित्रण और संस्थापन के अतिरिक्त कला किस काम की ?"

—महात्मागांधी

इस प्रकार जो व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण करता है वही कलाकार है। दुर्भाग्य से मैं कलाकार के गुणों से अभी तक कई दृष्टियों से वंचित हूँ। इसी प्रकार महात्मा गाँधी ने तीन बन्दरों की कल्पना भी की जिनके कान, आंख, और मुंह बन्द थे। वह मानव समाज को शिक्षा देते हैं कि बुरा मत सुनो, बुरा मत देखो और बुरा मत कहो— इसी बात को मिर्जा गालिब ने उर्दू में कहा था कि—

न सुनो गर बुरा कहे कोई, न कहो गर बुरा करे कोई,
रोक लो गर गलत चले कोई, बख्श दो गर खता करे कोई।

काश, मैं जीवन मे इस आदर्श को उतार सकू।

(१५) मैं अनुभव करता हूं कि यदि मैं जीवन में उक्त आदर्शों को उतार सका या न उतार सका फिर भी कुछ वर्षों के पश्चात् परिणाम तो सामने हैं। क्षणभंगुर शरीर नाशवान होकर आत्मा को शुभाशुभ कर्मों के फल भुगतने के लिए तैयार होना पड़ेगा। यदि मैं उक्त आदर्श जीवन में उतार सका तो आत्म-शान्ति का अनुभव होगा अन्यथा एक असफल जीवन के साथ शरीर त्याग होगा।

कहा मनुज ने धूल से तेरा जीवन दीन,
पैरों के नीचे सदा रहती पड़ी मलीन
कहा धूल ने बन्धुवर ! नहीं घृणा का काम,
क्या न तुम्हारी काया का यह अन्तिम परिणाम ?॥

●

२

श्रद्धेय पिता श्री के प्रति

सौभाग्य से दुर्भाग्य की ओर

बात सन् १९२५ की है, जब मेरा पाणिग्रहण संस्कार स्वर्गीय श्रीमती श्रेयकुवर के साथ हुआ। मैं तथा मेरी पत्नी अपने को सौभाग्यशाली अनुभव करते थे, मेरे माता-पिता तथा मेरी पत्नी के माता-पिता का वरदहस्त हम पर था। भारतीय लौकिक नियमों के अनुसार ऐसे युगल को सौभाग्यशाली माना जाता है जिसके माता-पिता जीवित हों। मेरे पाणिग्रहण से २-३ वर्ष पश्चात् स्थानीय वैश्य समाज के एक कुटुम्ब में वैवाहिक समारोह था। उनको ऐसे युगल दम्पती की आवश्यकता थी जिसके माता-पिता जीवित हों सम्भवतः वैवाहिक समारोह की कोई रस्म ऐसे युगल के द्वारा सम्पन्न कराई जाती है। इस समय मुझे तथा मेरी पत्नी को अपनी सौभाग्यशीलता का गर्व हुआ। हमने उक्त रस्म अदा की। समय बीतता जा रहा था और हमारा वैवाहिक जीवन सात्विक तथा धार्मिक नियमों से अनुप्राणित होता हुआ गृहस्थी की गाड़ी खीच रहा था। सन् १९३४ ईसवीं मे पर्याप्त लम्बी बीमारी के पश्चात् मेरी माता का स्वर्गवास हो गया। उसके पश्चात् पत्नी के पिता ने भी हमसे विदा ले ली। सन् १९६४ ईसवी १५ मार्च (लगभग ३० वर्ष तक जिस महान आत्मा ने मुझे माता जैसा स्नेह दान दिया उस महान् आत्मा) मेरे पिता सेठ श्री बाबूलाल जी ने भी दिनाक १५-३-६४ ईस्वी को अत्यन्त शान्ति के साथ इस नश्वर शरीर को त्याग दिया। मैंने अनुभव किया कि मेरा सौभाग्य दुर्भाग्य की ओर जा रहा है। वास्तव में जिस शान के साथ उन्होंने अपना दीर्घ जीवन ८३ वर्ष बताया उसी शान के साथ उन्होंने मृत्यु का वरण किया। केवल २०-२२ घंटे की रुग्णता में कोई अशांति नही बताई, "उफ" तक नहीं किया। किसी से कोई सेवा नही ली और समाधिमरण प्राप्त किया। मेरा तृतीय स्तम्भ भी हमको शोक-विह्वल छोड़कर चला गया।

एक ऐसे पुत्र के लिये जिसने अपनी अर्धशताब्दी के जीवन में सभी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं किया, कौटुम्बिक जिम्मेदारी से सदैव मुकरता रहा, जिम्मेदारियों के पहाड़ का अनुभव करना आश्चर्य की बात नहीं है।

समय व्यतीत होता जा रहा है। आज लगभग एक मास हो गया किन्तु शोक की काली घटा मन-मस्तिष्क पर अपना प्रभाव जमाये हुए है। यह सत्य है कि काल बड़े से बड़े जख्म को भर देता है। हमारे तथा हमारे परिवार के जख्म भी भरेंगे किन्तु कभी मैं भविष्य के सम्बन्ध में विचार करता हूँ तो मुझे पिताजी का अभाव आजीवन खटकता रहेगा। इसमें सन्देह नहीं कि उनके अभाव की पूर्ति असम्भव है। न केवल हमारे कौटुम्बिक जीवन में अपितु सामाजिक कार्यों में भी वह जो महत्वपूर्ण भाग अदा करते थे वह अनुकरणीय है। उनकी कर्तव्यपरायणता के कारण जहाँ कुटुम्ब निःशंकित था वहीं समाज भी निःशंकित था। वह स्थानीय संघ के अध्यक्ष थे। काफी वृद्ध होते हुए भी उन्होंने युवकोचित उत्साह के साथ संघ की सेवा की। वृद्ध होने के कारण यह आशंका अनुचित नही कही जा सकती कि वह प्राचीनतावादी रूढ़िग्रस्त होंगे किन्तु यह मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि वेषभूषा में प्राचीनता होते हुए भी विचारो मे वे काफी से अधिक समन्वयवादी थे। मेरे सार्वजनिक जीवन में उन्होंने कभी बाधा नहीं की। चाहे हरिजनोद्धार का प्रश्न हो, चाहे छुआछूत का प्रश्न हो, उन्होंने प्रगतिशील विचारों का समर्थन किया। राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन के कार्यों मे कोई व्यवधान नहीं किया। जैन समाजान्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों से समन्वय की भावना उनके हृदय में विकसित होती रहती थी। यही कारण है कि उन्होंने अपने कुटुम्ब में जैन समाज की विभिन्न सम्प्रदायों, विभिन्न मान्यताओं वाले कुटुम्ब की कन्याएं स्वीकार की। पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि उन्होंने जैन समाजान्तर्गत विभिन्न जातियों में परस्पर वैवाहिक समन्वय को सदैव उचित माना। इस प्रकार हमारा कुटुम्ब "जैन धर्म" का एक समन्वयवाद का प्रतीक कुटुम्ब हो सका। मेरे पिताजी अपने वैयक्तिक जीवन में सादगी पसन्द करते थे। उनका अपना वैयक्तिक व्यय अल्प था। जिसके पास जितनी अधिक इच्छाएं होती है उतना वह ही अधिक दुखी रहता है। जो व्यक्ति कम ले और अधिक दे उसका जीवन सुखी तथा अनुकरणीय कहा जा सकता है। यही कारण है कि उनका अन्त अत्यन्त शांति के साथ हुआ। मुखमण्डल पर जो प्रसन्नता थी उससे ऐसा अनुमान होता है कि वह स्वतः अपने मनमें उर्दू के एक कवि के कथनानुसार निम्न भाव गुनगुना रहे हों :—

लाई हयात आ गए, कज़ा ले चली चले।
न अपनी खुशी से आए, न अपनी खुशी से गए।

ऐसे सादगी पसन्द, कर्तव्यपरायण, अनेक गुणों से अलंकृत पिता के वियोग पर मैं, मेरा लघु भ्राता तथा सारा कुटुम्ब शोकमग्न है। इसमें सन्देह नही कि उन्हों ने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र से भरा पूरा परिवार छोड़ा है। काश, हम सब उनके चरण-चिन्हों पर चलने की क्षमता धारण करके योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हो सकें।

द्वितीय आयाम

१

विजय-दिवस

आज विजय-दिवस है
वही विजय-दिवस,
जब सहस्रों वर्ष पूर्व,
विश्व के कोने कोने में
मची थी त्राहि त्राहि
दुखित थी जनता
अनर्थ से, अत्याचार से,
ग्रसित थी सृष्टि
पाप से, व्यभिचार से,
त्रसित थी पृथ्वी
दानवी अत्याचार से
काँप रहे थे
ऋषि, मुनि,
भय से, सन्ताप से
अवतरित हुई तभी
मानवता,
स्थापित करने विश्व में
साम्राज्य शान्ति का
चकित था विश्व
विजय पर मानवता की
गर्वित था हार पर
पशुता की दानवता की

चहुँ ओर आज विश्व मे
अधर्म शक्तिमान है,
विनाश है, प्रपंच है,
दानवता विद्यमान है,
निर्दोष रक्त बह रहा है
धर्म के स्वनाम पर
विध्वंस हो रहा जगत
"राम" ही के नाम पर ।

नग्न है श्रमिक यदि
तो धूप कृषक सह रहा है
क्षुधित देश आज कब से
भूख कितनी सह रहा है,
त्रसित आज विश्व है,
आज पुन. दानव से,
रावण राम असुरों से
मायावी दानवों से

आज का मानव
वासनाओं के अधीन
मन के वशीभूत
मना रहा है दशहरा
भूलकर राम को
धर्म को, भगवान को
जब कि लड़ना है उसे
फिर से असुरों से
रावण के अनुचरो मे
किन्तु यह होगा
उसी समय सम्भव
जब बनेगा मानव
फिर से
राम
धर्म के धनुष से
शौर्य के बाण से
शक्ति के चक्र से
हरेगा मानव फिर से
विश्व के सन्ताप को
मानव "राम" बनकर
विनष्ट करेगा दानवता को
करेगा स्थापित
फिर से एक दिन
साम्राज्य विश्व मे
धर्म का, शान्ति का।

तृतीय आयाम

☐ सामाजिक व्यंग्य

(१) पुलिस कान्स्टेबल
(२) सरकारी मुलाजिम
(३) होली के छींटे
(४) एक उपेक्षित देव

१

पुलिस कान्स्टेबल

सावधान ! मैं पुलिस कान्स्टेबल हूं । एक साधारण सरकारी कर्मचारी, परन्तु किसी बड़े कर्मचारी का जो रोब व दबदबा हो सकता है मेरा उससे कई गुना अधिक है । क्योंकि मैं पुलिस कान्स्टेबल हूँ । मैं प्रजा का रक्षक हूं किन्तु मैं यह सच बात कहने से इन्कार नहीं कर सकता कि वास्तव में मैं भक्षक हूं । कहीं किसी ग्राम में कोई घटना घटित हो जावे तो मेरा सबसे प्रथम कार्य यह होगा कि मैं त्रस्त व्यक्ति को दबाकर यह कहलाने की कोशिश करूं कि कोई घटना नहीं हुई । तथा दूसरी तरफ उस ग्राम के कथित गुन्डों को घुड़काकर उनसे उस घटना के नाम पर कुछ पैसे ऐंठने की कोशिश करूं इस तरह पर मेरे दोहरे कार्य Two fold function हैं । यदि किसी ग्राम में कोई डकैती हो जावे तब भी हम कई लोग मिलकर अनुसंधान के लिये उस ग्राम के लुटे हुये व्यक्ति के घर पर मेहमान की हैसियत से पहुँच जाते हैं तथा माल मलीदा उड़ाते हैं । इस प्रकार एक दूसरी डकैती हम भी शुरू कर देते हैं घटनाओं को छुपाना उनको दूसरे रंग में रंगकर संगीन अथवा खफीफ करना यह मेरे बायें हाथ का खेल है । एक बात और यह है कि मैं केवल इन्हीं बातों में दक्ष नहीं हूँ । झूठी रिपोर्ट बड़ी खूबी से लिखता हूँ । ग्रामीणों के लिये मैं अपने को यमराज का दूत समझता हूँ । यदि किसी राजनैतिक अपराध के कैदी या हवालाती मेरे सिपुर्द हो जाते हैं तो मेरी बाँछे खिल जाती हैं । क्योंकि यह लोग आजाद होने के समय पुलिस को खूब कोसते तथा उसके कार्यों का भण्डा फोड़ करते हैं । मेरी लीला अपरंपार है । मेरे पास हृदय नहीं है । मैं बर्बरता, भयंकरता, निर्दयता का अवतार हूं । मुझे मानवता से प्रेम नहीं है । ग्रामीण अथवा शहर के दुकनदारों से कम पैसे में या बिना पैसे में चीज लेना यह मेरा अधिकार है । हालांकि मुझे सबसे कम वेतन मिलता है तिस पर भी पुलिस मेन्यूअल के हुकुम के मुताबिक हमेशा ऑन ड्यूटी ख्याल किया जाता है । यदि कोई शख्स मामूली गुस्ताखी भी करे तो मैं "बजा आवरी खिदमात सरकारी में मुजाहिमत" का इलजाम लगाकर उसे जेल भिजवा सकता हूँ । अतः सावधान ! मैं पुलिस कान्स्टेबल हूं । ●

२

सरकारी मुलाजिम

खबरदार ! मैं सरकारी मुलाजिम हूँ। मेरे लिये कानून ने कई संरक्षण रखे है मेरे जायज या नाजायज काम क्षम्य हैं। मेरे प्रत्येक कार्य को In good faith कयास किया गया है। समाज मे मेरा मान है, इज्जत है। मैं सरकारी मुलाजिम होने के कारण बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति पर भी रोब रखता हूँ। मेरी दोनो तरफ पौ बारह है। यदि मैं किसी के मकान पर जाता हूँ तो अतिथि होने के कारण सम्मान का पात्र हूँ यदि मेरे मकान पर कोई आता है तो मुझे आगन्तुक का सम्मान करने की आवश्यकता नही है क्योकि मैं सरकारी मुलाजिम हूँ, यही कारण है कि मकान पर मैं अपना आसन अपने तक ही सीमित रखता हूँ। कुछ मनचले राजनैतिक विचार वाले मुझे नौकरशाही कहते हैं किन्तु वास्तव मे मैं ही प्रभु हू। मुझे यह हक है कि यदि मैं किसी से कोई वस्तु खरीदूँ तो उसे कम दाम देकर या बिना दाम देकर रसीद ले लूँ क्योंकि मैं सरकारी मुलाजिम हूँ। राज्य कोष पर मेरा पूर्ण अधिकार है क्योंकि मैं सरकारी मुलाजिम हूँ। इसके सदुपयोग के लिये मै बड़ी स्कीम स्वीकार कराकर ठेके दिलवा सकता हूँ और उन ठेकों को अपने मित्रों, सबधियों, रिश्तेदारों को दिलवाता हूँ क्योंकि उनकी ईमानदारी और सद्भावना पर मुझे पूर्ण विश्वास है ताकि राज्यकोष का दुरुपयोग न हो इस मामले मे किसी की हुज्जत सुनना पसन्द नही करता। मैं स्वयं तथा अपने मातहतान के द्वारा राज्य व्यवस्था के चलाने मे न्याय अन्याय का विचार नही करता क्योंकि यह राज्य व्यवस्था का प्रश्न है किन्तु मैं यह नही चाहता कि जिन पर अन्याय हो वह मेरे पास आकर जुल्मो की कहानी कहे क्योंकि यदि वह कहें तो मुझे मुन्सिफ मिजाजी बताने के लिये दिखावटी तौर पर कुछ न कुछ करना पड़ता है। मैं भृकुटि विलास करता हूँ मेरी जरासी नाराजी लोगों को कोप भाजन बना सकती है। अत: सावधान ! मैं सरकारी मुलाजिम हूँ।

●

३

होली के छींटे

(१) अमीरी के राग-रंग

"वाह ! कमाल है सेठजी, होली की दावत न हुई लड़के का व्याह रच डाला है आपने ।"

"अरे भाई, मैं किस लायक हूं ।"

"सच सेठजी, ईश्वर दौलत दे तो आप जैसा उदार दिल भी दे । वाह ! क्या कहने हैं आज के जल्से के । यह सजावट, यह खान पान, यह शराब ।"

"शराब ! आप इसे शराब कह कर सेठजी का अपमान कर रहे हैं । जनाब व्हिस्की है, व्हिस्की-बिलकुल इंगलिश ।

"अजी क्या बताऊँ नाक में दम कर रखा है, इस सरकार ने तो वरना आज होली के दिन ।"

"उदास क्यों होते हो सेठजी, आज भी ईश्वर की कृपा से आपको कौनसी कमी है ।"

"कमी ? कमी को अब रखा ही क्या है ? जबसे अंग्रेज बहादुर इन गांधी के चेलों को राज्य सौंपकर चले गए तब से जीना ही हराम हो गया है । वरना आज होली के दिन सैकड़ों बोतलें बात की बात में बिखर जाती थीं और आज मुँह जूठा करने के लिए भी 'परमिट' चाहिए ।"

"लेकिन मैंने कहा, सेठजी, इतनी दिक्कत होते हुए भी आपने आज यह पचास बोतलें कहाँ से इकट्ठी कर लीं ?"

"अरे तुम सेठजी को समझते क्या हो । आज होली का दिन क्या बार-बार आता है ।"

"तो और क्या ? अरे जब तक हमारी जेब में रुपया है, हमें कौन रोक सकता है ? रुपया बहुत बड़ी चीज है, मेरे दोस्त ! और जब तक रुपया है तब तक सरकार एक नहीं हजार हुक्म निकाला करे, कौन सुनता है । आज होली के दिन खानदानी इज्जत को देखूँ या ऐसे हुक्मों की परवाह करूँ ।"

"धन्य है सेठजी, आप तो राजा हैं राजा।"

.... मैंने कहा, सेठजी, आज छोटे सरकार नहीं दिखाई दे रहे हैं ? है, हैं नाम न लेना उस कमबख्त का। वह मेरा बेटा नही, किसी जन्म का दुश्मन है। गनीमत है कि वह यहाँ मौजूद नहीं है, वरना अभी घण्टों लेक्चर झाड़ने लगता—आज देश मे भुखमरी मची है और तुम यहां नाच-रंग मना रहे हो, सैकड़ो आदमियो की दावत मे अन्न की बरबादी कर रहे हो, दूसरों का खाना छीन रहे हो, शराब के नशे मे अपनी इन्सानियत को खो रहे हो ।"

'बस सेठजी बस, सब मजा ही किरकिरा हो गया।"

"अजी अभी उस बेचारे ने देखा ही क्या है, भला इन भूखों-नंगों के कारण क्या खाना छोड़ दें, आखिर खानदानी शान-शौकत भी तो कोई चीज है।"

"जी हाँ, और वह भी होली के दिन। चलने दीजिये दौर सेठजी ! आप जैसे खानदानी रईसों के रहते, होली, होली की ही तरह मनाई जायगी, फिर चाहे राज्य अंग्रेज बहादुर का हो या गांधी के चेलों का।"

(२) कालेज की बहार

"भई मैंने तो सोच लिया है, तुम्हारा प्रोग्राम कुछ भी हो, मुझे तो पहिले उस मिस लता की बच्ची से बदला चुकाना है।"

"हाँ, उस सोशल गैदरिंग के दिन किस बुरी तरह 'इन्सल्ट' की थी उसने तुम्हारी। जी हाँ, वह तो आज उसे पता चल जायगा। आज होली है। उस दिन तो धीरे से उसके मुँह पर सिगरेट का धुंआ ही छोड़ा था मैंने, आज देखता हूँ कि उसके घरवालों के सामने ही उसे रंग से तरबतर करने से मुझे कौन रोक सकता है।"

"एक्सिलेन्ट, मौका तो अच्छा ढूंढा तुमने। पर उसके घरवालों ने कुछ विरोध ?"

"विरोध ? विरोध कैसा ? जानते नही, आज तो होली है। कालेज मे साथ पढने में शर्म नही आती तो फिर होली खेलने में कैसा विरोध, और फिर मेरे साथ नरेश, सुरेश, रामसिंह, चमन, गुलजारी सभी तो हैं। घरवालों ने जरा भी चूं की तो आज उनके घर की ही होली जलेगी।"

"ठीक है, पार्टनर ! हम सब तुम्हारे साथ हैं। पर मेरे विचार में आज पहिले उस लगड़े प्रोफेसर से भी निपट लिया जाय।"

"ओ यू मीन डाक्टर मजूमदार।"

"हाँ, कितना परेशान कर रखा है उसने। जब देखो तब उपदेश देता फिरता है।"

"तुम लोगों को देश का निर्माण करना है, देश का भविष्य तुम्हीं पर निर्भर है। तुम लोग उद्दण्ड होते जा रहे हो, तुम में अनुशासनहीनता आती जा रही है तो क्या हमने ठेका ले लिया है देश का।"

"जी हाँ, बस वही तो एक अक्लमन्द है। मेरे विचार मे तो उसे धोके से बुलाकर उसके मुँह पर कोलतार पोत देना चाहिए।"

"जरूर, वह इसी लायक है। और वह जूतों का हार ?"

"उसी के लिये तो रिजर्व है।"

"पर कहीं उसने प्रिंसिपल से शिकायत कर दी तो ?"

"तो क्या हुआ, प्रिंसिपल साहब कोई तोप नहीं हैं और फिर क्या उन्हें मालूम नहीं कि आज होली है।"

(३) सम्प्रदायवाद की आड़ में

"अरे वह देखो। वह जा रहा है सफेदपोश, चलो, चलो।"

"यह क्या करते हो भाई, मैं दवाई लेने जा रहा हूँ, मेरी माँ बीमार है।"

"तो हम क्या करें, इस मुहल्ले से निकले ही क्यों ?"

"अरे बहाना करता है, 'माँ बीमार है' डालो रे रंग, डालो।"

"अच्छा बच्चू, यह चकमा दूसरे मुहल्लेवालों को दिया होगा।"

अरे राम, राम ! कैसा अन्धेर है। सब कपड़े खराब कर दिए और यह ऊपर से कीचड़ भी।"

"कीचड़ ? अरे यह तो "प्रसाद" है होली का, जो तुम जैसे किस्मतवालो को ही मिलता है।"

"अरे, अब बस करो बहुत हो चुका, मैं नहीं जानता था कि इस मुहल्ले के लड़के इतने शैतान हैं।"

"अच्छा तो यह बात है, गाली देता है। लाना तो वह पाटनवाले की नीली क्रीम।"

अरे राम, तमाम मुँह नीला कर दिया हैं। हैं ! यह क्या करते हो यह गन्दी नाली का पानी·······?

"जी हाँ, आपके लिए ही इकट्ठा किया है, यह लो यह 'गंगाजल' अपनी बीमार माँ को भी पिला देना।"

"हे भगवान, यह होली है या........।"

"अरे छोड़ो इस रोनी सूरत को। वह देखो दूसरा शिकार आ रहा है।"

"खबरदार, मुझसे दूर ही रहना।"

"क्यो साहब, आपकी क्या शिकायत है ?"

देखते नही, मैं मुसलमान हूँ।"

'तो फिर जाइए पाकिस्तान, यह कट्टर हिन्दुओ का मुहल्ला है। आज यहाँ से कोई बच कर नही जा सकता।"

"अक्ल से काम लो बच्चो ! शहर के किसी भी मुहल्ले में मुसलमानों पर कोई रंग नही डालता। यह तुम्हारा त्यौहार है.... ।"

"हम कुछ नही जानते, यहाँ आये हो तो खाली नही रह सकते।"

"लाहौल बिला कुव्वत। सब कपड़े गन्दे कर दिये। तुम्हारा कोई बड़ा नही है ?"

' हाँ कहिये क्या काम है आपको मुझसे ?"

"आपने गौर फरमाया इन बच्चो की हरकत पर।"

"हाँ, पर मेरे विचार मे आपको इतना नाराज होने की जरूरत नही है।"

"जी नही ; मुझे तो खुश होना चाहिए। आप जानते हैं बच्चों को यह तालीम देकर आप क्या गलती कर रहे हैं ? उस तरफ तो पंडित नेहरू हमारे हक़को की हिफाजत मे लगे हुए हैं और इस तरफ आप जैसे कुछ गुमराह लोग-धर्म की आड़ मे हमे दबाना चाहते हैं।"

"लेकिन तुम्हारे पाकिस्तान में हमारे साथ क्या व्यवहार हो रहा है ?"

"मैं जानता हूँ, लेकिन हमें उससे क्या ? हमारे देश की आजादी की बुनियाद के उसूल ही अलग है। हिन्दू आपको दूसरे धर्मवालों पर जोर जबर्दस्ती करने की सलाह देते हैं, वे सच्चे हिन्दू नहीं हैं। वे अपने मतलब के लिए आप लोगों को भड़का रहे हैं।"

"बस, अब आपको अधिक लेक्चर देने की जरूरत नहीं। आखिर साल भर मे तो होली आती है, जरा सा बच्चों ने रंग डाल दिया कि मुसीबत ही हो गई। होली भी तो आखिर कोई चीज है। जाओ, बच्चो जाओ, खेलो खूब होली।"

(४) वास्तविक होली

"तब तो महाराज, आपके विचार मे होली खेलना अपराध ही हुआ।"

"जी नही, भला होली खेलना अपराध कैसे हो सकता है ? परन्तु प्रत्येक कार्य देश, स्थिति और समय के ही अनुकूल होना चाहिए। होली का ऐतिहासिक महत्त्व क्या है, इससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि सालभर के भेद-भावों को मिटाकर, दूसरो की भूलों को क्षमा करते हुए हमें प्रत्येक परिचित अपरिचित सब को गले लगाना चाहिए और फिर से उन सब की ओर से अपना हृदय साफ कर लेना चाहिए। होली का सच्चा अर्थ भी यही है कि जो होनी थी वह हो ली।"

"यह तो उचित है महाराज, पर अपनी प्रसन्नता का प्रदर्शन यदि हम रंग खेलकर करते है तो इसमें किसी को क्या आपत्ति है ?"

"आपत्ति किसी को नही, प्रश्न है केवल इतना कि स्वतन्त्रता का उपयोग उसी सीमा तक कर सकते हो, जिस सीमा तक दूसरों को भी उसके उपयोग का अधिकार प्राप्त होता रहे। एक समय था जब हमने विदेशी कपड़ो को आग में झोंक कर होली जलाई थी, किन्तु आज के आर्थिक संक्रमण-काल मे व्यर्थ धन बरबाद न करते हुए हम अपने कलुषित विचारों को होलिका की पवित्र अग्नि में भस्म कर सकते हैं। आज भी विदेशी वेशभूषा हमारे असंख्य नर-नारियों के लिए गौरव की वस्तु बनी हुई है। आज भी अंग्रेजी भाषा का मोह हमसे नहीं छूटता। आज भी हम में से व्यक्तियों का शरीर देशी अवश्य है किन्तु, उनकी आत्मा तथा उनके मस्तिष्क पर गहरी विदेशी छाप पड़ी है। वह रहते भारत में हैं, किन्तु, उनकी कल्पना सदैव ही विदेशों में विचरित होती रहती है। ऐसे लोगों की आंखे इंग्लैंड के धनी समाज तक पहुँच सकती हैं, किन्तु अपने ही देश के असंख्य-गरीबों की ओर देखने का उन्हें अवकाश नहीं, उनके कान हॉलीवुड की अभिनेत्रियों की गाथाएं सुन सकते हैं, किन्तु झोंपड़ों में रहने वाली दुखी भारतीय नारियों की करुण पुकार सुनने का उन्हें अवसर नहीं, उनका ध्यान रूस की अनीश्वरवादिता, फ्रान्स के फैशन तथा अमेरिका के आमोद-प्रमोद की ओर तो जा सकता है, किन्तु अपने देश की धार्मिक प्रवृत्तियों, सरलता एवं कृत्रिमता से विमुक्त जीवन से उन्हें कोई सरोकार नहीं। आज आवश्यकता है, उन लोगों को होली खेलने की। ऐसी होली कि जिसके रंग के सामने यह विदेशी रंग फीका पड़ जाय, जिसकी एक ही लपट में हमारी यह कलुषित विदेशी विचार-धारा भस्म होकर रह जाय।"

"किन्तु महाराज विदेशों द्वारा की गई उन्नति को देखने से तो यही प्रतीत होता है कि वे हमसे कहीं अच्छे हैं ।"

"क्यों नही " तभी तो आज असली होली वही खेल रहे हैं । समस्त विश्व आज दो बड़े दलों में बंट चुका है,जो निर्धन और निस्सहाय देशों को चारों ओर से घेर कर उन पर बम और गोलियों का रंग फेंक रहे हैं । इन छोटे देशों की भोली जनता को प्रत्यक्ष होली की ज्वाला में झौंका जा रहा है और अब होलिका समस्त विश्व मे अपना ताण्डव नृत्य करने को उत्सुक हो रही है । आज इस होलिका की ज्वालाएं मानव के इस भौतिक विकास पर अट्टहास कर रही हैं । यह इन विदेशों की 'अच्छाई' का ही तो सबूत है । अच्छा तो आज का "सत्संग" समाप्त !

"आज इतनी शीघ्रता क्यों, महाराज ?'

आज होली है न, इसलिये ।"

४

एक उपेक्षित देव

(१) यदि हम अपने देश की प्राचीन प्रणाली पर दृष्टिपात करें तो हमें यह स्पष्टतः अनुभव होगा कि मानव समाज पर जिन शक्तियों का उपकार था अथवा जिनके क्रोध में उनकी हानि का भय था उन सबको मनुष्य ने देव की उपाधि प्रदान की है, उदाहरण के लिए सूर्य, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि। इन्हीं में सर्प, वाराह आदि के नाम सम्मिलित किये जा सकते हैं। "मलदेव" का नाम पक्षपात के कारण ही देव सूची में सम्मलित नहीं किया गया ऐसा कहा जा सकता है। न्यायोचित यह होता कि "मलदेव" के उपकार तथा प्रभाव को ध्यान में रखकर इसे भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता। यदि मनुष्य को प्रतिदिन प्रातःकाल मलदेव' के दर्शन न हों अथवा कुछ दिनों मलदेव के दर्शन करने में अनियमितता रहे तो निश्चित रूप से वह रोगग्रस्त हो जायगा व परिणाम स्वरूप उसकी मृत्यु हो जायगी।

(२) प्राचीन मान्यता के अनुसार विश्व में ३३ करोड़ देवता हैं। इस सख्या का आधार क्या है, नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः उस समय देश की जनसंख्या ३३ करोड़ रही हो। किंवदन्ती के अनुसार ३३ करोड़ देवताओं का वास गाय की पूँछ में बताया गया है। यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता है कि इन ३३ करोड़ देवताओं में मल देवता का स्थान है अथवा नहीं? किन्तु मनुष्य तथा देवताओं की समान संख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'मलदेव' प्रत्येक मनुष्य में पाया जाता है। 'गाय की पूँछ' में ही इन बहुसंख्यक देवताओं के निवास की कल्पना भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है।

(३) "मलदेव" साक्षात् बुद्धिदाता है। इसके दर्शन से मनुष्य जाति को स्फूर्ति व शक्ति प्राप्त होती है, इस देव के दर्शन से प्रत्येक व्यक्ति अपने को धन्य मानता है। इसके दर्शन से मनुष्य का दिन प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत होता है, मनुष्य अपने को कृतार्थ समझता है, इसी के वरदान से मनुष्य के रोग शमन होते हैं, यही ऋद्धि व सिद्धि के देवता हैं। इसकी महिमा अपरम्पार है, इसका

जितना स्तुति गान किया जाय उतना ही कम है। धर्मशास्त्रों में "ईश्वर" को अगम्य व स्तुति ज्ञान में 'नेति" शब्द का उपयोग किया गया है। इस देव की स्तुति में भी इन शब्दों का उपयोग निस्सन्देह किया जाना चाहिए।

(४) 'मलदेव' अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण देवता है। प्रत्येक मनुष्य को इसकी प्रार्थना करना अनिवार्य है। आस्तिक-नास्तिक इस विषय में भेदभाव नही कर सकता है, हिन्दू मान्यता के अनुसार प्रातःकाल प्रथम कार्य "शौच" माना जाता है, इस 'प्रातः स्मरणीय देवता' के कारण ही यह कर्तव्य स्थिर किया गया है। प्राचीन युग मे मनुष्य ब्राह्म मुहूर्त में उठकर प्रथम कार्य Morning duty के तौर पर 'शौच' मुख मार्जन करता था, उसके पश्चात् ईश्वर स्मरण आदि करता था, अर्थ यह है कि 'मलदेव' को ईश्वर से भी उच्चता व प्राथमिक स्थान प्राप्त है। पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण के कारण हमारी दैनिक चर्या मे कुछ परिवर्तन हो गया है, रात्रि को देर से भोजन, अत्यधिक विलम्ब से निद्रा त्याग ऐसे कारण हैं कि 'मलदेव' की स्तुति मे शिथिलता उत्पन्न हो हो गई है। मनुष्य सूर्योदय के काफी समय पश्चात् निद्रा त्याग करता है तथा इसके पश्चात् ही इस देव की स्तुति को करता है। सूर्योदय के पूर्व जो तल्लीनता इसकी स्तुति मे हो सकती थी वह सूर्योदय के पश्चात् नही हो सकती है। यही कारण है कि यह देव उतना वरदानदायी नहीं रहा है और मनुष्य उसके कोप से प्रायः अस्वस्थ है, मनुष्य "कब्ज" का शिकार हो रहा है। कुछ दुर्बुद्धि मनुष्य तो इस देव की इतनी उपेक्षा कर देते है कि प्राचीन काल की 'उषःपान' की प्रवृत्ति के स्थान पर पश्चिम के अन्धानुकरण के कारण Bed tea लेते हैं। इतना ही नहीं कुछ नास्तिक तो चाय को स्फूर्तिदायी व बुद्धिदायी भी मानने लगे है यथार्थ मे यह इस देव की अवहेलना है। यह भी एक कारण है कि देश की अधिकाश जनता "मलावरोध" की शिकार है। भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधियो का प्रयोग करते हुए भी यह देव उतना प्रसन्न नही है जितना प्राचीन काल में था।

(५) मनुष्य ही नही प्रत्येक देवता 'चाटुकारिता प्रिय' है उनकी स्तुति में खामी हुई कि नाराज हो गये, यदि मनुष्य प्राचीन काल के समान सूर्योदय के पूर्व स्तुति प्रार्थना प्रारम्भ करे तो निश्चित रूप से यह महादेव प्रसन्न हो सकता है।

"गया सिज्दा से मारा एक शैतान
सच तो यह है कि खुशामद से खुदा राजी है।"

यहीं नहीं श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है :—

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकम् शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि भारत!"

यह खुशामद का उदाहरण है। इसी कारण यदि हमारा देव भी मनुष्य से अप्रसन्न हो गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

मानव समाज को आजकल दरिद्रता के कारण देश में खुराक से (Nourishment) की कमी हो गयी है। मनुष्य को पौष्टिक खुराक नही प्राप्त होती, मनुष्य स्वादप्रिय हो गया है, कैसी-कैसी वस्तु खाता है। हमारे भोजन में हम यह ध्यान नहीं रखते कि कौन-कौन सी वस्तु हमारे इस "महादेव"को प्रिय है। इसके विरुद्ध भोजन की वस्तु खा लेने पर भी यह अप्रसन्न हो जाते हैं। आवश्यक यह है कि देवप्रिय वस्तु से परिपूर्ण संतुलित भोजन हो तो अप्रसन्नता का कोई कारण नहीं हो। इस प्रकार इस महादेव की प्रार्थना के लिए मनुष्य का मन निर्मल होना चाहिए। यदि आपने पूर्व रात्रि म पूरी निद्रा नही ली है तो आपका मन स्वच्छ नहीं हो सकता है। यदि आपके मस्तिष्क में चिन्ताए व्याप्त है तो स्वाभाविक है कि आप ठीक तौर पर प्रार्थना नहीं कर सकेंगे, आपको पूर्व से ही "मानसिक कब्ज" होगा। जिस प्रकार पूर्ण श्रद्धा के साथ कोई धर्मावलम्बी एक चित्त से ईश्वर आराधना करता है उसी श्रद्धा (ईमान) के साथ यदि आराधना की जाय तो कोई कारण नहीं है कि इस महादेव की अप्रसन्नता शेष रहे। यदि आराधना खड़े-खड़े घूमकर की जावे, मनुष्य प्रतिदिन प्रात:-सायंकाल १-२ मील पैदल यात्रा करे तो शीघ्र प्रार्थना सफल हो सकती है। पैदल यात्रा का महत्व हमारे युग के महान् व्यक्ति श्री बिनोबाजी ने भी बताया है। मनुष्य इस प्रकार से नैसर्गिक उपाय न करके अप्राकृतिक उपाय"एनीमा"आदि का प्रयोग करते हैं तो स्वाभाविक है कि यह महादेव अप्रसन्न हो। मेर मत से तो इस महादेव की प्रार्थना एक चित से घूम कर की जावे तो सफलता निश्चित है। आधुनिक सभ्यता के हामी इस महादेव के वरदान-स्थल पर भी चित्त एकाग्र नहीं करते। आधुनिक सभ्यता ने एक बात अवश्य की है कि वरदान-स्थल पर अत्यधिक सफाई का वातावरण निर्माण कर दिया (Flush) के (Latrines) निर्माण कर दिये हैं इस कारण यह देव प्रसन्न हो सकता था किन्तु इसी का लाभ लेकर प्रार्थना में देर लगने के कारण मनुष्य ने समय की बचत के लिये यहां पर समाचार पत्र का अवलोकन, अन्य आवश्यक कार्य निबटाना प्रारम्भ कर दिया। किसी-किसी को १-२ घण्टा बिताना पड़ता है, समय के उपयोग के लिए वहां पर अन्य कार्य (पठन) प्रारम्भ कर देने के कारण एकाग्रता नष्ट हो गयी, इस प्रार्थना में एकाग्रता आवश्यक

है। प्रार्थना सफल होने पर उसका स्वागत आवश्यक था किन्तु समुचित स्वागत न होने के कारण वापसी हो जाती है। इसी कारण उर्दू के शायर ने भी कहा है :-

कदमचे पर संभल बैठो, नहीं है खेल तिफ्लाना
गरजता गूंजता आता है, देखो किस कदर . .

हमको यह स्मरण होना चाहिए कि देवाधिदेव की स्तुति गान उर्दू मे प्रसिद्ध शायर 'श्री चिरकिन' ने अपनी अनूठी कविता के द्वारा काफी किया है। इसी कारण श्री चिरकिन ने उर्दू जगत में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। वास्तव में भागवत भक्त यदि भगवान का गुणगान करता है तो उसकी प्रसिद्धि होना स्वाभाविक है। अन्यथा 'चिरकिन बेचारा इस अखिल ब्रह्माण्ड का तुच्छ साधारण प्राणी था। आशा है कि मनुष्य एकाग्रचित से प्रार्थना प्रारम्भ करके "मल महादेव" को प्रसन्न कर सकेगा।

चतुर्थ आयाम

राष्ट्र और राष्ट्रीयता

१
हमारा राष्ट्र-धर्म

सामान्यत: जनसामान्य में यह धारणा दृढ़ है कि जैनधर्म में केवल व्यक्तिगत साधना पर बल दिया गया है, मनुष्य के सामाजिक तथा राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति जैन-धर्म उदासीन है, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। जहाँ तक मनुष्य के वैयक्तिक जीवन का सम्बन्ध है, उसका परिष्कार व्यक्तिगत साधना से ही हो सकता है। मनुष्य का आध्यात्मिक विकास किसी अन्य के द्वारा की हुई साधना के माध्यम से नहीं हो सकता। किन्तु यहाँ "धर्म" शब्द कर्तव्य के अर्थ में प्रयुक्त नहीं करके हम उससे तात्पर्य "दायित्व" अर्थ में करते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें लगता है कि मनुष्य का उसके पिता, माता, पत्नी, पुत्र आदि स्वजनों के प्रति कुछ दायित्व है, उसका समाज, नगर तथा राष्ट्र के प्रति भी कर्तव्य है। इसी कारण जैन ग्रन्थों में मानव की व्यक्तिगत साधना पर बल दिया, वहीं स्वजनों के प्रति दायित्व के सम्बन्ध में भी विचार किया है। इसी विचारधारा में हम यह भी पाते हैं कि स्वयं भगवान महावीर अपने पिता के स्वर्गवास के पश्चात् ज्येष्ठ भ्राता के अनुरोध पर गृहत्याग को कुछ समय के लिए स्थगित कर देते हैं। जहाँ तक सामाजिकता का सम्बन्ध है,प्रत्येक तीर्थंकर अपने जीवन में केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करते हैं। संघ निर्माण के समय उनकी आचार प्रणाली तय कर दी जाती है। यही नहीं संघ की महिमा जैन ग्रन्थों में बहुत बताई गई है। जैन आगम (नन्दी सूत्र) के प्रारम्भ में तीर्थंकर, गणधर तथा पश्चात्वर्ती आचार्यों की पट्टावली का जिक्र करते हुए संघ के सम्बन्ध में जो गुणानुवाद किया गया है वह बहुत ही प्रेरणास्पद है। इन स्तुतिपरक गाथाओं में संघ को अनेक गुणों से अलंकृत किया है, तथा उसको कई प्रकार की उपमा दी गई है। और यह भी सत्य है, कि मनुष्य जीवन में व्यक्तिगत रूप से बहुत से कार्य नहीं कर सकता। इस प्रकार के कार्य संघ द्वारा ही हो

सकते हैं। इसी कारण तीर्थंकर स्वयं दीक्षा लेने के पश्चात् 'नमोतित्थस्स' का उच्चारण करके 'संघ' को नमस्कार करते हैं। तात्पर्य यह है कि जैन धर्म ने मनुष्य के अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक दायित्वों के लिए प्रेरणा दी है। इनकी ओर से उदासीनता नहीं बताई। इस अवसर पर मुझे उर्दू के एक कवि का कहना याद आता है:—

क्या करेगा प्यार वह भगवान को,
क्या करेगा प्यार वह ईमान को
जन्म लेकर गोद में इन्सान की,
कर न पाया प्यार जो इन्सान को।

जैन द्वादशांगी के एक महत्वपूर्ण भाग— श्री स्थानांग सूत्र मे मानव के १० धर्मों का विधान किया गया है। उसमें अन्य प्रकार का धर्म (दायित्व) के साथ ग्राम, नगर, राष्ट्र धर्म बताया गया है।

(१) गामधम्मे (२) नगरधम्मे (३) रट्ठधम्मे (४) पाखण्डधम्मे (५) कुलधम्मे (६) गणधम्मे (७) संघधम्मे (८) सुयधम्मे (९) चरित्त धम्मे (१०) अत्थिकाय धम्मे।

उपरोक्त सूची में ग्राम-नगर राष्ट्र-धर्म का स्थान क्रमांक १, २, ३, पर दिया गया है, जिस प्रकार मानव का दायित्व स्वजन-समाज के प्रति है, उसी प्रकार से ग्राम, नगर, राष्ट्र के, प्रति भी दायित्व है। जिस स्थान पर मनुष्य रहता है, जहाँ के, जलवायु का लाभ लेकर मानव अपना जीवन-यापन करता है, उस ग्राम या नगर की सुखशान्ति में उसकी शांति टिकती है, उसके प्रति दुर्लक्ष कैसे हो सकता है? इसी प्रकार जिस राष्ट्र के हम नागरिक हैं, उसके प्रति हमको अपना कर्तव्य-निर्वाह करना होता है। हम सब जानते हैं कि ग्राम-नगर का प्रबन्ध करने में या जनता में स्वशासन की भावना जाग्रत करने की दिशा में इन इकाइयों के लिए स्वायत्त संस्थाओं का निर्माण किया गया। इनका निर्माण पहले चाहे विदेशी सत्ता ने अपने समर्थक उत्पन्न करने के लिए प्रयोग किया हो किन्तु इनके पीछे जो तत्व है वह Self Govern का है। स्वतन्त्र भारत मे तो इन स्वायत्त संस्थाओं को और अधिक अधिकार दिये गये हैं। ग्राम सभा, ग्राम पंचायत, जिला पंचायत, जनपद पंचायत, नगर पालिका, नगर निगम आदि उसके उदाहरण हैं, जो नगरों तथा ग्रामों का प्रबन्ध करती है। मनुष्य इनके नियमोपनियम का पालन करें, सफाई, स्वच्छता रखें, लोक-स्वास्थ्य की दिशा में जो प्रतिबन्ध लगाये जावें उनका यथोचितरूप से पालन करें तो कहा जा सकता है कि हमने ग्राम-धर्म, नगर-धर्म या राष्ट्रधर्म का पालन किया उनके प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। ●

२

आत्मनिर्भरता तथा स्वदेशी

हमारे देश की यशस्वी, तेजस्वी, मनस्वी, दृढ़प्रतिज्ञ प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने गत भारत-पाक युद्ध के पश्चात् इस बात पर बल देना प्रारम्भ किया है कि देश को प्रत्येक दिशा में आत्मनिर्भर होना है ताकि देश विदेशी सहायता (हालांकि "सहायता" शब्द अनुपयुक्त है, वह तथा कथित सहायता एक ऋण ही है।) पर निर्भर न रहे। अभी ४-५ दिन पूर्व ही प्रधानमन्त्री ने एक सभा में भाषण करते हुए कहा था कि "सहायता" शब्द गलत है। वास्तव में वह दीर्घकालीन ऋण है, और इसने हमारी अर्थव्यवस्था पर बड़ा बोझा डाला है, फिर भी हम किसी भी देश से इस प्रकार की सहायता अपनी निश्चित नीति, सिद्धान्त तथा आदर्शों को अक्षुण्ण रख कर ही स्वीकार कर सकते हैं, किसी प्रकार की शर्त से आबद्ध सहायता स्वीकार नहीं की जावेगी। वास्तव में इस प्रकार की घोषणा जहाँ देश में उत्पादन पर बल देकर अधिक उत्पादन की दिशा में मार्गदर्शन देगी, वहाँ देश का आत्मसम्मान ऊँचा करने में सहायक होगी। इसी कारण देश के राष्ट्रपति श्री गिरि महोदय ने भी देश के उद्योगों के सम्मुख एक योजना रखकर आगामी कुछ वर्षों तक में हड़ताल आदि न करने के लिये श्रमिक वर्ग को दिशाबोध दिया है, सम्भवतः इसी विचारसारणी के अनुरूप उद्योग की व्यवस्था में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व दिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि देश की अपनी नीति, आदर्श तथा सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप से निर्धारण करना है, उनके अनुरूप देश का कारोबार चलाना है, तो उसे प्रत्येक दिशा में स्वयं के पैरों पर खड़ा होना पड़ेगा, और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जहाँ उद्योगपति तथा श्रमिक को देशभक्तिपूर्ण भावनाओं के प्रति समर्पण करना होगा, वहाँ उपभोक्ता को भी चतुर्थांश शती से उपेक्षित स्वदेशी भावना का आदर करके, कुछ अधिक मूल्य देकर कुछ घटिया वस्तु भी क्रय करना होगा। तब ही देश जहाँ आवश्यक वस्तुएँ

विदेशों को निर्यात करके विदेशी मुद्रा रक्षित कर सकेगा, वहाँ सारे देश में एक मानसिक परिवर्तन भी होगा।

स्वतन्त्रता पूर्व राष्ट्र के कर्णधार महात्मा गांधी ने विदेशी सत्ता से संघर्ष करने में जिन महत्वपूर्ण साधनों का आविष्कार किया था। उनमें स्वदेशी व्रत भी था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलनों में स्वदेशी पर अत्यधिक बल दिया जाता था। यही नहीं, जहाँ तक राष्ट्रीय महासभा के सदस्यों का प्रश्न था उनके लिए खादी (हाथ से कता, बुना कपड़ा) का प्रयोग अनिवार्य था। वास्तविकता यह थी, कि खादी केवल एक वस्त्र नहीं था, अपितु एक विचार था। खादी के पीछे सादगी, समाज के अभावग्रस्तवर्ग के साथ तादात्म्य तथा बेरोजगार लोगों को इस उद्योग से रोजगार दिलाने का भी भाव था। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर केवल कांग्रेस ही नही, देश का बहुत बड़ा समुदाय अधिक मूल्य देकर भी मोटी खुरदरीखादी का वस्त्र उपयोग में लाने में गौरव अनुभव करता था। पूज्य गांधी जी ने आश्रम के अनेक व्रतों में "स्वदेशी व्रत" को भी सम्मिलित किया था। मुझे स्मरण है कि उस युग मे खादी की महत्ता सूचक कवि ने जनता को आह्वान करके कहा था कि—

को भी लिबास अपना खादी बनाओ यारों।

तो महिलाओं ने अपना निश्चय निम्न शब्दों में व्यक्त किया—

"निपट दिगम्बर डोलेंगी या लेंगी अम्बर खादी का"

किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् का वातावरण इस दृष्टि से बड़ा निराशाजनक रहा। जन सामान्य की बात तो दूर रही, कांग्रेसी, सरकारी तथा उसके मन्त्रीगणों ने खादी तथा स्वदेशी के प्रति इतना आग्रह नही रखा। यह सत्य है कि उन्होंने खादी शब्दों में पहिनी किन्तु उसके पीछे जो उदार भावनाएं थी, जो सादगी का भाव था उसको दृष्टिगत नही रखा। मेरे अपने नम्र मत मे रेशमी वस्त्र, अधिक बारीक वस्त्र (चाहे वह हाथ कते, बुने ही हो) खादी-विचार के विरुद्ध है, इसी प्रकार जो वस्त्र परिधान किये जावें, वह सादा हों। खादी पोशाक के स्थान पर बुशर्ट और पेन्ट हो तो खादी विचार से उनका मेल नहीं खाता। तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् मंत्रीगण ने सम्भवतः खादी इसलिये पहनना जारी रखा कि जन-सामान्य में खादी के प्रति अभी भी आदर का भाव है, या यूं कहें कि कांग्रेसी का एक यूनिफार्म खादी मानती है। परिणाम यह हुआ कि देश में सादगी का जो वातावरण निर्मित होना था वह नहीं हो सका अपितु pomp and show का वातावरण निर्माण हुआ और जन साधारण में भी स्पर्धा होने लगी कि कौन

कितना ऊँचा जीवन व्यतीत करता है। खादी के अतिरिक्त शेष वस्तुओं में भी कांग्रेसी मंत्रीगण का आग्रह स्वदेशी के प्रति अधिक नहीं रहा। परिणाम स्पष्ट है कि स्वदेशी भावना देश से प्रतिदिन तेजी से दूर होती जा रही है,और भारतीय संघ शासन को विदेशी वस्तु आयात करने विदेशी मुद्रा कम करना पड़ता है।

गत दिसम्बर के २४ दिवसीय भारत पाक युद्ध ने जहाँ देश में प्राण फूंके तथा समस्त राजनीतिक दलों ने एकता का संकल्प किया। युद्ध विजय से देश में आत्म-सम्मान का भाव जागृत हुआ। युद्धोपरान्त प्रधानमंत्री के आह्वान पर क्या यह आवश्यक नहीं है कि आत्मसम्मान के भाव को शाश्वत रूप से कायम रखने के लिए देशवासी स्वदेशी का व्रत लें और समस्त राजनीतिक दल इस प्रश्न को अपना कर देशवासियों में भावना जाग्रत करें। यह सत्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् शासन को विभिन्न विकास कार्यक्रम अपनाने पड़े हैं, और उनके लिये विदेशों से मशीनें आदि आयात करनी पड़ती हैं, यह सब कार्य विकासशील देशों को अपनाना पड़ता है ताकि देश प्रत्येक दिशा में आत्मनिर्भर हो सके। केवल एक हरित क्रान्ति का प्रश्न लें। खाद्यान्न में आत्मनिर्भर होना हो तो आधुनिक कृषि के औजार, मशीन, ट्रैक्टर, बीज आदि मँगा कर कृषि का विकास करना पड़ेगा, जब तक कि उपरोक्त वस्तुओं का हमारे देश में ही उत्पादन न हो जावे, फिर भी स्वदेशी-व्रत के सम्बन्ध में कुछ निश्चय करना होगा ताकि देश की विदेशी मुद्रा की बचत हो सके और यदि आवश्यक हो तो उससे आधुनिक रक्षा साधनों को क्रय किया जा सके। प्रधानमन्त्री ने इस युद्ध विजय के पश्चात् बार बार इस बात को दोहराया है कि युद्ध का खतरा अभी वर्तमान है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति का सामना कर सकें इस दृष्टि से प्रतिरक्षा साधनों के उत्पादन पर बल दिया जावे, और यदि देश में उत्पादन क्षमता अभी पूरी मात्रा में न हो सके तो आयात किया जा सके। एक विभाजन रेखा आयातित वस्तु के सम्बन्ध में मोटे रूप से खींची जा सकती है और वह यह कि व्यक्ति अपने उपयोग के लिये स्वदेशी वस्तु ही इस्तैमाल करेगा। मौज शौक की वस्तु आयात नहीं की जावेगी। यही विभाजक रेखा यदि स्वीकार करके कार्य किया गया तो हम बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा को बचा सकेंगे।

संक्षेप में यह कि २५ वर्षों से उपेक्षित स्वदेशी-व्रत पालन पर अब अधिक बल देने, उसे पुन: जाग्रत करने का उपयुक्त समय आ गया है। काश ! देश की सरकारें तथा जनता इस ओर पर्याप्त ध्यान देगी।

●

३

स्वदेशी धर्म और हमारा दायित्व

हमारा देश लगभग १५० वर्ष ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जंजीरों से जकड़ा हुआ था। इस विशाल देश में अंग्रेजों ने व्यापारी के रूप में प्रवेश किया। उन्होंने इंग्लेण्ड में उत्पादित माल को खपाने और इस प्रकार अपने देश की समृद्धि बढ़ाने के हेतु भारतवर्ष को अचूक साधन माना। किन्तु व्यापारिक सुविधा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये देश में अपनी राजनीतिक सत्ता स्थापित करना आवश्यक समझा। इस कारण अंग्रेजों ने व्यापारिक सुविधा के साथ-साथ देश में अपनी राजकीय सत्ता स्थापित की। परिणाम यह हुआ कि देश, विदेशी गुलामी में जकड़ दिया गया। लगभग १५० वर्ष में अंग्रेजों ने अपनी राजकीय सत्ता के कारण इस देश में खूब शोषण किया। इस देश का यह सौभाग्य था कि पूज्य बापू एक त्राता के रूप में अवतीर्ण हुए। देश ने उनके नेतृत्व में संगठित रूप से विदेशी गुलामी को समाप्त करने के लिये स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी। अखिल भारतीय कांग्रेस के तत्वावधान में देश की जनता ने प्रत्येक प्रकार का बलिदान किया। परिणामस्वरूप देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हो गया। किन्तु देश में गरीबी अभी विद्यमान रही। देश के स्वतंत्र होने के पश्चात विभाजन के परिणाम स्वरूप अनेक प्रकार की समस्यायें उत्पन्न हुईं। हमारे नेताओं की सूझबूझ तथा दक्षता ने उन समस्याओं का हल निकाला। अभी देश में गरीबी को मिटाने के लिये सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता है। गरीबी समाप्त होने पर या यूं कहिए कि हमारी राष्ट्रीय आय बढ़ जाने पर ही हम आर्थिक-स्वतंत्र होंगे तब ही देश का साधारण नागरिक स्वराज्य का अनुभव कर सकेगा। भारतवर्ष एक गरीब देश है। यहां के जनसाधारण की आय अत्यन्त अल्प है, जबकि ससार के अन्य देशों की आय प्रति व्यक्ति कहीं अधिक है, ऐसी दशा मे हमारा देश विदेशी वस्तुओं का आयात करे यह उचित नहीं कहा जा सकता है। पूज्य बापू ने स्वदेशी वस्तुओं को प्रयोग में लाने पर अत्यधिक जोर दिया था। किन्तु आज यह प्रवृत्ति अधिकाधिक जोर पकड़ रही

हैं कि हम "सादगी" के स्थान पर "तड़क भड़क" के अभ्यस्त होते जा रहे हैं। इस समय देश में "स्वदेशी धर्म" पालन को अत्यधिक आवश्यकता है। इससे हम में जहां सादगी आवेगी वहां देश का अरबों रुपया विदेश में जाने से बच सकेगा और परिणाम स्वरूप इस देश के जन साधारण की आय बढ़ेगी। उद्योग धन्धों का विकास होगा। हम आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्रता अनुभव करेंगे। संक्षेप में यह कि आज हम यह प्रण करें कि:—

१. हम भविष्य में केवल स्वदेशी वस्तुओं का ही प्रयोग करेंगे।
२. हम विदेश से वस्त्र नहीं मंगायेंगे न उपयोग में लावेंगे।
३. हम विदेश से अनाज नहीं मंगायेंगे और इस हेतु अनाज का उत्पादन बढ़ायेंगे।
४. अनिवार्य आवश्यकता को छोड़कर जहां तक सम्भव होगा विदेशी वस्तुएं न मंगायेंगे और न उपयोग में लावेंगे।

●

४

गौवधनिषेध; एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या

भारत के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् से ही अहिंसक समाज (ऐसे व्यक्ति जो अहिंसा में विश्वास रखते हैं चाहे वह जैन हो, वैष्णव हो अथवा अन्य धर्मावलम्बी हो) को भारतीय शासन से यह आशा थी कि वह देश में अहिंसक वातावरण का निर्माण कर सात्विक जीवनयापन को प्रोत्साहन देगा। पूर्व आशा के अनुरूप अब सन् १९५२ में व्यापक निर्वाचन के समय देश के करोड़ों मतदाताओं को अपना मतदान-अधिकार उपयोग में लाने को मिला तब देश के इस भावनात्मक विचार का लाभ लेकर कुछ राजनीतिक दलों ने पूर्ण गौ-वध-निषेध (कानून द्वारा) की मांग रखी और इस आधार पर मतदाताओं के विचारों को प्रभावित करने तथा अपने मत का उपयोग उनके पक्ष में कराने हेतु प्रयत्न किया। किन्तु सारे प्रयत्नों के बाद भी राजनीतिक दलों को कोई लाभ नहीं हुआ। इसीप्रकार सन् १९५७ के द्वितीय तथा सन् १९६२ के तृतीय व्यापक निर्वाचन के समय भी प्रयत्न हुए किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। वास्तव में बात यह थी कि सत्तारूढ़ दल (कांग्रेस) में भी कुछ महत्वपूर्ण व्यक्ति कानून द्वारा गौ-वध निषेध को उचित मानते थे। राष्ट्रपिता स्वर्गीय महात्मा गांधी गौवध अनुचित मानते थे, उसका माता के रूप में उपकार मानते थे। उन्होंने गौमाता को (A poem of pity) 'करुणा की कविता' बताया। उनकी गौ-सेवा केवल धार्मिक विश्वास अथवा भावात्मक नहीं था अपितु उनकी मान्यता थी कि देश में शाकाहार को प्रोत्साहन देकर सात्विक जीवन का निर्माण गौमाता के संरक्षण तथा सम्वर्धन पर निर्भर है। शाकाहार के लिए अनाज, साग-सब्जी का बहुत अधिक मात्रा में उत्पादन आवश्यक है इसलिए गौ माता की सेवा केवल शब्दों में नहीं अपितु गो सेवा संघ, गौसंवर्धन आदि की स्थापना कराकर भी माता के उपकार की तरफ देश का ध्यान आकर्षित किया। इस सारी परिस्थिति के पश्चात् भी पूज्य गांधीजी कानून द्वारा गौवध

निषेध के पक्ष में अधिक नहीं थे ऐसा लेखक का विश्वास है। पूज्य गांधी जी का चतुर्मुखी व्यक्तित्व था। वह सन्त भी थे, राजनीतिज्ञ भी थे। यदि यह कहा जावे कि उनका वैचारिक धरातल सन्त प्रकृति के अधिक निकट था तो अत्युक्ति नहीं होगी। उनका विश्वास था कि मानव स्वयं गौ-माता के उपकार को ध्यान में रखकर उसकी हत्या से विमुख हो जावेगा। वह मानव के भीतर प्रसुप्त देवत्व में विश्वास करते थे। प्रत्येक मनुष्य भला है, सज्जन है, किन्तु इस कठोर जगत में वस्तुस्थिति ठीक विपरीत है। यही कारण है कि पूज्य गांधी जी के वर्षों के प्रयत्न के पश्चात् भी मानव ने गौ-वध से विमुखता ग्रहण नहीं की। इधर पंडित नेहरू (जिनके नेतृत्व में भारतीय संघ शासन स्वतन्त्रता के समय से ही उनके स्वर्गवास पर्यन्त चला और जो कांग्रेस के भी अत्यन्त महत्वपूर्ण नेता थे) का दृष्टिकोण आर्थिक था। देश में व्याप्त गरीबी, जहालत आदि को दृष्टि में रखकर पंडितजी ने अपने शासन काल में आर्थिक दृष्टिकोण अधिक रखा। यह सत्य स्वीकार करना चाहिए कि पंडित नेहरू के विशाल चमकीले व्यक्तित्व के सम्मुख कांग्रेस के उन महत्वपूर्ण व्यक्तित्वों की नहीं चल सकी जो गौ-वध-निषेध कानून द्वारा भी कराये जाने के पक्ष में थे। परिणाम यह रहा कि भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् से कानून द्वारा सारे देश में पूर्ण गौ-वध निषेध नहीं हो सका। यह सत्य है कि स्वतन्त्रता से पूर्व कई देशी रियासतों में (जहाँ हिन्दू राजा थे) अपनी सीमा के भीतर कानून द्वारा पूर्ण गौ-वध-निषेध था किन्तु, स्वतन्त्रता के पश्चात् कई देशी रियासतें मिलाकर उनका संघ बनाया गया तब उस संघ शासन ने कहीं पूर्व की भांति कृषि उपयोगी पशुओं की हत्या का निषेध करने वाले कानूनों का निर्माण किया। किसी-किसी प्रादेशिक राज्य ने इसी प्रकार के कानूनों का निर्माण किया किन्तु संविधान कानूनों के द्वारा पूर्ण गौ-वध-निषेध सम्भव नहीं हो सका। जैसा कि देश के सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णयों से करार दिया है कि ऐसे पशु जो कृषि के कार्य मे उपयोगी न रहे (चाहे गाय ही क्यों न हो) का वध पूर्ण रूपेण निषेध नहीं किया जा सकता।

अभी-अभी गत कुछ मास से सारे देश में पूर्ण रूप से गौ-वध निषेध (कानून द्वारा) का प्रश्न तीव्रता से उठाया गया है। इस बार विशेषता यह है कि यह प्रश्न देश के साधु समुदाय ने अपने हाथ में लिया तथा इसकी सफलता के लिए योजना बनाकर जनमत जाग्रत किया। यह सत्य है कि इस समुदाय में से किसी-किसी के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनको कुछ विरोधी राजनीतिक दलों का सहयोग भी प्राप्त है किन्तु सबके लिये यह नहीं कहा जा सकता। लेखक ने देहली में इस हेतु आयोजित एक आम सभाको

देखा है जहाँ जैन मुनि श्री सुशीलकुमार ने अपने भाषण के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया था कि गौवध निषेध का प्रश्न राजनैतिक नहीं है, न राजनैतिक दलों को मत प्राप्ति का साधन इसे बनाना चाहिये। यह प्रश्न विशुद्ध सात्विकता वृद्धि का आन्दोलन है। बहुत समय पूर्व देश को मांसाहार से शाकाहार की तरफ आकर्षित करने का श्रेय यदि किसी को है तो वह गौमाता को है। दिनांक ७ नवम्बर के प्रदर्शन में जो दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटी उसकी भर्त्सना इस आंदोलन के महत्वपूर्ण व्यक्तित्व ने की। उसके पश्चात् तो अनशनों का दौर प्रारम्भ हो गया। यह प्रसन्नता की बात है कि जगदगुरु शंकराचार्यजी के अनशन समाप्ति के हेतु प्रयत्न चल रहा है। (अनशन समाप्त कर दिया है।) तथा अभी-अभी लोक सभा के गृहमंत्री के लिहाज से जैन मुनि श्री सुशीलकुमार ने अनशन समाप्त कर दिया है। भारतीय संघ के वर्तमान गृहमंत्री श्री चौहान ने गौवध बन्दी की सैद्धान्तिक रूप से सहमति प्रकट की है। जहाँ तक मैं समझता हूँ भारतीय संघ शासन की अभी तक की वैचारिक शृंखला यह रही है कि गौवध बन्दी का प्रश्न राज्य सूची (State list) का है। उसे अपने-अपने राज्यों मे इस सम्बन्ध में कानून का निर्माण करना चाहिये। संघ शासन यहाँ तक तो तैयार है कि जो राज्य इस प्रकार के कानून का निर्माण करने को सहमत नहीं उनको निर्देश भी दे दें किन्तु कोई भी राज्य या संघ शासन (यदि संघ शासन कानून निर्माण करना उचित समझे) प्रत्येक गाय का वध बन्द नही कर सकता जो कृषि के उपयोग मे न आ सकती हो या आयु, शारीरिक न्यूनता के कारण बेकार हो गई हो जिसके लिये सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयो का हवाला दिया जाता है, संविधान के वर्तमान प्रावधान के लिहाज से पूर्ण गौवध पर प्रतिबन्ध लगाना सम्भव नहीं है जबकि इस आन्दोलन के जनक तथा प्रमुख नेता इसके लिये आग्रह कर रहे हैं।

यह सब कोई जानते है हमारे देश का संविधान दिनाक २६ जनवरी, १९५० को लागू हो गया तथा विधान निर्माण परिषद ने उसे तैयार करके देश की जनता को समर्पण कर दिया। किसी भी देश का संविधान एक पवित्र दस्तावेज होता है उसका पालन केवल कानूनों के आधार पर ही नहीं अपितु (Spirit) के आधार पर भी किया जाना चाहिए। किन्तु फिर भी किसी भी देश का संविधान मनुष्यकृत ही है। आवश्यकतानुसार उसमें संशोधन परिवर्तन हो सकता है। और हमने इस लघुकाल में आवश्यकतानुसार संशोधन परिवर्तन किये हैं। यदि सारे देश में पूर्ण गौवध पर प्रतिबन्ध लगाने में केवल संवैधानिक आपत्ति है तो उसको संशोधन करके हल किया जाना चाहिए। इस सिलसिले में सत्तारूढ़ दल या शासन का तर्क यह भी रहता है कि आखिर इस प्रकार के

अनुपयोगी पशुओं को पालने का भार देश क्यों बरदास्त करे ? शासन को यह भी भय है कि यदि पूर्णरूपेण प्रतिबन्ध लगा दिया गया तो उनके भोजन (चारे) का प्रबन्ध करने से देश की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जावेगी। वास्तव में यह दलीलें अत्यन्त लच्चर हैं। यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि उपयोगिता अथवा अन्य प्रत्येक दृष्टिकोण इस प्रकार के प्रश्नों के लिए सर्वथा उचित नहीं है। यदि उपयोगिता के दृष्टिकोण को हम पशु जगत से आगे मानव तक लावें तो उस सारी स्थिति की भयानकता से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यदि उपयोगिता के सिद्धान्त को मानव-जगत पर लागू किया जाना उचित होता तो हमारी दण्डसंहिता में आत्महत्या के प्रयत्न के अपराध में अनुपयोगी मनुष्य के लिये अपवाद नियत कर दिया जाता अथवा कत्ल के अपराध में अनुपयोगी मनुष्य का प्राण हरण अपराध की परिभाषा में नहीं रखा जाता। पशु जगत तथा मानव जगत का यह अन्तर हमारी स्वार्थबुद्धि का ही प्रमाण है। प्रकृति की पक्षपात रहित व्यवस्था में जिस प्रकार मनुष्य को जीवित रहने का स्वत्व है उसी प्रकार पशु पक्षी को भी। आश्चर्य की बात तो यह है कि भारतीय संघ शासन जिसके पास सचिव से लेकर निम्न श्रेणी के लिपिकों की एक बहुत बड़ी सेना है। प्रत्येक प्रकार के माहिती दर्शक आंकड़े (चाहे वह अर्धसत्य ही क्यों न हो।) विद्यमान हैं और विशेष बात यह है कि आंकड़ों के जाल से अपना पक्ष सिद्ध करने की बुद्धि के धनी उसकी सेवा के लिये तत्पर हैं फिर भी शासन ने कभी तथ्यों के आधार पर मूल्यांकन करके आर्थिक दृष्टिकोण अभी तक प्रस्तुत नहीं किया, न देश की जनता को आश्वस्त किया कि उसका दृष्टिकोण सत्य है। मोटे तौर पर यह स्पष्ट है कि अनुपयोगी पशु से भी समाज को अपनी सामग्री मिलती है जो कि उसके भोजन के मूल्य से कहीं अधिक हो जाती है।

इस सत्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि गौ माता में देवता का दर्शन धार्मिक जनता का उसके साथ स्वार्थ सम्बन्ध अधिक रहा। यह कई प्रतिशत में सत्य होते हुए भी पूर्ण सत्य नहीं है। कई ऐसे धर्मभीरु व्यक्ति हैं कि गौमाता की सेवा अत्यन्त निष्ठा से करते हैं तथा उसके अनुपयोगी हो जाने पर भी निष्कासित नहीं करते किन्तु यह भी सत्य है कि कई व्यक्ति उसके अनुपयोगी हो जाने पर नाम मात्र का मूल्य लेकर पेशेवर व्यक्तियों के हाथ में विक्रय कर देते हैं। गौमाता में वास्तविक देवत्व का निवास है यह कथन तर्कपूर्ण नहीं है; फिर भी पशु होते हुए भी उसमें देवत्व अवश्य है। यही कारण है कि मानव समाज ने उसके सामाजिक उपकार को ध्यान में रखकर उसके देव निवास की भावनापूर्ण कल्पना की और उसके आधार पर भारतीय प्राचीन साहित्य में

पौराणिक आख्यानों की रचना की गई। सत्य बात यह है कि इस देश में शाकाहार को प्रोत्साहन का श्रेय यदि किसी को है तो वह गौमाता को है। कृषि उत्पादन में वृद्धि उसके सपूतों द्वारा ही सम्भव हुई है। जैनधर्म के तीर्थंकर भगवान ऋषभ देव ने जब कृषि की शिक्षा मनुष्य समाज को दी तो अहिंसक वृत्ति वाले मानव के हृदय मे यह आशा होगी कि मानव समाज शाकाहारी हो जायगा। भगवान ऋषभदेव अपने ऐतिहासिक काल के ऐसे महापुरुष हैं जिनका अस्तित्व तथा जिनकी महानता व भारतीय प्राचीन साहित्य (जैन तथा जैनेत्तर) मे स्वीकार की गई है। सम्भवतः भगवान ऋषभ देव का चिन्ह बैल इसी कारण ही हो गया। यही नहीं भगवान कृष्ण का गौप्रेम तथा गौसेवा को कौन नहीं जानता। भगवान नेमीनाथ जिनके चचेरे भाई भगवान कृष्ण थे, ने जहाँ प्राणी पशु जगत पर करुणा-रस बहाया वहाँ भगवान कृष्ण ने गौ को अत्यधिक महत्व दिया। हमारी भारतीय परम्परा के अनुरूप जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के प्रमुख उपासक आनन्द के यहाँ बहुत संख्या में पशुपालन होता था। यह सर्व विदित है किन्तु इस कटुसत्य को हमें भी स्वीकार करना चाहिए कि जन साधारण की गौ भक्ति केवल शाब्दिक रह गई है। वही गौ भक्त यदि कोई गाय उसके मकान में घुसपर अनाज अथवा मूल्यवान वस्तु का नाश करे तो इतनी निर्दयता से उसे भगाता है कि गाय की कमर टूट जाती है। लेखक का यह तात्पर्य नहीं कि गाय को मकान से बाहर न निकाला जावे किन्तु उसे निर्दयतापूर्वक निष्काषित करने पर आपत्ति है, पशु के भीतर भी आत्मा का अस्तित्व है। उसके साथ सहृदयता का व्यवहार उसके प्रति स्नेहशील बनाता है। कई स्थान पर देखा जाता है कि पशु अपने दयालु स्नेहालु व्यक्ति के साथ घुल-मिल जाता है कि उस मनुष्य के अभाव मे वह पशु कर्तव्यमूढ़ हो जाता है, खाना पीना छोड़ देता है। हमने पशु के साथ स्नेह करना नही सीखा है। कितने स्थान हैं जहाँ पशु समझा-बुझा कर शिक्षित किये जाते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर बड़ी निराशा होती है। शासन का दृष्टिकोण आर्थिक पहलू से अधिक प्रभावित है किन्तु हमारा दृष्टिकोण भी चाहे वह शासकीय नीति के कारण व्यवस्था से ही क्यों न हो, कम आर्थिक नहीं है।

ऐसी दशा में शासन तथा जनता दोनों को कर्तव्य निभाना है। उपासक आनन्द आदि के अनुसार देश के प्रत्येक घर मे अपने साधन-सुविधा से अनुसार पशु पालन हो, उसकी उपयोगिता की वृद्धि के प्रयत्न हों, अनुपयोगी होने पर भी निर्दयता से निष्काषन न करें आदि कर्तव्य जनता को निभाना होगा। तात्पर्य यह है कि—

१. शासन को संविधान में संशोधन कराकर सारे देश में पूर्ण रूपेण गोवध-बन्दी कराना चाहिये।
२. शासन को गौरक्षण, गौ-संवर्धन केन्द्र स्थापित करके सामाजिक कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त करके गौ माता की उपयोगिता में वृद्धि करना चाहिये।

इसी प्रकार

३. जनता को अपने साधन सुविधा के अनुसार गौ-पालन करना चाहिये उसका वैधानिक रीति से पोषण करके उसकी उपयोगिता में वृद्धि करना चाहिये।
४. निरुपयोगी हो जाने पर भी उसकी सेवा की जानी चाहिये, किसी भी दशा में पेशेवर को विक्रय नहीं की जानी चाहिये।
५. यह निश्चय करना चाहिये कि गाय के चमड़े (जीवित) से निर्मित वस्तु का उपयोग नहीं करेंगे आदि :

यह निश्चित है कि यदि शासन को देश में अहिंसक वातावरण का निर्माण करना है देश में फैली हुई हिंसापूर्ण कार्यवाही, अराजकता को समाप्त करना है तो देश में सात्विकता लाना होगा। मनुष्य में सात्विकता का प्रादुर्भाव तामसी तथा राजसी आहार, विलासपूर्ण जीवन पाश्चात्यपद्धति से आकृष्ट हुए विचारों से परिपूर्ण नहीं हो सकेगा। सात्विक आहार प्राप्ति के लिए कृषि उत्पादन और उसके लिये भी गौवंश का समुन्नत किया जाना अनिवार्य है।

यदि शासन ने भारतीय जन-भावना का आदर करके शीघ्र आवश्यक कार्यवाही की तो देश में उज्जवल भविष्य का सूत्रपात होगा। कोटि-कोटि कण्ठ शासन की सराहना करेंगे अन्यथा भविष्य के सम्बन्ध में कौन क्या कह सकता है? काश, हमारा शासन भारतीय भावनाओं के धरातल से सोचना आरम्भ करे।

५

गौवध-निषेध; प्रश्न का एक पहलू

भारत के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् विशेषकर व्यापक निर्वाचन के समय से भारतीय संघ शासन के 'गौहत्या' पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए देश के राजनीतिक दल माँग करते जा रहे हैं। यह सत्य है कि देश के संविधान में इस सम्बन्ध में कुछ निर्देश विद्यमान हैं तथा इस प्रकार का प्रतिबन्धात्मक कानून का निर्माण राज्य-शक्ति के दायरे के भीतर है किन्तु इस प्रश्न की राजनीतिक अथवा साम्प्रदायिक पहलू की भयंकरता Serious ness को ध्यान में रखकर राज्य शासन ने इस सम्बन्ध में कानून का निर्माण करने का साहस नहीं किया। कुछ राज्यों ने साहस किया तो संवैधानिक आपत्ति उठाकर प्रभावित व्यक्तियों ने उसे देश की सर्वोच्च न्यायालय में चुनौतियाँ दी तथा वहाँ पर संबंधित कानून के कुछ अश संविधान के विपरीत करा दिये। (देखिये १९५८ आल० इन० रिपोर्टर ७११, १९६१ आल० इन० रिपोर्टर ४४८) परिणाम यह रहा कि स्थिति यथावत रही और प्रत्येक व्यापक निर्वाचन के समय यह प्रश्न राजनैतिक पद प्राप्ति का साधन बताया जाता रहा। यह भी सत्य है कि कांग्रेस के भीतर भी कुछ व्यक्ति इस मत के थे किन्तु यह कटु सत्य स्वीकार करने में इन्कार नहीं किया जा सकता कि कांग्रेस के भीतर सर्वोच्च शक्तिशाली व्यक्तित्व इस मत का विरोधी रहा इसी कारण "गौहत्या" सम्बन्धी प्रश्न को कांग्रेस के भीतर के खेमे में बल नहीं मिल सका, विशेषकर इस लिहाज से कि यदि प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है तो विभिन्न राजनैतिक दल (कांग्रेस विरोधी) को इसका श्रेय मिलेगा तथा व्यापक निर्वाचन के समय वह इसका लाभ उठावेंगे।

किन्तु यह तो राजनीति का एक विकृत पहलू है। मेरे निकट तो यह प्रश्न शुद्ध हिंसा अहिंसा का है। भारतीय संस्कृति विशेषकर श्रमण-संस्कृति में "अहिंसा" दुग्ध शर्करावत् मिली हुई है उसको पृथक नहीं किया जा सकता। जैन संस्कृति में गाय ही क्यो; कोई अन्य पशु-पक्षी तक की हिंसा को भी उचित

नहीं माना जाता किन्तु बहुत प्राचीन काल से भारतीय जन-जीवन में कई दृष्टि से 'गौ' का जो स्थान है, उसका जो उपकार है; उसको दृष्टिगत रखते हुए यदि जैन समाज भी उस "गौ' को "माता" के रूप में मान्य करता है उसे वैदिक मान्यता मुताबिक "अहन्या" मानता है तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के आन्दोलन में एक जैन साधु का सक्रिय सहयोग अथवा अनशन सम्भावना की घोषणा उचित है,या संयम की मर्यादा के प्रतिकूल तो नहीं है ? यह विचारणीय प्रश्न है। दूसरे शब्दों में जैनसाधु को अहिंसा का पालन केवल नकारात्मक होगा,या आवश्यक होने पर हिंसा-विरोध रूपी सकारात्मक कार्य भी यह कर सकेंगे, स्थिति के एक असहाय दर्शक रहेंगे, या स्थिति सुधारने में अपना बहुमूल्य योगदान भी कर सकेंगे, संक्षिप्त में प्रश्न निवृत्ति प्रवृत्ति का है। जैन साधु का जीवन केवल निवृत्ति-परक है या निवृत्ति की अक्षुण्णता रखते हुए प्रवृत्ति-परक भी है ?

यदि जैन धर्म के पिछले २॥ हजार वर्षों के इतिहास की ओर दृष्टिपात करें तो हमको इन प्रश्नों के सम्बन्ध में काफी प्रकाश मिलता है। भगवान महावीर यज्ञयाग के विरोधी, अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा के संस्थापक,जन्मना वर्ण-व्यवस्था के विरोधी तथा उसके स्थान पर कर्मणा वर्ण-व्यवस्था के हामी थे। भगवान महावीर के जमाने में उन्होने इन उदार सिद्धान्तों की व्यवस्था केवल उपदेश देकर नहीं की अपितु आवश्यक होने पर यज्ञयाग तथा जन्मना व्यवस्था का विरोध किया अपने संघ के अन्य साधु मुनिराजों को उन स्थानों पर भेजा। अस्पृश्यता का विरोध कराया। चाण्डाल कुलोत्पन्न किन्तु भगवान महावीर के संघ में दीक्षित महानसंयम आराधक हरिकेशी तथा मैतार्य मुनि के उदाहरण हमारे सम्मुख हैं जिन्होंने ब्राह्मणों के द्वारा आयोजित यज्ञयाग के स्थान पर जाकर सक्रिय विरोध किया, उन जाति-दम्भ से पीड़ित ब्राह्मणों को मानवता का पाठ पढाया। यही दो उदाहरण इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि जैन साधु अन्याय का असहाय दर्शक मात्र नहीं हैं, अपितु वह उसका सक्रिय विरोध कर सकता है। वास्तव में निवृत्ति तथा प्रवृत्ति जीवन के अविभाज्य अंग है। जीवन में जहाँ अनीतिमय बातों की निवृत्ति आवश्यक है वहाँ सत्कार्यों की प्रवृत्ति भी आवश्यक है। मैं अनुभव करता हूँ कि गत कुछ शताब्दियों से जैनियों की अहिंसा केवल निवृत्ति-परक तथा नकारात्मक रुख के कारण शक्तिशाली नहीं रही है। जैन साधु केवल "अहिंसा" का शाब्दिक तथा मौखिक उपदेश देते हैं किन्तु अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध विरोध तथा विद्रोह की प्रवृत्ति नहीं करते। यही कारण है कि जैन अहिंसा को शताब्दियों से "कायरता" के समकक्ष मानलिया गया है। महात्मा गाँधी जैसे तेजस्वी नेतृत्व ने जहाँ व्यक्तिगत जीवन से "अहिंसा'

को सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में उपयोगी बना दिया वहाँ अत्याचार का सक्रिय विरोध व मुकाबला करके उसे जीवन दिया है, शूरवीरता का पद दिया है। मुनि श्री सुशीलकुमार जी इस अहिंसक आन्दोलन में सक्रिय योग-दान करके सफल बना सके तो मेरा निश्चित विश्वास है कि वह जैन अहिंसा को मजबूत बना सकेंगे तथा विश्व में अहिंसा के मूल्य की पुनः स्थापना हो जावेगी। वह कायर पुरुषों की नहीं अपितु शूरवीरों की अहिंसा हो जावेगी।

इस अवसर पर मैं एक बात जैन समाज से भी कहना चाहता हूँ। वह यह है कि वह स्वय इस प्रकार की वस्तुओं का उपयोग स्वेच्छा से त्यागें कि जिनमें पशु-पक्षियों के जीवित चमड़े का उपयोग किया जाता है। यदि वह इस प्रकार का सामूहिक अभियान चला कर सामूहिक प्रतिज्ञा नहीं लेता है तो मुनि श्री को जैन समाज के विरुद्ध भी सत्याग्रह का आश्रय लेकर इस प्रवृत्ति को समाप्त कराना चाहिये। आज की स्थिति का चित्रण कवि के निम्न शब्दों में: —

फैशन के हित मारी जाती, आज गर्भिणी गायें अब।
वानरदल-वध कर बनती नर के लिये दवायें अब॥
और उदर हित जो पशु हत्या होती वह अन गिनती है।
किन्तु न कोई शासन सुनता उन मूकों की विनती है॥
अतः सभी से कहो, स्वार्थहित मत, मन ऐसे क्रूर करो।
उठो अहिंसा के वीरो हिंसा के गढ़ चकनाचूर करो।
ध्यान लगाया करते थे मुनि जिन नदियों के घाटों पर॥
मदिरा बशी लिये खड़े रहते अब उनके घाटों पर॥
जिन तालाबों में बोये जाते रहे सिंगाड़े भर।
वहीं मछलियां मारी जाती अब वर्षा जाड़े भर॥
अतः शासकों को अब उनकी हित रक्षा हित मजबूर करो।
उठो अहिंसक वीरो! हिंसा के गढ़ चकनाचूर करो॥

६

राष्ट्रीय जीवन और हमारा दायित्व

कवि ने कहा है कि :

"स्वराष्ट्र चर्चा रहितानि यानि, स्मशान तुल्यानि गृहाणि तानि"

कवि महोदय तो यह स्वप्न देखते हैं कि देश में कोई घर ऐसा न रहे जो राजनीति की चर्चा से शून्य हो अथवा जो घर इस प्रकार की चर्चा से शून्य हो वह स्मशान कहलाये। बात वास्तव में सत्य है, आज की बीसवीं शताब्दी में किसी राष्ट्र निवासी को राजनीति से नीरस नहीं रहना चाहिये। वह जमाना बदल गया जब यह कहकर राजनीति की खिल्ली उड़ायी जाती थी कि "कोउ नृप होय हमें का हानि" आज के युग में वह हानि प्रत्यक्ष ही दीख पड़ती है। इस युग में राजनीति के बिना मनुष्य जिन्दा नहीं रह सकता किन्तु आश्चर्य की बात है कि जैन समाज राजनीति से इतना उदासीन क्यों है? जैन समाज का भारतीय राजनीति में क्या स्थान है इस पर विचार करना इस लेख में अभीष्ट है। पाठकों से अविदित नहीं कि भारत की जन संख्या में जैन समाज का स्थान कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। जैन समाज संख्या में कम होते हुए धन में तथा व्यापारिक कुशलता में इतना बढ़ा चढ़ा है कि उसकी ओर उपेक्षा नहीं की जा सकती। भारतीय व्यापार का बहुत सा अंश जैन समाज के हाथ में है किन्तु इतना महत्वपूर्ण समाज होते हुए भी आप भारतीय महासभा के इतिहास को उठाकर देख लीजिये जैन समाज ने भारतीय राजनीति में क्या कार्य किया है पता लग जायगा। पूर्वजों के गुणगान तो इतिहास में मिल जावेंगे, हम भी बड़े गर्व के साथ भामाशाह इत्यादि महानुभावों के नाम लेंगे किन्तु आधुनिक इतिहास में कुछ नहीं मिलेगा। भारतीय महासभा जब से स्थापित हुई है उसकी नीति में बराबर परिवर्तन होता रहा है। कभी वह कुछ इने गिने शिक्षितों की मांग सरकार के समक्ष रखने वाली संस्था मात्र रही। समय ने पलटा खाया तो वह अपनी मांग को अधिक दृढ़ता के साथ

सरकार के समक्ष रखने लगी । समय ने फिर पलटा खाया भारतीय महासभा दिन प्रतिदिन केवल कुछ शिक्षितों की संस्था मात्र न रहकर सर्व साधारण की एक मात्र संस्था बनने लगी और उसने Swarajya is our birth right की आवाज बुलन्द की और उसने समय-समय पर अहिंसात्मक युद्ध लड़े जिनमें असहकार तथा सत्याग्रह के युद्ध तो इतने भयंकर हुए कि अर्द्धनग्न फकीर द्वारा संचालित इन युद्धों से ब्रिटिश सरकार के आसन कंपायमान होने लगे । संक्षेप में यह कि जैन समाज ने भारतीय राजनीति में ऊपर निर्दिष्ट समय में से कभी भी महत्वपूर्ण भाग नहीं लिया, वह तो बस श्री मैथलीशरण गुप्त जी के शब्दों में "बस हाय पैसा हाय पैसा" करता रहा । यह बात नहीं कि भारतीय राजनीति में व्यापार विषय को कोई दखल नहीं है बल्कि पाठकों को ज्ञात होगा कि कभी कभी तो भारतीय महासभा ने व्यापार के कई प्रश्नों को राष्ट्रीय हानि-लाभ की दृष्टि से अपने हाथ में लिया है । हिन्दू महासभा के इतिहास में तो नाम लेने को श्री पद्मराज जैन आदि के नाम मिल जाते हैं किन्तु राजनीतिक जगत मे कोई ऐसे नाम जैन समाज के नहीं मिलते जिनकी भारतीय राजनीति में खूब ख्याति हो । यों तो प्रान्तीय कार्यकर्ता कुछ हो सकते हैं । जैन समाज को अब इस ओर उदासीन नहीं रहना चाहिये यदि हम राजनीतिक वातावरण से इसी प्रकार उदासीन रहे तो हमारे अधिकार हैं वह भी जाते रहेंगे ।

●

७

अभाव पीड़ित मानव-वेदना

उर्दू के एक कवि ने कहा कि :

> **जिन्दगी क्या है अनासार की जहूरे-तरतीब ।**
> **मौत क्या है उन्हीं अजज़ा का परेशां होना ।।**

उक्ति में कवि ने जीवन तथा मृत्यु का विश्लेषण करके बताया है कि मनुष्य का जीवन पंच तत्व का व्यवस्थित संमिलन है और काल प्रभाव से पंच तत्व एकत्रित रहने में विवशता अनुभव करते हैं तब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। भारतीय विचारकों में से कुछ ने आत्मा का अस्तित्व शरीर से पृथक् माना तथा कुछ ने केवल पंच तत्व के एकीकरण से निर्मित शरीर को ही सब कुछ निरूपित किया। जो कुछ भी हो इतना स्पष्ट है कि जिन्दगी में चेतना है। जीवन का लक्ष्य ही चैतन्य है, और मृत्यु में उसका अभाव है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने अपनी आशा शतायु पूर्ण जीवन तक केन्द्रित की, हालांकि वर्तमान युग के महान् संत गांधी जी ने अपनी इच्छा १२५ वर्ष की एक समय बताई थी। भारतीय ऋषि मुनियों ने जीवित रहने की कला का संसार को ज्ञान कराया। किस प्रकार मनुष्य कलापूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है, अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थिति में हर्षशोक रहित सात्विक जीवन व्यतीत करना कलापूर्ण जीवन कहा जा सकता है। अज्ञानी मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियों में शोकाकुल हो जाता है। किन्तु ऋषि मुनियों ने सुकृत तथा दुष्कृत कर्म जन्य अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थिति अथवा सुख-दुःख को हर्ष तथा शोक की भावना से रहित सहन करना उच्चतम जीवन निरूपित किया। इसी कारण उन्होंने जीवन तथा मृत्यु को अधिक महत्व नहीं दिया। जब तक जीवन है निष्काम काम करो, जब मृत्यु आ जाये सहर्ष उसका वरण करो। गीता-कार भगवान श्री कृष्ण ने इसलिये 'मृत्यु' को वस्त्र परिवर्तन की उपमा दी।

प्राचीन वस्त्र त्यागकर नवीन वस्त्र धारण की क्रिया का नाम मृत्यु तथा उसके परिणाम स्वरूप पुनर्जन्म बताया।

> **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**
> **तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यानि संयाति नवानि देही।।**
>
> — गीता अध्याय २, श्लोक २२

इसी प्रकार कबीर ने भी जीवन धारणा को 'चादर' बताकर यत्नपूर्वक ओढ़ने तथा मृत्यु के समय उसे वापसी का उपदेश दिया। यदि विचारपूर्वक अनुशीलन किया जाये तो चिर निद्रा का नाम मृत्यु है। वैसे आंशिक मृत्यु तो हमारी प्रतिदिन होती है, जब हम निद्रा लेते हैं।

इसी प्रकार के प्रेरणास्पद वचनों तथा उपदेशों के कारण मनुष्य ने मृत्यु को साधारण सी-चीज समझा और आत्मशुद्धि के लिये, वीरता के लिये, उत्सर्ग के लिये अथवा अन्य कारणों से प्राणत्याग में हिचकिचाहट नहीं की। जैनियों के संथारे के विधान का उदाहरण अत्यन्त शानदार है। जब मनुष्य यह अनुभव करे कि मेरी जीवनशक्ति लगभग समाप्ति पर है तब वह संल्लेखना कर जीवन भर के उचित अनुचित कार्यों का पर्यवेक्षण करके जीवन तथा मृत्यु की आकांक्षा के बगैर सब कुछ त्याग देता है। भोजनादि नहीं करता, यह मृत्यु का वरण है, कि बिना किसी हिचकिचाहट के वर्तमान कठोर तथ्य को स्वीकार करना है। काफी समय पूर्व की महिलाओं की, राजपूत महिलाओं की "जौहर प्रथा" वीरता की दृष्टि से अनुपम मिसाल है। जब राजपूत महिला अपने पति को युद्ध मे परास्त होते देखती और उसे युद्ध विजय की कोई आशा नही रहती तब वह स्वय चिता मे आग लगाकर स्वयं भस्म हो जाती थी। सती प्रथा में भी महिला अपने पति के साथ ही प्राणों का उत्सर्ग कर देती थी, 'काशी करवत' की प्रथा भी हमारे देश में रही। उपरोक्त उदाहरणों से यह भली भांति प्रकट है कि मनुष्य ने स्वयं के प्राणों का त्याग एक साधारण घटना समझी।

जहाँ पर इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान हों वहा पर आज के समाज के कल्याण के दावेदार राज्य ने मनुष्य को प्राणत्याग के अधिकार से वंचित कर दिया, हालांकि कभी-कभी उसने अपनी संकुचित राष्ट्रीयता अथवा राजनीतिक स्वार्थ के लिये युद्ध घोषित होने पर सैनिक को युद्ध में शत्रु का प्राण लेने तथा आवश्यकता होने पर स्वयं का प्राण उत्सर्ग करना एक पवित्र कर्तव्य बतलाया। उसने समाज को व्यवस्थित चलाने के नाम स्वयं निर्मित कानू द्वारा चाहे किसी भी विवशता के कारण ही आत्महत्या को निषिद्ध करारदे दिया। बेचारे

राज्य की शक्ति के यह तो परे था कि वह आत्महत्या सफल हो जाने पर सम्बन्धित मनुष्य को दण्डित करता किन्तु उसने असफलआत्महत्या की दशा में मानव को दण्डित करने का विधान कर दिया। राज्य द्वारा निर्मित कानून का समर्थन कुछ धर्मशास्त्रों ने भी किया और उन्होंने आत्महत्या को पाप बताया। यह बताया गया कि व्यक्ति एक अंग है समष्टि का, इसलिये उसे समष्टि के हित में जीवित रहना चाहिये किन्तु राज्य तथा समाज ने व्यक्ति को जीवित रखने के उत्तरदायित्व को नहीं निबाहा। वास्तव में राज्य समाज-हित में व्यक्ति से उसे जीवित रहने तथा कार्यरत रहने की आशा रखता है तो उस पर यह भी जिम्मेदारी है कि वह उसे जीवित रहने के साधन जुटा दे, किन्तु आज की स्थिति यह है कि राज्य व्यक्ति को पीड़ित देखकर भी उसके अभाव की पूर्ति करना जरूरी नहीं समझता, उसकी भूख मिटाने की जिम्मेदारी नहीं लेता। जब कभी देश में भुखमरी फैलती है तब राज्य के कर्ता-धर्ता शब्द जाल से अपने बचाव में कहते हैं कि अनाज तो देश में है, किन्तु मनुष्य की क्रयशक्ति का ह्रास हो गया इस कारण वह क्रय नहीं कर पा रहा है, अथवा भुखमरी के कारण घटित मृत्यु को अन्य कारणों के परिणाम स्वरूप सिद्ध कर देते हैं किन्तु राज्य ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं करता कि कोई व्यक्ति बुभुक्षित न रहे। राज्य भिक्षावृत्ति-निरोधक कानून बनाकर प्रगतिशील शासन का दावा कर सकता है किन्तु उसने क्या ऐसी परिस्थिति निर्माण कर दी है कि व्यक्ति को भिक्षा याचना की आवश्यकता नहीं रहे समाज भी मनुष्य को भूख से तड़पता देख सकता है, जब तक मनुष्य ने प्राण त्याग नहीं किये तब तक उसकी उसे चिन्ता नहीं है किन्तु जैसे ही प्राण त्याग हुए कि वह कफन तथा दाहसंस्कार के लिये समाज से चन्दा एकत्र करके दाहसंस्कार का प्रबन्ध करेगा।

वास्तव में राज्य तथा समाज यदि आत्महत्या को कानून द्वारा निषिद्ध मानता है, आत्महत्या को निराशाजनक मानता है तो उसका यह पवित्र कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के जीवन पालन का भी प्रबन्ध करे, आज के इस कल्याणकारी राज्य Welfare State निर्माण के नारे के युग में सद्भाव तथा अभाव की खाई चौड़ी होती आरही है, उस खाई को पाटने में अभी तक राज्य तथा समाज सफल नहीं हो सका, आज का भूखा मानव कवि के निम्न शब्दों में अपनी वेदना व्यक्त करता है—

भूखे पेट देशभक्ति सिखाने वालो।
भूख इंसान को गद्दार बना देती है॥

वास्तव में पेट का गड्ढा जब तक न भर जाय तब तक मनुष्य को सामाजिक

जिम्मेदारी, पाप पुण्य का ख्याल नहीं रह सकता। इसलिये समाज विषमता तथा तज्जनित घृणा द्वेष के युग में समानता, स्नेह तथा प्रेम के वातावरण निर्माण का महान कार्य राजनैतिक शक्ति के बगैर युगद्रष्टा आचार्य बिनोबा भावे कर रहे हैं। भूखा मानव तो अनुभव करता है और ऊँचे स्वर में कहता है कि यदि आत्महत्या पाप है, सामाजिक जिम्मेदारी से पलायन है तो कोई हर्ज नहीं किन्तु मेरे पेट का गड्ढा पूरा नहीं हो रहा है इस कारण इस चिर निद्रा के अतिरिक्त मेरा कोई साथी नहीं है, आखिर सामाजिक जिम्मेदारी निभाकर पुण्य लूटकर मुझे देवत्व प्राप्त होता हो तो मुझे स्वीकार नही है। मैं तो इन्सान बने रहना चाहता हूँ, इसलिये यह पाप भी मुझे कर लेने दो, वह कहता है—

मैं कभी मंदिर में चला जाता हूँ,
कभी पूजा, कभी रोजा, कभी सिजदा किये जाता हूँ ॥
मैं कभी इन्सान से देव न हो जाऊं,
इसलिये कभी पाप भी कर लेता हूँ।

वास्तव में मनुष्य आत्महत्या को पुण्य नहीं मानता, वह पलायनवादी भी नही है, अपने प्राणों का त्याग स्वयं किसी उच्च आदर्श तथा सिद्धान्तों से प्रेरित होकर किया है, इस कारण पलायनवादिता तथा परिणामस्वरूप आत्महत्या से उसे प्रेम नहीं है किन्तु वह देखता है कि राज्य तथा समाज एक तरफा जिम्मेदारी चाहता है तो उसे खेद होता है। राज्य व्यक्ति पर उसे जीवित रहने की जिम्मेदारी सौंपता है किन्तु स्वयं जीवनयापन के साधन जुटाने तथा जीवित रखने की जिम्मेदारी नही लेता तो विवश होकर वह प्राणत्याग का अधिकार चाहता है। वह राज्य को संबोधन करके कहता है—

तेरे कहने से हम जी रहे हैं,
तेरे कहने से हम मर रहे हैं।
अब तो तू मान जा जालिम,
तेरे इशारों पर हम चल रहे हैं।

किन्तु आज देश पर विपत्ति आई है, साम्राज्यविस्तारवादी चीन ने हमारी मातृभूमि पर आक्रमण करके हमको चुनौती दी है। उसी स्थिति में आज मानव अपने प्राणत्याग के अधिकार को नहीं चाहता। वह राष्ट्र की खातिर जीवित रहकर राष्ट्र सेवा करना चाहता है, चाहे उसे भूखे रहकर भी जीवित रहना पड़े। यह वह अवश्य चाहता है कि राष्ट्र पर से जब विपत्ति समाप्त हो जावे तब राज्य उपरिनिर्दिष्ट जिम्मेदारी को उठाकर मनुष्य को जीवित रहने के लिये जीवन-यापन के साधन जुटाने का कार्य सर्वप्रथम अपने हाथ में ले। ●

८

राष्ट्र भाषा तथा राष्ट्रीयता

मानव को अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषण का आश्रय लेना होता है इसलिये "भाषा" मानव की अपने विचार दूसरों तक पहुँचाने का माध्यम कहा जाता है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि मनुष्य को अपने विचार जिन लोगों तक पहुँचाना है, वह भाषा से परिचित हो कि जिसमें विचार प्रदर्शित किये जा रहे हैं। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि हमारे देश की जनता में से बहुसंख्य भाग "हिन्दी" से परिचित है, अंग्रेजी से नहीं। इस देश की आबादी में से १,२ प्रतिशत लोग ही अँग्रेजी से परिचित हैं, इस कारण बहुसंख्यक समाज पर अंग्रेजी का लादा जाना न केवल अनुचित है बल्कि पाप है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजी ने एक बार कहा था कि :—

"राष्ट्र भाषा राष्ट्र का जीवन है। बिना राष्ट्र भाषा के भारत पूर्ण स्वाधीन नहीं माना जा सकता है। वह स्वतन्त्रता अधूरी रहेगी, इसलिए राष्ट्र-भाषा का सीखना सभी का परम कर्त्तव्य होना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते वे अपने कर्तव्य से पीछे रह जाते हैं।"

इसी विचार सारणि के अनुसरण में हमारे देश की विधान निर्मात्री परिषद ने हिन्दी को राष्ट्र की भाषा घोषित की तथा शासकीय कामकाज में अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ले सके इसलिए १५ वर्ष की समयावधि निश्चित की। इस समयावधि के पूर्ण होने के पूर्व ही राजनीति-विशारदों ने भाषा के प्रश्न को दूसरे दृष्टिकोण से देखना प्रारम्भ कर दिया। कुछ प्रदेश के राजनीतिक लोगों ने देश की अखण्डता का भय बताकर पूरे देश के लिए राष्ट्र भाषा हिन्दी का विरोध किया, परिणाम स्वरूप वातावरण बड़ा क्षुब्ध हो गया। और भारत शासन ने राज भाषा विधेयक पास कराकर हिन्दी को सम्पर्क भाषा कहा। उसके पश्चात् कुछ राजनीति-विशारदों ने इसे काम चलाऊ भाषा कहा।

तात्पर्य यह है कि जिस उदात्त भावना से ओत-प्रोत विधान निर्मात्री परिषद ने उपरोक्त निश्चय किया तथा सारे देश ने उसे मान्यता दी वह उदात्त भावना पवित्र विचार कायम नहीं रह सके । आज भी शासकीय कामकाज अधिकतर पराई भाषा में ही चल रहा है ।

यह भी एक सुविदित तथ्य है कि संघ शासन अथवा राज्य शासन राष्ट्र भाषा हिन्दी को अपनाने में चाहे जितनी शिथिलता, लापरवाही बताये किन्तु देश की कोटि-कोटि जनता उसे अपना चुकी है । चाहे शासकीय अधिकारी उसे सम्पर्क भाषा के नाम से संबोधित करें चाहे काम चलाऊ किन्तु वह जन-जन के द्वारा अपना लेने के कारण "राष्ट्र भाषा" के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी है । इस लम्बे चौड़े देश में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक चले जाने पर हिन्दी के द्वारा कारोबार चलाया जा सकता है । इससे किसी प्रान्तीय भाषा का अहित होगा यह कल्पना ही आमूल गलत है । एक बार राष्ट्रपिता गांधी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तभाषा, सारे देश के पारस्परिक व्यवहार के लिए हिन्दी, तथा अन्तर्राष्ट्रीय उपयोग के लिये अंग्रेजी का व्यवहार उचित होगा ।"

पंचम आयाम

☐ भगवान महावीर

१

क्रान्तिदूत महावीर

१. उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि ने किसी समय निम्न पंक्तियों के द्वारा एक दृढ-प्रतिज्ञ नवयुवक के हृदय की प्रतिज्ञा को व्यक्त किया था। उक्त नवयुवक के हृदय में धार्मिक तथा समाजिक क्षेत्र की भ्रांतिमूलक धारणाओं, अन्धविश्वास तथा विषमता के प्रति अत्यन्त असन्तोष व्याप्त था और फलस्वरूप उसके हृदय मे उक्त परिस्थितियों को परिवर्तित करने के लिए अत्यन्त वेग से विचार परिपक्व हो रहे थे, इसी कारण उक्त नवयुवक के हृदय के भावों को उर्दू का कवि निम्न शब्दों में व्यक्त करता है :—

काम है मेरा बगावत नाम है मेरा शबाब।
मेरा नारा इन्कलाबो, इन्कलाबो, इन्कलाब ॥

मेरा अनुमान है कि ढाई हजार वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को इस विश्व में जिस महान व्यक्ति का अवतरण हुआ इस महान व्यक्ति के हृदय में युवावस्था प्राप्त होने पर इसी प्रकार के विचार चल रहे थे। भगवान महावीर का जन्म बिहार राज्यान्तरगत वैशाली नामक स्थान पर ईसा से छः शताब्दी पूर्व हुआ। भगवान महावीर क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे तथा उनका वंश ज्ञातृ-वंश के नाम से प्रसिद्ध था। वैशाली वज्जियों की राजधानी थी, भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ वैशाली के राजा थे, किन्तु तत्कालीन राज्य व्यवस्था निर्वाचित गण-प्रतिनिधियों के द्वारा होती थी जिसमें राजा को हस्तक्षेप का अधिकार नाम-मात्र का था। उस समय की धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थिति इस प्रकार की हो चुकी थी कि जिसमें आमूल परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होती थी। धर्म के नाम पर ढोंग का व्यवहार होता था। धर्म धार्मिक रूढ़ियों का पर्याय-वाची शब्दमात्र होता, धर्म के नाम पर हिंसा का ताण्डव होता था, मनुष्य-मनुष्य में भेद-भाव होता था, विशिष्ट जाति में उत्पन्न व्यक्तियों को सामाजिक समानता का दर्जा प्राप्त नहीं था। शूद्र वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति को धर्मशास्त्र के

पठन-पाठन का अधिकार नहीं था। महिलाओं को पुरुषों से निम्नकोटि का समझा जाता था। इस प्रकार की धार्मिक व सामाजिक परिस्थिति को देखकर उनके प्रति विद्रोह की भावना निश्चय रूप से युवक महावीर के हृदय में जागृत हुई और इसी कारण उन्होंने अपनी पूर्ण यौवनावस्था में (३० वर्ष की आयु में ही) सामाजिक विषमता, सामाजिक अन्याय तथा अन्ध विश्वास को समाप्त करने के लिए विद्रोह की भावना को लेकर एक सन्यासी के रूप में जीवन प्रारम्भ किया, इसमें सन्देह नहीं कि भगवान महावीर का हृदय उस समय की परिस्थित को लेकर विह्वल हो रहा था और इसीलिये उन्होंने विषमता,अन्याय तथा अन्धविश्वास को समाप्त करने के लिए धर्मयुद्ध करने का निश्चय किया।

(२) इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये साधना की आवश्यकता है। तपस्या तथा साधना के बिना कार्य की सफलता की आशा उचित नहीं होती और इसी कारण भगवान महावीर ने साधक रूप में जीवन प्रारम्भ किया। बारह वर्ष तक भयानक कष्टो को सहन करते हुए यत्र-तत्र विचरण करते रहे। इस बारह वर्षीय साधक जीवन में जिन कष्टों-परिश्रमों को सहन किया उसका वर्णन लेखनी द्वारा सम्भव नहीं है भयानक उपसर्ग होते हुए भी अपनी लक्ष्य साधना में विचलितता नहीं आने दी। अचल व अटल रूप से वीरतापूर्वक सहन करते रहे। इस साधना-काल में उन्होंने कभी उपदेश नहीं दिया, साधना के रूप में जो तपस्या की, उसके परिणामस्वरूप उन्हें सर्वोच्च ज्ञान Supreme enlighitment प्राप्त हुआ।

(३) सर्वोच्च ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात भगवान महावीर ने अपने शेष जीवन-भर धार्मिक अन्धविश्वास, सामाजिक विषमता व अन्याय को समाप्त करने का विश्व को सन्देश दिया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से बताया कि धर्म आत्मा का विषय है और रूढ़ि से सर्वथा भिन्न है, उन्होंने अहिंसा जगत-कल्याण का एक मात्र मार्ग निरूपित किया। उन्होंने अहिंसा के सम्बन्ध में संक्षिप्त में एक सूत्र में अनुपम सिद्धान्त प्रतिपादित किया "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्" जो कार्य तुम्हारी आत्मा को पसन्द नहीं उसका आचरण अन्य के प्रति न करो। वास्तव में उन्होंने बताया कि अहिंसा वीरता-सूचक सिद्धान्त है, कायर व्यक्ति अहिंसा का पालन नहीं कर सकता है, भगवान महावीर की अहिंसा चतुर्मुखी थी, जहाँ उन्होंने आचार में अनेकान्त तथा वाणी में स्याद्-वाद सिद्धान्त का निरूपण किया वहाँ आर्थिक क्षेत्र की विषमता की दृष्टि से अपरिग्रह तथा सीमित परिग्रह का उपदेश भी दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से

सामाजिक-समता का सिद्धान्त निरूपित करके मनुष्य के भेद को कृत्रिम बताया, इसी प्रकार शूद्र तथा महिलाओं के प्रति व्यवहार में समानता की आवश्यकता बताई। तात्पर्य यह है कि उन्होंने जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया वे मनुष्य-समाज के लिए अनुपम थे और इसी कारण भगवान महावीर मानवता के उद्धार के रूप में विश्व में "आ चन्द्र दिवाकरो" स्मरण किये जायेंगे।

(४) सन् १९५९ मार्च में नेपाल यात्रा के समय वैशाली (भगवान महावीर के जन्म स्थान) के पवित्र स्थान का दर्शन करने का सौभाग्य मुझे मिला। उस पवित्र स्थान को देख मैं गदगद् हुआ। और मुझे सहसा हिन्दी के कवि की निम्न पंक्तियाँ स्मरण हो आईं और मैं उन्हें बड़ी देर तक गुनगुनाता रहा।

> वैशाली जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता,
> जिसे ढूंढ़ता आज देश उस प्रजातन्त्र की माता।
> रुको, एक क्षण पथिक यहाँ मिट्टी को शीश नवाओ,
> राज समाधि की सिढ़ियों पर फूल चढ़ाते जाओ।
>
> क्योंकि:
>
> सुना यहीं उत्पन्न हुआ था किसी समय वह राजकुमार,
> त्याग दिये थे जिसने जग के भोग विलास साज शृंगार।
> जिसके निर्मल जैन धर्म का, देश-देश में हुआ प्रचार,
> तीर्थंकर जिस महावीर के यश, अब भी गाता संसार।
> है पवित्रता भरी हुई इस विमल भूमि के कण-कण में,
> मत कह क्या-क्या हुआ अरे वैशाली के आँगन में।

२

महावीर का जीवन-दर्शन

विश्व के जितने महापुरुष हुए हैं उनमे 'महावीर' का एक विशिष्ट स्थान है। यह महावीर की विशेषता थी कि उन्होंने विश्व को यह अमोघ मंत्र प्रदान किया कि जिसके द्वारा मनुष्य परमात्मत्व प्राप्त कर सकता है। उन्होंने मानव समाज को उसकी शक्ति का परिचय कराकर कहा कि आत्मा ही महात्मा तथा परमात्मा बन सकती है। आत्मा जितने भले कर्म करेगी उतनी ही अधिक स्वच्छ, निर्मल, बनकर महान हो सकती है और जब महान आत्मा अपने भले अथवा बुरे कर्मों का नाश कर देगी तब वह परमात्मा हो जावेगी। किन्तु हमने महावीर तथा उनके सदृश अन्य महान पुरुषों को भगवान बनाकर उन्हें मानव समाज से इतना दूर कर दिया कि कभी-कभी मानव समाज निराश होकर अनुभव करता है कि वह भगवान सदृश नहीं हो सकता और उनका उपदिष्ट पथ साधारण मानव के लिये अगम्य है तथा उसका यथावत अनुकरण असम्भव है। मैं जानता हूँ कि प्राचीन धर्म ग्रन्थों मे महावीर को 'भगवान' शब्द से अलंकृत किया गया है किन्तु मुझे वह स्थल भी स्मरण है जहां पर महावीर को प्राचीन धर्म ग्रन्थो में 'महप्पा' महात्मा शब्द से सम्बोधित किया गया है। बहरहाल मैं अनुभव करता हूँ कि यदि महावीर को हम भगवान के स्थान पर महात्मा ही मान कर चलते तो शायद मानव समाज उपदेशित मार्ग का सहज अनुकरण करता। इसमें सन्देह नहीं है कि हम धर्म अथवा महावीर द्वारा उपदिष्ट मार्ग को केवल स्थल तथा समय विशेष के लिये अनुकरणीय मानें तो यह उचित नही है। जो धर्म मानव जीवन को नहीं छूता उस धर्म को धर्म नहीं कहा जा सकता। वास्तव में धर्म तो हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करता है क्योंकि हमारे धर्म ग्रन्थों मे धर्म की व्याख्या ही वस्तु का स्वभाव बताई गई है। ऐसी दशा में यह कैसे संभव है कि आत्मा का स्वभाव धर्म होते हुए भी यह "धर्म" को स्थल तथा समय विशेष को छोड़कर शेष स्थल व समय के लिये धर्म का परित्याग

कर दे। मानव की आत्मा का स्वभाव "धर्म" ही होने के कारण आत्मा "धर्म" का परित्याग एक क्षण के लिये नहीं कर सकती और यह भी संभव नहीं है कि एक आत्मा का कोई विशेष धर्म हो और उससे भिन्न अन्य आत्मा का कोई भिन्न धर्म हो।

मानव समाज का केवल एक ही "धर्म" था, है और रहेगा। और उसको "आत्म धर्म" कहा जा सकता है। पूर्व में इसी "आत्म धर्म" के नाम से हमारी धर्म संस्थायें कार्य करती थीं। पश्चात् किन्हीं कारणों से धर्मों के नामकरण कर दिये गये हों। "धर्म" वास्तव में आत्मा को भला बनाने, ऊँचा उठाने के मार्ग का ही तो दूसरा नाम है—'धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजा:" ऐसी दशा में धर्म "सर्वोदय तीर्थ" का प्रतीक हो सकता है। यदि मानव समाज अपने मताग्रह तथा पूर्वग्रह को छोड़कर सर्वोदय तीर्थरूप धर्म का अनुकरण करे तो निश्चयरूप से महावीर सदृश बन सकता है। हम बाल, युवा साधक सिद्ध महावीर के जीवन से अतिशयोक्ति पूर्ण घटनाओं को कम करके उसे अपने समक्ष रखें तो निश्चय ही हम उसी ऊंचाई पर पहुँच सकते हैं जिस पर महावीर पहुँचे थे। अतिशयोक्ति का मिश्रण चाहे किसी कारण से किया गया हो पर उसने, महावीर सदृश बनाने के लक्ष्य को असंभव बना दिया है। हम समझने लगे-कि महावीर तो हिमालय की गौरीशंकर चोटी पर हैं और हम भूमि के निम्नतम भाग में। हम इस ऊंचाई पर नहीं पहुंच सकते। जब कि वास्तविकता यह थी कि महावीर ने सामान्य जीवन से साधना के द्वारा अपना विकास किया और परमात्मत्व की प्राप्ति की। हम महावीर के शुभ जन्म दिवस पर इस दिशा में गम्भीर विचार करके उनकी तरह बनने का प्रयत्न करें।

★

३

भगवान महावीर के जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व केवल भारतवर्ष में ही नहीं, विश्व में ऐसी स्थिति हो गई थी कि जिसके निराकरण के लिए किसी महापुरुष के अवतरित होने की आवश्यकता अनुभव हो रही थी। हमारी इस पुण्यभूमि की परिस्थिति को ही लें तो यहां की जनता में धार्मिक अंध-विश्वास, बौद्धिक दासता व्याप्त हो रही थी। धर्म के स्थान पर केवल रूढ़ि के परिपालन पर तत्कालीन तथाकथित धार्मिक वर्ग जोर देता था। धर्म के हृदय व उसकी आत्मा का कहीं पता न था। यही नहीं अपितु धार्मिक प्रश्नों के बारे में शंका उत्पन्न करना या उसके समाधान की जिज्ञासा का सवाल ही नहीं था। वर्णाश्रम के नाम पर जातीय उच्च नीच का प्रश्न समाज में असमानता, विषमता उत्पन्न कर रहा था। नारी जाति की स्थिति पुरुष के समकक्ष न मानी जाकर उसको पुरुष की सम्पत्ति मान ली जाती थी। दास-प्रथा का अस्तित्व था। ये सब अत्याचार, धर्म के नाम पर चलाये जा रहे थे। ऐसे समय में बिहार मे एक महापुरुष ने चैत्रशुक्ला १३ को इस विश्व में पदार्पण किया। इस महापुरुष को "वर्धमान" नाम से अभिषिक्त किया गया। किन्तु अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य के कारण "महावीर" के नाम से पहचाने गये। महापुरुष का शैशवकाल बीत गया पर यौवन काल में जैसे इस महापुरुष ने पैर रखा उसके हृदय में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था, उससे उत्पन्न अन्याय, अत्याचार के प्रति विद्रोह की भावना जाग गई। मेरा अनुमान है कि उर्दू के एक कवि के शब्दों में व्यक्त विचार इस महापुरुष के अन्तरतम में हिलोरें ले रहे थे :—

खंजर चले किसी पर तड़पता है मेरा दिल।
कि सारे जहां का दर्द मेरे जिगर में है॥

वास्तव में यदि हम इस महापुरुष के जीवन पर दृष्टिपात करें तो हमको यह स्पष्ट आभास होगा कि उसने सारे संसार का दर्द अपने हृदय में समेट कर समस्त प्राणी जगत का कल्याण करने, कल्याण का मार्ग बताने का निश्चय किया था। वह सारी व्यवस्था मे आमूल-चूल परिवर्तन चाहते थे ताकि समाज में व्याप्त अन्याय अत्याचार का अंत हो सके। जैसाकि उर्दू के एक दूसरे कवि ने कहा था, उनके हृदय तथा वाणी पर यह भाव अंकित हो रहे थे : –

> काम है मेरा बगावत, नाम है मेरा शवाब।
> इन्कलाबो, इन्कलाबो, इन्कलाबो, इन्कलाब ॥

फिर भी यह महापुरुष क्रांति का केवल नारा देने या नारा लगाने वाला नही था। वह युवक था, विद्रोह करना चाहता था किन्तु जब तक वह अपने जीवन में साधना, तप के द्वारा तेजस्विता न ले आवे, अपना आचरण अपनी वाणी के अनुकूल न करलें। तात्पर्य यह है कि जब तक वह साधना के चरम शिखर पर पहुँचकर सारे प्राणी जगत के प्रति "समत्व योग" की प्राप्ति न करलें तब तक वह केवल भाषण उपदेश देकर इस २०वीं सदी की भाषा में मार्ग दर्शन देना या आन्दोलन चलाना नहीं चाहते थे। वह आज का मनुष्य नहीं था जो स्वयं के आचरण के प्रति दुर्लक्ष्य रखकर केवल समाज की क्रान्ति की बात कहता है, वैचारिक अपरिपक्वता में ही मार्गदर्शन देने, आन्दोलन चलाने की बात सोचता है। उस महापुरुष ने मन, वाणी, शरीर की एक-वाक्यता, जब तक प्राप्त न हो तब तक कोई भाषण उपदेश न देने का निश्चय किया। जब तक साधना चरम शिखर पर न पहुँची, उससे पूर्णता प्राप्त नहीं की, तब तक मौन रखा। पूर्णता प्राप्त होने के साथ ही उसने आजीवन समाज के कल्याण का मार्ग बताया। जब उसने देखा कि उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट चातुर्याम में संशोधन की आवश्यकता है तब उसमें संशोधन करने में हिचकिचाहट नहीं की। तात्पर्य यह है कि श्रमण परम्परा हो, चाहे अन्य, जैसे विचार में उन्हें युग बाह्यता नजर आई उसने परिवर्तन किया। भगवान महावीर की परम्परा के गौतम गणधर ने परस्पर सौहार्दपूर्ण वातावरण में चर्चा करके सामञ्जस्य का मार्ग प्रशस्त किया। इस परस्पर चर्चा का विवरण अलंकारपूर्ण साहित्यिक भाषा में "उत्तराध्ययन सूत्र" में उपलब्ध है। भगवान महावीर ने अपने जीवन में धार्मिक अन्ध-विश्वास, बौद्धिकदासता, सामाजिक अन्याय, अत्याचार, विषमता के विरुद्ध क्रान्ति का शंखनाद किया, क्रान्ति के लिए अनवरत रूप से कष्ट सहन किया। भगवान महावीर का सारा जीवन विश्व के लिए अनुकरणीय है, शिक्षा प्रद है। यदि

हम इस महावीर जयन्ती के उपलक्ष्य में केवल एक ही शिक्षा ग्रहण करके निश्चय कर लें कि जब तक हममें वैचारिक परिपक्वता या, साधना का तेज नहीं होगा तब तक हम भाषण नहीं देंगे, न आन्दोलन चलावेंगे, वाणी का संयम रखकर केवल ऐसा नेतृत्व देंगे, जो हमारी कृति के अनुकूल होगा, तो मेरा अनुमान है कि आज के वातावरण में जो उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता, अव्यवस्था हो गई है उस पर स्वयं अंकुश लग जायेगा। आज का युवक नेतृत्व में जब कृति तथा वाणी में अन्तर देखता है तो उसकी आस्था डगमगा जाती है। वास्तव में आज का नेतृत्व "वाणी का संयम" भूल गया है, भाषणों का प्रवाह है जबकि उर्दू के एक कवि के शब्दो में यह होना था कि मनुष्य —

कहे इन्सान एक, जब सुनले दो।
कि हक ने जबान एक दी कान दो।

प्रकृति ने सुनने का माध्यम शरीर में दो तथा बोलने का माध्यम एक देकर अप्रत्यक्ष रूप से यह संकेत किया है कि मनुष्य अधिक सुने, कम बोले, मितभाषी रहे। मैं कभी-कभी देखता हूँ कि आज के युग मे सुनाने वाले को 'वक्ता को' अपनी बात कहने की अधिक चिंता है, जबकि श्रोता की इच्छा सुनने की कम है। यह विडम्बना है। श्रोता के हृदय में वक्ता के प्रति आदर सम्मान नहीं है तब तक वक्तृत्व एक वाणी का अयाचित प्रवाह है। जैन आचार्यों ने श्रावक के २१ गुणों में "मितभाषिता" का इसी कारण विधान किया था। एक कवि के शब्दों में :—

जीवन चरित महापुरुषों के हमें नसीहत करते हैं।
हम भी अपना जीवन स्वच्छ रम्य कर सकते हैं।

भगवान महावीर का सम्पूर्ण जीवन त्याग, तपस्या, कष्ट सहन, परोपकार की भावना से परिपूर्ण था। इसीलिए साहित्यकार, कवि आदि ने उनकी प्रशंसा में अपनी रचनाएँ करके श्रद्धाजलिया अर्पित की है :—

सुना, यहीं उत्पन्न हुआ था किसी समय यह राजकुमार।
त्याग दिये थे जिसने सब के भोग विलास, साज श्रृंगार॥
जिसके जैन धर्म का देश में हुआ प्रचार।
तीर्थंकर जिस महावीर के यश गाता अब भी संसार॥
है पवित्रता भरी हुई इस विमल भूमि के कण-कण में।
मत कह क्या-क्या हुआ, इस वैशाली के आंगन में॥

क्या देश का नेतृत्व भगवान महावीर के जीवन के एक पहलू "वाणी संयम" से यथा शक्ति शिक्षा प्राप्त करके स्वयं तथा देश की जनता को लाभ पहुँचाने की बात सोचेगा।

४

अहिंसा के अवतार भगवान महावीर

महात्मा ईसा के छह सौ वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व आज ही चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के शुभ दिवस उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में आधुनिक बिहार राज्य तत्कालीन विदेह देश की राजधानी वैशाली नगरी में अहिंसा के अवतार भगवान् महावीर का जन्म हुआ था।

भगवान् महावीर का लालन-पालन अत्यन्त लाड़-प्यार से हुआ। बाल्यकाल में उन्होंने कई साहसिक कार्य किये। एक बार उन्होंने वृक्ष की जड़ में लिपटे विकराल सर्प को देखा वह फुफकार रहा था। उनके साथी भागे किन्तु वे अटल खड़े रहे और पश्चात् सर्प को हाथ से पकड़कर दूर फेंक दिया। इस प्रकार के साहसिक कार्यों के कारण उन्हें "महावीर" के नाम से भी पुकारा जाने लगा। भगवान महावीर की शिक्षा सुव्यवस्थित ढंग से हुई जिसमें उन्होंने असाधारण बुद्धि का परिचय दिया। अध्यापक उनके सुविचारपूर्ण उत्तरों से सन्तुष्ट रहते थे। उन्होंने बाल्यावस्था में ही साहित्य, व्याकरण आदि विविध विषयों का अध्ययन कर लिया था।

भगवान् महावीर ने ३० वर्ष तक सांसारिक जीवन व्यतीत किया, तथा इस काल में उन्होंने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का गहन अध्ययन किया और उन्होंने इस सारी स्थिति के पीछे जन-साधारण का अज्ञान पाया। उन्होंने अनुभव किया कि लोग अपनी जिह्वा-लोलुपता के लिये जीव-हिंसा कर रहे हैं, अतः उन्होंने जगत् की मिथ्या धारणाओं का उन्मूलन करके मानव को अज्ञान की गति से उबारकर जगत को कल्याण का मार्ग बतलाने तथा वास्तविक धर्म की स्थापना करने का निश्चय किया। इस प्रकार अपनी ३० वर्ष की आयु में वे समस्त ऐश्वर्य, सम्पत्ति, कुटुम्ब तथा बन्धु-बान्धवों को छोड़कर प्रवज्या लेकर एकान्त आत्म-साधना को निकल पड़े। उन्होंने क्षत्रिय कुण्ड ग्राम

के बाहर उद्यान में जाकर पंच-मुष्टि केशलोच किया तथा श्रमणत्व दीक्षा अंगीकार की। उन्होंने निश्चय किया कि किसी प्रकार की विघ्न-बाधा, उप-सर्ग आदि के होते हुए भी आत्म-साधना से विचलित न होऊंगा तथा धीरता पूर्वक क्षमा-भाव से प्रत्येक परिषह् सहन करता रहूँगा। उक्त निश्चय के परिणामस्वरूप भगवान ने १२ वर्ष तक अपने साधक-जीवन मे बहुत ही भयंकर कष्टो को शान्ति से सहन किया। सुख-दु.ख आत्मा के शुभ-अशुभ कर्मों का फल होता है। अत: उन्होंने आत्मा के शुभा-शुभ कर्मों को नष्ट करने के लिए एक धर्म युद्ध प्रारम्भ किया। इस धर्म-युद्ध में वे एक वीर योद्धा की तरह परिव्राजक के रूप मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करने लगे। इस प्रकार के जीवन मे उन्हे अनेक प्रकार के परिषह् उपसर्ग आदि भयानक कष्टों को सहन करना पड़ा। विशेष रूप से लाढप्रदेश मे भगवान् को अत्यधिक कष्ट उठाना पडा। यह प्रदेश एक प्रकार से अनार्यप्रदेश माना जाता था। इसके निवासी स्वभाव के क्रूर परिणामो थे। वे भगवान् पर कुत्ते छोड़ दिया करते थे। भगवान् किसी ग्राम में जाते तो अज्ञान वश उन्हें गुप्तचर अथवा चोर समझकर रस्सी से बाध देते थे। किन्तु महावीर ने अत्यन्त निर्भयता से उक्त परिषहों को सहन किया। एक बार महावीर ध्यानमग्न थे। एक ग्वाला वहा आया, उसने अपने बैलों को पास ही छोड़ दिया और चला गया। जब वह वापस आया तब उसे बैल नही दिखाई दिये। फलतः उसने महावीर से पूछा किन्तु भगवान् के उस समय मौन व्रत होने के कारण उत्तर न दे सके। ग्वाला ने क्रुद्ध होकर उनके कानों में लकड़ी की कीलें ठोक दीं। इससे भगवान् को असह्य वेदना हुई किन्तु उन्होंने उसे शान्त भाव से सहन किया। इस प्रकार १२ वर्ष की साधना के पश्चात् भगवान महावीर को जृम्भीय ग्राम के बाहर ऋजुवालिका नदी के तट पर एक खेत में शाल वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न अवस्था मे आत्मबोध हुआ तथा सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति हुई जिससे विश्व के कल्याण का मार्ग दृष्टिगोचर हुआ। ऐसे ज्ञान को जैन शास्त्रों में "केवल ज्ञान" की संज्ञा दी गई है।

भगवान् महावीर ने अपनी आत्म-साधना के १२ वर्षीय काल में कोई उपदेश नहीं दिया। वे अविरत तपस्या में लीन रहते थे। जब भगवान् को केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई तब उन्होंने संसार को वास्तविक सुख तथा कल्याण का मार्ग बतलाना प्रारम्भ किया। उन्होंने-संसार को अहिंसा का मूल मन्त्र दिया और उसे ही जगत्-कल्याण का एक मात्र मार्ग बतलाया। उन्होंने अपने जीवन में अनुभव किया कि संसार का प्रत्येक प्राणी जीवन चाहता है। मृत्यु किसी को प्रिय नहीं है। इस कारण अहिंसा को उन्होंने अपने उपदेशों में

सर्वोच्च स्थान दिया। "जीवो जीवस्य भोजनम्" के घातक सिद्धान्त के स्थान पर "जियो और जीने दो" के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। उन्होंने स्पष्ट रूप से बताया कि यज्ञ-याग आदि में धर्म के नाम पर अन्धश्रद्धा के वशीभूत जीव-हिंसा की जाती है। वह वास्तव में हिंसा ही है। हिंसा से धर्म का किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं हो सकता है। उनका कथन था कि अहिंसा का सिद्धान्त वीरता-सूचक है। कायरता-सूचक कदापि नहीं। कायर व्यक्ति अहिंसक नहीं हो सकता, जो व्यक्ति वीरतापूर्वक अपने जीवन का उत्सर्ग कर सकता है वही अहिंसक हो सकता है। भय के कारण अहिंसक होने का ढोंग वास्तव में कायरता है। इसीप्रकार अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रयोग केवल व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं, अपितु सामाजिक तथा सामूहिक जीवन में भी किया जा सकता है। उन्होंने एक स्थान पर कहा था कि :--

जे एगं जाणई से सव्वं जाणई।
जे सव्वं जाणई से एगं जाणई॥

उपरोक्त सूत्र मे भगवान ने व्यष्टि एवं समष्टि का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दर्शाया है। वास्तव में व्यक्ति समाज का ही एक घटक है। समाज के बिना व्यक्ति का पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता। इस प्रकार भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा केवल व्यक्तिपरक नहीं अपितु सामाजिक भी है। संक्षिप्त में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि जो कार्य प्रवृत्ति अपने को उचित नहीं लगती उसी प्रकार की प्रवृत्ति तुम अन्य के प्रति मत करो। भगवान् महावीर का अहिंसा का उपदेश केवल मनुष्य अथवा पशु-पक्षियों तक ही सीमित नहीं था अपितु जिन वस्तुओं में प्राण-संचार हो सकता है अथवा प्राण-संचार होने की सम्भावना है उन सब को प्राणी की परिभाषा में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार उन्होंने अहिंसा को अत्यन्त व्यापक रूप में संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया।

भगवान् महावीर ने अहिंसा को केवल एक नकारात्मक सिद्धान्त नही बताया अपितु उन्होंने प्राणिमात्र के हृदय में करुणा, दया आदि का सचार किया। अहिंसा के सिद्धान्त के पालन के लिए केवल प्राणी का प्राण-हरण ही न किया जाना पर्याप्त नही है अपितु प्राणीमात्र के लिए हृदय में करुणा, दया का होना भी आवश्यक है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा के साथ-साथ सामाजिक समता की ओर ध्यान देकर सामाजिक न्याय स्थापित किया। यह तथ्य है कि भगवान् महावीर के समय में ऊँच-नीच वर्ण का अभिमान चरम सीमा पर था। अहिंसा को सामू-

हिक रूप देने के लिए उन्होंने अपने उपदेशों में समता की ओर विशेष ओर दिया। उनका कहना था कि जब तक समाज में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, धनी-निर्धन आदि की विषमता विद्यमान है हम अहिंसक नहीं हो सकते। वर्णाश्रम धर्म की स्थापना प्राचीन काल में कार्य-विभाजन के आधार पर की गई थी। किन्तु कालान्तर में उक्त व्यवस्था का आधार केवल जन्म-गत माना जाने लगा। और इस कारण समाज में जातिमद, कुलमद का आविर्भाव हुआ। भगवान् महावीर ने आठ प्रकार के अहंकार को वर्जित बतलाया जिसमें जाति-मद एवं बुद्धि-मद का भी समावेश था। उन्होंने प्रतिपादन किया कि प्रत्येक मनुष्य समान है चाहे वह किसी कुल में जन्मा हो। मनुष्य की महानता अथवा लघुता उसके कर्मों पर निर्भर है, भगवान् की धर्मसभा में प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति, जाति, कुल तथा वर्ण-भेद के बिना एकत्रित होते थे। जिनके साथ भेद-भाव का कोई व्यवहार न होता था। चाहे वह निम्नजाति तथा कुल मे ही क्यो न जन्मा हो। इतना ही नहीं उन्होंने एक चाण्डाल को साधु जीवन की दीक्षा देकर आदर्श उपस्थित कर दिया। उन्होंने तत्कालीन विद्वानों की भाषा संस्कृत को त्यागकर जन-साधारण की भाषा मागधी एवं अर्धमागधी में उपदेश दिया जिसका जन साधारण पर अद्भुत प्रभाव पड़ा।

भगवान् महावीर ने बतलाया कि मनुष्य अपने कर्मों से ही नीच या उच्च अवस्था को प्राप्त कर सकता है। जो मनुष्य जितने शुभ कर्म करेगा उसकी आत्मा उतनी ही उच्च अवस्था को प्राप्त करेगी। जिस समय किसी प्राणी के शुभ-अशुभ कर्मों का क्षय हो जायगा तब वह आत्मा अत्यन्त शुद्ध निर्वाण अवस्था को प्राप्त होगी। जन-साधारण उस अवस्था को परमात्मा की संज्ञा देता है। वास्तव में इस सर्वोच्च अवस्था का नाम ही ईश्वरत्व है। तब इस प्रकार भगवान ने लगभग ३० वर्षों तक जगत् को कल्याण-मार्ग बताकर अपने समस्त शुभ-अशुभ कर्मों का क्षय करके ७२ वर्ष की आयु में मोक्ष-पद प्राप्त किया और संसार के आवागमन से मुक्त हो गये।

५

भगवान महावीर और उनकी अहिंसा

उर्दू के एक कवि ने ठीक कहा है :—

बड़ी मुश्किल से पैदा एक वह आदमजात होता है।
जो खुद आजाद, जिसका हर नफस आजाद होता है।।

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व आधुनिक बिहार राज्यान्तर्गत तत्कालीन मगध देश में एक ऐसे महापुरुष का जन्म हुआ था। जिसने मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'मुक्ति' प्राप्त की। उस महापुरुष का नाम 'वर्द्धमान' था किन्तु उसके जीवन में अभूतपूर्व साहस विद्यमान होने के कारण उनको 'महावीर' के नाम से अभिहित किया गया।

ऐसे महापुरुषों की कड़ी में, वर्तमान तीर्थंकरों की सूची में, सबसे प्रथम भगवान ऋषभदेव का नाम आता है चाहे आधुनिक इतिहासकारों ने भगवान ऋषभदेव का अस्तित्व स्वीकार न किया हो किन्तु यह तथ्य इतना सुनिश्चित है कि उनकी गुणगाथा जैन-साहित्य के अतिरिक्त वैदिक-साहित्य तथा अन्य प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित है। भगवान ऋषभदेव सारी आर्यजाति के उपास्य देव थे। यही कारण है कि उनकी मान्यता देश की प्राचीन जातियों में अद्यापि प्रचलित है। उन्होंने मानव जाति को 'सभ्यता' का पाठ पढ़ाया और नैतिक तथा धार्मिक नियम स्थिर किये। इनके पश्चात् अन्य तीर्थंकरों का युग आता है।

बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ भारतवर्ष के उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ तथा कर्मयोगी श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। उन्होने तत्कालीन क्षत्रिय-समाज में प्रचलित मांसाहार प्रथा के विरुद्ध अपने व्यक्तिगत सुखों को तिलांजली देकर एक ऐसी आदर्श रीति से विद्रोह का शंख फूंका कि वह प्रथा उस समय निःशेष हो गई। यही कारण है कि आज काफी अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी

सौराष्ट्र में (जो भगवान नेमिनाथ का कार्यक्षेत्र रहा है) पशु-हिंसा के विरुद्ध आज भी घृणापूर्ण वातावरण है। उसके पश्चात् भगवान पार्श्वनाथ का युग आता है। उस समय देश मे अविवेकपूर्ण हिंसामिश्रित तपस्या (जिसमें केवल देहदमन ही होता था) के स्थान पर मानव-समाज को 'विवेकपूर्ण अहिंसक तप' का संदेश दिया। उन्होंने बताया कि तप का उद्देश्य 'देहदमन' ही नहीं है अपितु आत्मा का आध्यात्मिक विकास उसका उद्देश्य है। तत्कालीन तापस-संप्रदाय के द्वारा प्रचलित लोकमूढ मान्यता के बजाय अधिक संस्कृत तथा 'अहिंसक तपस्या' का मार्ग मानव जाति को बताया। कुछ विद्वान इस मत के हैं कि देश में प्रचलित "नाथ-सम्प्रदाय' इन महापुरुषों के सदुपदेश से प्रभावित रहा है और उक्त सम्प्रदाय ने भारतीय अध्यात्म को बहुत प्रेरणा दी है। भगवान पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् ही 'वर्द्धमान' महावीर का अवतरण होता है। जिनकी शुभजन्मतिथि आगामी चैत्र शुक्ल त्रयोदशी है। श्रमण-संस्कृति में दोनों समकालीन महापुरुष भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध निश्चय रूप से भगवान पार्श्वनाथ के "चातुर्याम धर्म' से प्रभावित रहे हैं। भगवान महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी ही थे।

भगवान बुद्ध ने भी ज्ञान-लाभ प्राप्त करने के पूर्व जिन विभिन्न पंथों को अंगीकार किया उनमें 'निर्ग्रन्थ संप्रदाय' भी था। यह निर्विवाद है कि भगवान पार्श्वनाथ का अनुयायी सम्प्रदाय ही 'निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय' कहा जाता था। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि भगवान पार्श्वनाथ तथा महावीर का उपदेश-संदेश पूर्व मे निर्ग्रन्थ संप्रदाय के नाम से अभिहित था। किन्तु भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग ७५ वर्ष पश्चात् निर्ग्रन्थ संप्रदाय का नाम "जैन" धर्म प्रारम्भ हो गया। आचार्य काका कालेलकर के शब्दों में :—

"धर्मानन्दजी इस निश्चय पर पहुँचे थे कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म से ही बौद्ध और जैन ये दो धाराएँ निकली हैं। उनका यह भी अभिप्राय था कि बौद्ध धर्म और जैन विचार-पद्धति की बुनियाद में जो दार्शनिक जीवनदृष्टि है उसे स्वीकार करने से ही समाजवाद और साम्यवाद कृतार्थ हो सकेंगे। और मानवजाति का कल्याण करने की साधना आज के मानव के हाथ में आयेगी।"

(श्री धर्मानन्द कोसाम्बी द्वारा लिखित भगवान बुद्ध की प्रस्तावना पृष्ठ छः)।

भगवान महावीर का समग्र जीवन तत्कालीन प्रचलित सामाजिक विषमता, धार्मिक अन्ध-विश्वास, अन्याय अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह का जीवन था उनके लगभग ३० वर्ष के साधनामय जीवन में उन्होंने अपने शरीर की ममता

छोड़कर भयंकर तप-साधना की। उसके परिणामस्वरूप उन्हें 'कैवल्य' लाभ हुआ और समाज को अपना संदेश देना प्रारम्भ किया। लगभग १२ वर्ष तक इस प्रकार मानवजाति में अमृत वर्षा करते हुए निर्वाण प्राप्त किया एवं मुक्त हो गये।

यदि हम इन समस्त महापुरुषों के उपदेशों पर दृष्टिपात करें तो हमें इस परिणाम पर पहुँचना होगा कि समस्त उपदेश का सार 'अहिंसा' था। समस्त महापुरुषों ने अपने उपदेश में इस बात पर अत्यधिक जोर दिया कि मनुष्य किसी प्राणी को मन, वचन, काया से हानि न पहुँचावे, वध न करें, न किसी के द्वारा हानि पहुँचावे या वध करावे, न किसी हानि पहुँचाने वाले या वध करने का अनुमोदन करें। यदि हम जैन-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ "आचारांग सूत्र" के निम्न उद्धरण पर विचारें तो तथ्य की पुष्टि होगी।

'से बेमि जे अइया, जे य पडुपन्ना, जे य आगमिस्सा अरतेहं ते सव्वे एव-माईक्खंति, एवं भासंति, एव पण्णविंति एवं परुविंति—

सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न घातव्वा, न अज्जाविियव्वा, न परियाएयव्वा, न उद्दवेयव्वा।'

आचारांग सूत्र प्र० श्रुत स्कन्ध ४ अ० १ उ०

इसमें भी कोई संदेह नहीं कि यदि कोई मनुष्य किसी प्राणधारी को सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से शोषण करें तो वह भी हिंसा कही जानी चाहिये। भगवान महावीर से पूर्व 'अहिंसा' का रूप क्या था? उसमें सामाजिक आर्थिक शोषण भी हिंसा की परिभाषा में शामिल किया था यह विद्वानों के लिये खोज का एक विषय है। आजकल जो जैन-साहित्य उपलब्ध है, वह अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा उपदेश के आधार पर गणधरों द्वारा निर्मित 'साहित्य' है। वह बहरहाल भगवान महावीर के पूर्व का कोई साहित्य (जैन) आज उपलब्ध नहीं इस कारण उक्त प्रश्न की खोज सरल नहीं है। किन्तु इतना निश्चित है कि "अहिंसा" का विकास जो भगवान महावीर के काल में हुआ वह अद्वितीय था। उन्होंने केवल सामाजिक शोषण, आर्थिक शोषण को ही हिंसक नहीं माना अपितु वैचारिक हिंसा को भी त्याज्य माना। भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में पुरुष के लिये स्त्री 'परिग्रह' माना जाता था और इसी कारण संभवत: उसका समावेश 'अपरिग्रह' व्रत में कर लिया था। यह स्पष्ट है कि इसमें स्त्री का स्वतन्त्र अस्तित्व होने से इनकार किया गया था। किन्तु भगवान महावीर ने इस विचार के स्थान पर स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व मानकर पांच महाव्रतों की स्थापना की।

इसीप्रकार भगवान महावीर ने देखा कि विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले कई 'वाद' देश में विद्यमान हैं। और उनके पास आंशिक सत्य भी है। तो उन्होंने अन्य वादों को 'एकान्ती' कहा और संसार को 'अनेकान्ती मार्ग' का उपदेश दिया। वास्तव में अपने से भिन्न विचारधारा के किसी व्यक्ति के प्रति न्याय करना चाहते हैं तो हमें अनेकान्त का सिद्धान्त अपनाना आवश्यक है। 'अनेकान्त विचार पद्धति' वास्तव में "बौद्धिक अहिंसा" है। विश्व की प्रत्येक वस्तु धर्मात्मक हैं। इस कारण उन वस्तुओं के किसी एक पहलू को दृष्टिगत रखकर जो विवेचन होगा वह वस्तु का समग्र चित्र नहीं हो सकता इस कारण यदि हम उन वस्तुओं के भिन्न-भिन्न पहलुओं के वर्णन को एकत्रित करलें तो समग्र सत्य के दर्शन हो सकते हैं। अनेकांत-विचार पद्धति के द्वारा जिन भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों को जिस भाषा में व्यक्त किया जा सकता है उसे "स्याद्वाद" कहा जाता है। जैन तार्किक विद्वानों ने इसे सप्तभंगी न्याय तथा सप्त नयवाद भी कहा है। तात्पर्य यह है कि तार्किकों ने 'अनेकांत विचार पद्धति' अथवा 'स्याद्वाद' को 'संख्या' में सीमित करने का प्रयत्न किया। वास्तव में जैन विचारकों ने मोटे तौर पर केवल दो नय (निश्चय तथा व्यवहार) स्वीकार किया। किन्तु विशालता की दृष्टि से 'नय' की संख्या उतनी ही बताई जितनी विचार-पद्धति हो सकती है। तात्पर्य यह है 'नयों' की संख्या अगिनत है उसे सीमित नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि जैनागमों में यह विचार बीजरूप से मौजूद थे। किन्तु उसका विस्तार भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् अनेक जैनाचार्यों ने किया है। जिनमे सिद्धसेन दिवाकर, समंतभद्र, हरिभद्र, अकलंक देव, यशोविजय, माणिक्यनंदि आदि मुख्य हैं।

इन विद्वानों ने इस विचार-पद्धति पर विपुल साहित्य का निर्माण किया। यह निर्माण-कार्य भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। इसमें संदेह नही कि यदि विश्व मे प्रचलित विभिन्न वाद, पंथ, मत के प्रति न्याय करना होता तो इस विचार-पद्धति को अपनाये बिना चारा नहीं है। न सत्य को सीमाओं मे बांधा जा सकता है। इसका सीधा मार्ग 'समन्वय' है। मानव जाति को धार्मिक सहिष्णुता, सर्वधर्म-समभाव-अनेकांत-विचार पद्धति से प्राप्त हो सकती है। इसे आधुनिक सीधी सरल भाषा में 'अनाग्रही विचार' भी कहा जा सकता है। एक जैनाचार्य ने एक वाक्य में इस विशाल सिद्धान्त का निचोड़ रख दिया है। आग्रही व्यक्ति का दृष्टिकोण 'यन्मदीयं तत्सत्यं' रहता है। जबकि अनाग्रही का 'यत्सत्यं तन्मदीयम्' रहता है।

एक जैन विद्वान् ने भारतीय षड्दर्शनों में आंशिक सत्य का दर्शन भिन्न

भिन्न नयों (दृष्टिकोण) के माध्यम से देखा। उन्होंने नैगम नय द्वारा न्याय-वैशेषिक दर्शन, संग्रह नय द्वारा वेदान्त-दर्शन, ऋजुसूत्र नय द्वारा बौद्ध-दर्शन, शब्द नय द्वारा सांख्य-योग व्यवहार नय द्वारा चार्वाक दर्शन का अस्तित्व स्वीकार किया।

मानवजाति के सन्मुख यह एक अत्यन्त आश्चर्य का विषय रहेगा कि जिस जैन-धर्म ने विश्व के प्रचलित विभिन्नवादों, पंथों धार्मिक मान्यताओं के समन्वय का दावा किया तथा समस्त वादों, पंथों, धार्मिक मान्यताओं के आंशिक सत्य का दर्शन किया उसी के अनुयायी समाज में श्वेताम्बर, दिगम्बर विवाद कैसे पैदा हो गया? इस विवाद में समय के प्रभाव से सदैव वृद्धि होती गई। दोनों संप्रदायों में उप-संप्रदायों का निर्माण हुआ जिसके परिणामस्वरूप आज जैन धर्मानुयायी जैन समाज सम्प्रदाय, उप संप्रदाय आदि में विभक्त है। इस सम्बन्ध में पिछला इतिहास बहुत कटु है। हमारे पूर्वजों में से अधिक ने छोटे-छोटे मतभेद के प्रश्न को महत्वपूर्ण निरूपित करते हुए पृथक्-पृथक् उप-संप्रदायों का निर्माण किया। यह विश्व के आश्चर्यों मे एक आश्चर्य है। यह माना जावेगा कि हमारे पूर्वज सैद्धान्तिक दृष्टि से अनेकाती विचार पद्धति के हामी होते हुए भी व्यवहार में उप-संप्रदायों के निर्माण के कारणीभूत मतभेदों का निराकरण नहीं कर पाये, भिन्न मत अथवा भिन्न रुचि में आंशिक सत्य का दर्शन नही कर पाये। इसमें संदेह नही कि हमारे पूर्वाचार्यों में कई ने इस सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण अपनाया किन्तु उनकी वाणी अधिक प्रभावशाली न हो सकी। वास्तव में इन उप-संप्रदायों के भीतर निर्मित गच्छ-भेद-रुचि-वैचित्र्य एक महत्वपूर्ण कारण था। यदि हमारे पूर्वाचार्य इस वास्तविकता पर पूर्ण ध्यान दे सकते तो भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट अहिंसा के बौद्धिक पक्ष 'अनेकात विचार पद्धति' को अधिक बल मिलता और जैन समाज अधिक अखंड बलशाली रहता। यह कटु सत्य हमें स्वीकार करना चाहिये कि इसी कारण जैन-समाज मे प्राणी-हिंसा के विरुद्ध जो वातावरण गत २५०० वर्षों में निर्मित हो सका उतना अच्छा वातावरण सामाजिक, आर्थिक, एवं बौद्धिक अहिंसा के लिये तैयार नहीं हो सका। जाति-पांति, छुआ छूत का एक दम विरोधी जैन-धर्म अपने अनुयायी जैन समाज से यह रोग इतने लम्बे काल में भी समाप्त नहीं कर सका। अपरिग्रहवाद का हामी जैन-धर्म अपनी अनुयायी जैन समाज में परिग्रह-परित्याग व्रत को popular नहीं कर सका। और इसी प्रकार अनेकांत विचार पद्धति का हामी जैन-धर्म अपने आन्तरिक मतभेदों का 'समन्वय' करके विशाल जैन समाज का निर्माण नहीं कर सका। क्या अभी समय नहीं आया है कि जब 'अहिंसा' सिद्धान्त की विशालता को

ध्यान में रखकर अहिंसा के अन्य पक्ष सामाजिक तथा आर्थिक न्याय, सर्वधर्म समभाव धार्मिक सहिष्णुता, बौद्धिक 'अहिंसा' पर भी और जोर डाले।

जेण विणा वि लोगस्स ववहारो सव्वहा न निव्वडई।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंत-वायस्स ॥

अर्थ—जिसके बिना संसार का व्यवहार सर्वथा चल नहीं सकता, ऐसे त्रिभुवन के गुरुरूप 'अनेकान्तवाद' को नमस्कार हो।

आशा है कि समाज का प्रबुद्ध विचारक वर्ग इस दिशा में विचार करेगा।

६

भगवान महावीर की अनेकान्त दृष्टि

(समन्वयात्मक दृष्टिकोण)

विश्व के भावी इतिहासकार के सम्मुख यह एक महान् आश्चर्य का विषय रहेगा कि भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित 'अनेकान्त सिद्धान्त' का हामी जैन समाज अपने भीतर उत्पन्न मत-भिन्नता तथा उसके आधार पर स्थापित विभिन्न सम्प्रदायों का गत शताब्दियों में समन्वय क्यों नहीं कर पाया ? यह एक ऐसी समस्या है कि जिसका निराकरण आज तक कोई विचारक नहीं कर पाया। इस संदर्भ में यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक है कि क्या जैन समाज ने भगवान महावीर का उक्त सिद्धांत केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से अपनाया था या उस पर व्यवहार करके साम्प्रदायिक विभिन्न मान्यताओं तथा उसके कारण उत्पन्न वैषम्य को शमन करने के लिए ? अथवा समाज के महान आचार्य विभिन्न सम्प्रदायों में आंशिक सत्य होना स्वीकार नहीं करते थे।

भगवान महावीर के समय मे इस देश में विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले "वाद" विद्यमान थे और भगवान महावीर ने उन वादों का समन्वय किया है। इसी विचार सारणी के अनुकरण में पश्चातवर्ती जैन आचार्यों ने भारतीय इतर दर्शनों में आंशिक सत्य की अनुभूति की। एक दूसरे जैनाचार्य ने देश में प्रचलित विभिन्न दर्शन में विशिष्ट नय की अपेक्षा से सत्यता का आभास पाया। यही कारण है कि विभिन्न दर्शन आंशिक सत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस कारण उनमें पाखण्ड होने की घोषणा की गई। किन्तु उक्त जैनाचार्य ने यह उद्घोष करने में हिचक नहीं की कि जैन दर्शन पाखण्डों का समूह है। इस 'उद्घोष' में जैनाचार्यों के हृदय में जो विचार काम कर रहा था वह यह था कि जैनदर्शन में सब दर्शनों के आंशिक सत्य का

समन्वय करके पूर्ण सत्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसी कारण जैनाचार्यों ने अपने निश्चय की यह घोषणा भी की।

> पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
> युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

उक्त जैनाचार्य ने भगवान महावीर के वचनों के प्रति पक्षपात तथा कपिल आदि मुनियों के वचनों के प्रति द्वेष न होना प्रगट किया। उन्होंने केवल युक्तिपुष्ट वचनों को अंगीकार करने का निश्चय किया।

प्राचीन ग्रन्थ इस बात के साक्षी हैं कि भगवान महावीर के समय में भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रमण विद्यमान थे। दोनों श्रमणों के विचार तथा आचार में कुछ भिन्नताएँ थी। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य उत्तराध्ययन सूत्र के तेइसवें अध्ययन मे दोनों मान्यताओं के प्रमुख श्रमणों का सम्मेलन हुआ और उस सम्मेलन में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया। उक्त सम्मेलन सफल हुआ और दोनों परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले मुनिराज "अहिंसा धर्म" के प्रचार-प्रसार करने में जुट गये।

भगवान महावीर के समय में भी श्रमणवर्ग में सचेल और अचेल श्रमण विद्यमान थे और दोनो भगवान महावीर द्वारा उपदेशित 'अहिंसाधर्म' को देश भर में फैलाने के कार्य मे जुटे थे। किन्तु भगवान महावीर के कई शताब्दि पश्चात् सचेल-अचेल का प्रश्न महत्वपूर्ण बन गया और उसके आधार पर जैन समाज में श्वेताम्बर और दिगम्बर दो परम्परायें विभाजित हो गईं। वैमनस्य और विद्वेष के इस बीज ने और विकराल रूप धारण किया और श्वेताम्बर परम्परा मूर्ति और मन्दिर के प्रश्न को लेकर दो भागों में विभाजित हो गई। दुर्भाग्य यहीं समाप्त नहीं होता अपितु अमूर्तिपूजक समाज अहिंसा के विधानात्मक तथा निषेधात्मक पक्ष के एकांतिक आग्रह के आधार पर स्थानकवासी तथा तेरापन्थी ऐसे दो भागों में विभक्त हो गया। दिगम्बर समाज भी तेरहपंथ, बीसपंथ, तारणपन्थ आदि भागों में विभक्त हो गया। विभाजन के इस दौरान में उपरोक्त सम्प्रदायों में भी विभाजन करके अत्यन्त संकुचित घेरे में बन्द कर दिया। यह एक आश्चर्य का विषय रहेगा कि हमारे प्राचीन जैनाचार्य उपरोक्त सम्प्रदायों उप-सम्प्रदायों की मान्यताओं का समन्वय क्यों नहीं कर पाये? मेरी यह निश्चित मान्यता है कि यदि विचारभेद का समन्वय तत्कालीन जैनाचार्य कर पाते तो उनके द्वारा जैनदर्शन की अधिक सेवा हुई होती। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन जैनाचार्यों ने समाज में शान्ति स्थापनार्थ यह उद्घोष किया कि

न श्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे, न तत्ववादे न च तर्कवादे ।
न पक्ष-सेवाश्रयेण मुक्तिः, कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव ॥

उन्होंने श्वेताम्बर अथवा दिगम्बरत्व में मुक्ति नहीं मानीं । न तर्कवाद में, न तत्ववाद में । उन्होंने यह भी कहा है कि पक्षपात दृष्टिकोण से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती । कषाय मुक्तता से ही केवल मुक्ति प्राप्त हो सकती है किन्तु कोई ऐसा सफल प्रयत्न विभिन्न सम्प्रदायों अथवा उपसम्प्रदायों का समन्वय करने की दिशा में किया जाना नही पाया जाता । यही कारण है कि गत दो सहस्र वर्षों में जैन समाज के विभक्त हो जाने के कारण बहुत बड़ी हानि हुई । परस्पर कलह वैमनस्य हुआ और उसके परिणामस्वरूप तीर्थ; मन्दिरों, और धार्मिक स्थलों के सम्बन्ध में मुकदमेबाजी हुई । यदाकदा दो सम्प्रदायों के दरम्यान शास्त्रार्थ में समाज की शक्ति तथा धन का अपव्यय करना पड़ा इसमें कोई सन्देह नहीं ।

गत कुछ शताब्दियों में शास्त्रार्थों की परम्परा समाज से विदा हुई यह एक आशाप्रद सकेत है कि जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदाय तथा उप सम्प्रदाय परस्पर निकट आने की दिशा मे प्रयत्नशील हैं । देश मे प्रत्येक वर्ष भगवान महावीर का जन्म दिवस सम्मिलित रूप से मनाये जाने की प्रथा काफी सीमा तक सफल हुई है । समाज का विचारकवर्ग जैन समाज के अन्य पर्व दिवसों को सम्मिलित रूप से समारोहपूर्वक मनाने की दिशा में प्रयत्नशील है । इसमे सन्देह नहीं कि, इन प्रयत्नों से समाज की विचारप्रणाली में कुछ अन्तर हुआ है । किन्तु यह प्रयत्न इस भागीरथ काम को लक्ष्य में रखकर अत्यन्त अपर्याप्त मालूम होते हैं । इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि समाज को इस दिशा में प्रगति करने के लिए एक कार्यक्रम तैयार किया जाय । और विभिन्न सम्प्रदाय उक्त कार्यक्रम पर विचार करके उस पर अमल करें ।

इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि किसी भी समाज में वैचारिक क्रान्ति के लिए काफी समय लगता है । किन्तु इसमें अधीर होने की आवश्यकता नही । यदि हमारी दिशा सही है तो समाज चाहे देर से सही, उस लक्ष्य तक पहुंचेगा । इस दृष्टिकोण से समाज के सन्मुख इस लेख के माध्यम से एक योजना प्रस्तुत की जा रही है । मेरा विश्वास है यदि समाज ने इस को कार्यान्वित किया तो हम लक्ष्य पर पहुँचने में सफल हो सकेगें ।

(१) जैन समाज के किसी सदस्य को अपने परिचय के लिए 'जैन' शब्द से अधिक नही बताना चाहिए । परिचय में साम्प्रदायिक भेद-प्रभेदों का उपयोग नही होना चाहिए ।

(२) जैन समाज के अन्तर्गत जो साम्प्रदायिक मान्यताओं में मतभेद है उनका आलोचनात्मक सार्वजनिक रूप से प्रचार नहीं किया जाना चाहिए।

(३) जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदायों को पर्युषण-पर्व एक ही साथ मनाना चाहिए। श्वेताम्बर, दिगम्बर सम्प्रदायों में जो अलग-अलग रूप से पर्युषण-पर्व मनाया जाता है, उसके स्थान पर कोई सर्वसम्मत हल निकाल कर एक साथ मनाना चाहिए।

(४) जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदायों को संवत्सरी, वर्ष में एक साथ, एक ही दिन मनानी चाहिए।

(५) विभिन्न सम्प्रदाय एक दूसरे के प्रति आलोचनात्मक साहित्य का प्रकाशन न करें।

(६) सर्वसाधारण जनता में प्रचार के लिए समन्वयात्मक दृष्टिकोण का साहित्य ही प्रकाशित किया जाना चाहिए।

(७) समाज द्वारा संचालित शिक्षा-संस्थाओं के पाठ्यक्रम में इस प्रकार के साहित्य को विशिष्ट स्थान देना चाहिए जिसमे समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया हो।

(८) प्रत्येक सम्प्रदाय अपने यहाँ के कार्यक्रमो में जैन समाज के अन्य सदस्यों को निमन्त्रित किया करें।

(९) नगर में विभिन्न सम्प्रदाय के सन्त या साध्वी आएँ तो उनके स्वागत, प्रवचन आदि में इतर सम्प्रदाय के व्यक्ति भी भाग लें।

(१०) यदि संयोगवश विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिष्ठित सन्त एक ही नगर में हों तो सम्मिलित-व्याख्यानों की पद्धति प्रारम्भ की जानी चाहिए।

७

भगवान् महावीर और उनका समाजवाद

भगवान महावीर जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका कार्य काल आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व का माना जाता है। अब यह निर्विवाद मान लिया गया है कि भगवान महावीर एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनका ७२ वर्ष का संक्षिप्त जीवन तीन विभागों में विभक्त है। प्रथम ३० वर्ष तक राजकुमार के रूप में, उसके पश्चात् श्रमण के रूप में लगभग १२ वर्ष तथा केवल्य-प्राप्ति के पश्चात् ३० वर्ष तक जगत को मोक्ष मार्ग के उपदेष्टा के रूप में। इस प्रकार ७२ वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया। भगवान महावीर के युग में तात्कालीन समाज की व्यवस्था कैसी थी? उसमें आर्थिक वैषम्य तथा अर्थ जन्य द्वेष ईर्ष्या आदि विद्यमान थी या इससे विपरीत सब क्षेत्रों में समता विद्यमान थी? यह महत्व पूर्ण प्रश्न कई विचारकों के सम्मुख है। तत्कालीन समाज व्यवस्था का जो चित्र जैन आगमों में विद्यमान है, उससे यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उस युग में भी अर्थिक विषमता, द्वेष, ईर्ष्या सब कुछ था। प्रश्न परिमाण (डिग्री) का नहीं है। परिमाण जानने के लिए आज निश्चित साधन हमारे पास नहीं है। किन्तु तत्कालीन समाज व्यवस्था का जो शब्द चित्र लगभग २५०० वर्ष के पश्चात् भी उपलब्ध है, उससे यह कहा जा सकता है कि उस समय समाज के सदस्यों में संग्रहवृत्ति भी थी। इस कारण जहाँ पर एक व्यक्ति बहुत धनी था वहाँ दूसरा व्यक्ति अत्यधिक अभावग्रस्त था। गृहस्थ अपने यहाँ नौकर-चाकर रखते थे, केवल यही नहीं अपितु दास प्रथा तक विद्यमान थी। डा० जगदीश चन्द्र जैन ने अपनी पुस्तक "जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज" में "ऋण-दास, दुर्भिक्ष दास, दासचेट, दास चेटिया आदि का उल्लेख करते हुए यह भी बताया है कि इस प्रकार के दासी की मुक्ति किस प्रकार हुआ करती थी। तात्पर्य यह है कि तत्कालीन समाज व्यवस्था विशेषतः अर्थ में सदभाव तथा

अभाव (Haves and haves not) की समस्या थी। निश्चित रूप में इस कारण विषमता, द्वेष, ईर्ष्या सब हुआ करती थी। यदि हम जैन आगम (अंग साहित्य) में से 'उपासक दशांग' का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट होगा कि १० श्रावकों की जीवन-गाथा उक्त साहित्य में वर्णित की गई है, उनके पास कितनी प्रचुर मात्रा में सम्पत्ति थी। केवल यही नही, अपितु धन के उत्पादन के मुख्य साधन (भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध) पर उनका अधिकार (चाहे एकाधिकार न हो) था। इस देश की प्राचीनअर्थ व्यवस्था विशेषत: ग्रामीण-क्षेत्र में (कृषि पर अवलम्बित थी। इन श्रावकों के अधिकार में विपुल भूमि थी, पशु अत्यधिक मात्रा में थे। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि समाज के छ: सदस्यों के पास जहाँ विपुल सम्पत्ति थी वहाँ अर्थोपार्जन के प्रमुख साधन भी विपुल मात्रा मे थे। इस कारण कोई धनी अधिक नही होता जाये, इसमें आश्चर्य की बात नहीं।

प्रश्न यह है कि भगवान महावीर ने इस समस्या का हल क्या किया ? उपरोक्त चित्र के पश्चात् भी निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि केवल पूँजी बल पर तत्कालीन समाज व्यवस्था में "शोषण" की गुंजायश कम थी। तत्कालीन समाज व्यवस्था में मशीन का आविष्कार नही था और न बड़े कल-कारखाने ही थे। सत्य यह है कि इस प्रकार की मनुष्य-भक्षी "मशीन" के अभाव के कारण आज जैसा शोषण नही हो सकता था। उस समय मनुष्य स्वयं श्रम से अथवा अपने नौकरों के द्वारा उत्पादन कराता था। निश्चित रूप से शोषण तो था किन्तु उसकी मात्रा नगण्य थी। इस परिस्थिति में भगवान महावीर ने आर्थिक वैषम्य,द्वेष, ईर्ष्या की समाप्ति के लिए मानव जाति को अपरिग्रह (इच्छा परिमाण व्रत) का विधान किया। कहा जाता है कि मनुष्य की इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है (इच्छाहु आगाससमा अणंतया): यदि मानव का इच्छाओं पर नियंत्रण न हो तो वह राक्षस बन सकता है, यह ध्यान रखने योग्य बात है "इच्छा" का नियन्त्रण किया गया है। इच्छा तथा आवश्यकता में बड़ा अन्तर है। यह सत्य है कि आवश्यकताओं का भी वर्गीकरण; आवश्यकता, अति आवश्यकता, अनिवार्य आवश्यकता आदि किया जा सकता है। भगवान ने जगत में व्याप्त दु:ख, अशांति, संघर्ष की समस्या का हल निकाला कि मनुष्य अपनी धन-सम्पत्ति सम्बन्धी इच्छाओं को नियंत्रित करें,साथ ही अपने स्वयं के भोगोपभोग की वस्तुओं का भी परिमाण निश्चित करें। (श्रावक के व्रतों में पंचम "अपरिग्रह" तथा सप्तम भोगोपभोग परिमाण व्रत) इस प्रकार समस्या का हल आत्मा के नियन्त्रण के रूप में जगत के समक्ष रखा। इसके अतिरिक्त भगवान ने संतोष का जीवन व्यतीत करने तथा दान

का भी उपदेश दिया। अभाव-पीड़ित व्यक्ति को संतोष की बात कहना पर्याप्त नहीं है। उसको अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिये द्रव्य की आवश्यकता होती है। इसके लिये "दान" का विधान किया गया। यह सत्य है कि आज के कुछ विचारक इस (संतोष तथा दान) उपदेश की व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हैं उनका कहना है कि संतोष की बात अभाव-पीड़ित व्यक्ति हृदय में भाग्यवादिता का आरोपण करके यथास्थिति में (गरीबी में) जीवन व्यतीत करने के लिए निश्चित करती है तथा दान देकर उसकी गरीबी को सदैव के लिए स्थिर रखती है। यह सत्य है कि आज के साधन-सम्पन्न धनी समाज की ओर से इस प्रकार का उपदेश शोभा नहीं देता। संतोष उसे स्वयं करके आदर्श उपस्थित करना चाहिए। आज का दान इस प्रकार से कीर्ति दान (यश की इच्छा से दान) है। यदि हम प्राचीन परम्परा को, देखें तो ज्ञात होगा कि दान दाता, दान देकर अपने को कृतकृत्य अनुभव करता था। तात्पर्य यह है कि भगवान ने जहाँ संग्रह के विसर्जन के लिए दान का उपदेश दिया वहाँ भविष्य में संग्रह न होने के लिए नियंत्रण का उपदेश दिया। मानव की सदसद् विवेक बुद्धि ऐसी थी कि वह अपने पर राज्य द्वारा निर्मित कानून के नियन्त्रण के बजाय स्वयं पर नियन्त्रण रखना उचित समझती थी। इस कारण राज्य द्वारा इस प्रकार के प्रयत्नों की चर्चा प्राचीन साहित्य में नहीं है कि जिसके द्वारा यह कहा जा सके कि राज्य ने सम्पत्ति की सीमा बांध दी या भूमि की अधिकतम सीमा लगाकर शेष भूमि राज्य ने "अधिगृहीत" कर ली।

तत्कालीन समाज व्यवस्था के अध्ययन के परिणामस्वरूप हम इस निश्चय पर भी पहुंचते हैं कि आर्थिक वैषम्य होते हुए भी समाज में अर्थ-प्रधानता नहीं थी। भगवान की सभा में राजा-रंक का कोई भेद नहीं था। राजा श्रेणिक को जो स्थान प्राप्त था, वही समाज के अभाव-ग्रस्त गरीब व्यक्ति को। एक समय किसी ने भगवान से श्रेणिक के परलोक गमन के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि उसे मृत्यु उपरान्त कौन सी योनि मिलेगी? भगवान ने श्रेणिक (जो भगवान का परम भक्त था) के सम्बन्ध में कहा कि वह नरकगामी होगा। भगवान की सभा में सबके साथ समान व्यवहार होता था।

जहा पुण्णस्स कत्थई, तहा तुच्छस्स कत्थई।
जहा तुच्छस्स कत्थई, तहा पुण्णस्स कत्थई।

जिस प्रकार पुण्यवान को उपदेशक उपदेश देता है उसी प्रकार दीन दरिद्र को भी उपदेश देता है। जिस प्रकार दीन दरिद्र को उपदेश देता है उसी प्रकार

पुण्यवान् सम्पन्न व्यक्ति को उपदेश देता है। तात्पर्य यह कि दोनों के प्रति एक-सा भाव रखना चाहिये।

वास्तविकता यह है कि भगवान महावीर का जीवन जितना त्याग-मय था, उसके अनुसार यह संभव नहीं था कि समाज में अर्थ का प्राधान्य हो या अर्थ पूजा की वृत्ति उत्पन्न हो। किसी भी धर्मोपदेष्टा के व्यक्तिगत जीवन का प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ना अनिवार्य है। यही नहीं, भगवान महावीर के समकालीन महात्मा बुद्ध तथा उनके पश्चात्वर्ती महात्मा ईसा तथा हजरत मुहम्मद की जीवनी त्याग की भावना से ओतप्रोत थी इस कारण तत्कालीन समाज पर उसका प्रभाव पड़ेगा ही। महात्मा ईसा का वह वाक्य प्रेरणा-स्तंभ है जिसमें कहा था कि "यह तो संभव है कि सूई के छेद में से ऊँट निकल सके किन्तु यह सम्भव नहीं है कि धनी व्यक्ति स्वर्ग के द्वार में प्रवेश पा सके।" धर्मोपदेष्टा का स्वयं का जीवन प्रेरणादायी होता है उस समय "Charity begins at home" का सिद्धान्त होता था, आज परिस्थिति विपरीत है। सम्भवतः वर्तमान परिस्थिति में यह आवश्यक नहीं माना जाता कि किसी राजनीतिक दर्शन या आर्थिक दर्शन का प्रचार करने वाले का स्वयं जीवन उसी प्रकार के सिद्धान्तों से परिपुष्ट हो इसी कारण आज 'वाद' का महत्व बढ़ गया है। समाजवादी व्यवस्था में विश्वास रखने वाले या उसके उपदेष्टा के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह तत्सम सिद्धान्तों के अनुकूल अपना जीवन बितावें। यह पर्याप्त है कि उस 'वाद' मे विश्वास करता हो।

यूरोप में गत १००-२०० वर्षों में औद्योगिक क्रांति हुई, उसके परिणाम-स्वरूप यूरोप में बड़े-बड़े कलकारखानों का निर्माण हुआ और स्वयं-चालित मशीनों के कारण मानव की उपयोगिता कम होती गई। इस औद्योगीकरण ने कई समस्याओं को जन्म दिया। किसी कार्य को सम्पन्न करने मे जितनी मानवीय शक्ति Man-power की आवश्यकता थी, उससे बहुत कम की आवश्यकता रह गई। बड़े उद्योग बहुत बड़ी पूंजी लगाकर ही स्थापित किये जा सकते हैं। पूंजी-पतियों ने अपनी संचित पूंजी का उपयोग करके अपने स्वामित्व के कारखाने कायम किये, उत्पादन की विपुलता के कारण वह पूंजी-पति और अधिक सम्पन्न होता गया। इधर मजदूरों के श्रम की कीमत पर यह सब हो रहा था, उनका शोषण किया जा रहा था। इस कारण उनमें असन्तोष, ईर्ष्या, द्वेष के भाव जागृत हुए। यूरोप के अनुकरण के परिणाम स्वरूप हमारे देश में भी औद्योगीकरण किया गया तथा किया जा रहा है। जिस प्रकार यूरोप में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप धनी अधिक धनी हुआ, मजदूर बेकार हुआ। इसी प्रकार हमारे देश मे भी यही स्थिति हुई। देश में आर्थिक विषमता परस्पर

ईर्ष्या, द्वेष का निर्माण हुआ और वर्ग-संघर्ष हुए। इसके परिणामस्वरूप जगत में दुःख, अशान्ति तथा संघर्ष है। प्रश्न यह है कि इस स्थिति के निराकरण का क्या उपाय? उपरोक्त परिस्थिति में मानव समाज के सम्मुख समस्या यह है कि समाज के कुछ व्यक्तियों के पास सम्पत्ति अधिक संग्रह होती जा रही है तथा साथ ही उत्पादन के साधनों पर उनका अधिकार है जिसके द्वारा वह अभाव-ग्रस्तों का शोषण करता है। कुछ आधुनिक विचारकों के मत में सम्पत्ति का स्वामित्व व्यक्ति के पास नहीं रहना चाहिये सम्पत्ति का स्वामी समाज रहे। यह पृथक् बात है कि इस प्रकार के स्वामित्व के लिये सम्पत्ति में निवास योग्य मकान या ऐसी ही अनिवार्य सम्पत्ति सम्मिलित न की जाए। दूसरे कुछ विचारकों का मत है कि सम्पत्ति की सीमा का बन्धन कर दिया जाए। यह भी हो सकता है कि अमुक मूल्य तक की सम्पत्ति के उपरान्त की सम्पत्ति पर कर-भार अधिक कर दिया जाए, किन्तु समस्या यहीं समाप्त नहीं होती। यदि उत्पादन के साधन पर समाज का आधिपत्य न हो तो मनुष्य पुनः सम्पत्ति-शाली हो जावेगा तथा शोषण करता रहेगा। इसके लिये मुख्य उद्योग समाज के अधिकार में होने चाहिये, उसका संचालन समाज करे तो व्यक्ति शोषण न कर सकेगा।

डा० सम्पूर्णानन्द ने अपनी पुस्तक 'समाजवाद' में यह लिखा है कि आज कल ही नहीं, प्राचीन काल में ऐसे उदार-चेता व्यक्ति हुए जिनके हृदय मनुष्यों के पारस्परिक कलह, उत्पीडन, शोषण, वैषम्य को देखकर व्यथित हो उठे थे। उन्होंने ऐसे जगत् के मानस-चित्र खींचे जिसमें सभी सुखी तथा समान होंगे। ऐसे काल्पनिक जगत् का चित्र खींचने वाली प्रसिद्ध पुस्तक 'यूटोपिया' है जिसके लेखक सर टामसमोर हैं। आज से १५० वर्ष पूर्व मशीनों का निर्माण नगण्य था। पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचने के साधन संकुचित थे। उस समय यह रोग नहीं था। आजकल की वैज्ञानिक सभ्यता ने जिस प्रकार के उत्पीड़न, दरिद्रता, तथा शोषण को जन्म दिया, उसके शमन के लिए वैज्ञानिक समाजवाद की सृष्टि की गई है, (पृष्ठ ८६) वास्तव में देखा जाए तो आज की समस्या का हल समाजवाद के पास है। इसमें सन्देह नहीं है कि समाजवाद भारतीय होगा। देश के अनुकूल परिवर्तन करके भारतीय परिस्थिति के अनुसार उसे ढालना होगा। इसी प्रकार राष्ट्रीय-करण के प्रश्न पर भी पुनः विचार करना होगा। आज के युग में राष्ट्रीयकरण के परिणाम देश स्वयं अनुभव कर रहा है। प्रशासन-तन्त्र जब तक ईमानदार, कुशल, परिश्रमशील नहीं होगा, तब तक राष्ट्रीयकरण का पूरा लाभ राज्य या समाज को नहीं मिल सकता। इसलिए प्रशासन तथा प्रबन्धक

(राष्ट्रीयकृत उद्योग से संबंधित) की समस्या पर पूरा ध्यान दिया जाना अनिवार्य है।

वैसे समाजवादी विचार की कई धाराएँ हैं पर इसमें सबसे प्रौढ़ वह है कि जिसके प्रवर्तन का श्रेय कालमार्क्स तथा फ्रेडरिक एंगेल्स को है इसके दो ग्रन्थ विशेष रूप से प्रामाणिक है। मार्क्स एंगेल्स लिखित कम्युनिष्ट मेनिफेस्टो (सन् १६०५ मे प्रकाशित) और दूसरी मार्क्स लिखित 'दास केपिटल' सन् १६१४ से १६५१ तक प्रकाशित (पृष्ठ ८७) सम्पत्ति पूरे समाज के स्वामित्व में रहे तथा उत्पादन के साधनों पर समाज का आधिपत्य रहे। इस विचारधारा के लिये आवश्यक है कि शासन का सूत्र समाजवादी हाथों में रहे। जब समाजवाद में आस्था रखने वाले के हाथ मे शासन सत्ता होगी तब ही वह इस प्रकार के प्रयत्न तेजी से करेगा कि जिसके द्वारा समाज में व्याप्त बुराइयों की समाप्ति हो सके। आज-कल कई लोगों के लिये यह एक प्रगतिशीलता-परिचायक शब्द हो गया है और यदाकदा उसका उपयोग वे भी करते रहे हैं जिनको इस पद्धति में अधिक आस्था नहीं है। इसी परिस्थिति को ध्यान में रखकर एक अंग्रेजी विचारक ने कहा था कि समाजवाद एक ऐसी टोपी है जो किसी भी सर पर फिट हो सकती है। वास्तविक समाजवाद का भी एक दर्शन है कि जो सामूहिक जीवन के विकास तथा परिवर्तन को समझ कर तदनुकूल अपनी अर्थप्रणाली निश्चित करने मे सहायता देता है। (डा० सम्पूर्णानन्द की पुस्तक 'समाजवाद" पृष्ठ ८६)।

हमारे देश में चाहे प्राचीन काल में इस प्रकार के समाजवाद या साम्यवाद की चर्चा न रही हो किन्तु इतना निश्चित है कि प्राचीन ऋषि-मुनियों के मन-मस्तिष्क में इसके तत्व के रूप मे विचार वर्तमान थे। उन्होंने जन-मानस को उपदेश दिया (असंविभागी न हु तस्स मोक्खो) इतना भेद आवश्यक था कि उनकी समाजवादी विचार-प्रणाली स्वात्मनियन्त्रित थी। किसी शासन सत्ता का जबरन लादा हुआ सिद्धान्त नहीं था। स्वेच्छा-पूर्ण आत्म-नियन्त्रण अधिक सफल होता था। आज की समाजवादी-प्रणाली शासन-सूत्र ग्रहण किये बिना तथा उसके द्वारा अंगीकृत नीति या वैधानिक मान्यता के बिना कार्यान्वित नहीं हो सकती।

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक समाजवाद हो या साम्यवाद, उसे दार्शनिक जीवन-दृष्टि भी अपनानी पड़ेगी। उसी भावना से समाज के कल्याण की आशा की जा सकती है। बौद्ध विद्वान स्व० श्री धर्मानन्द जी कोसाम्बी की पुस्तक

'भगवान बुद्ध' में ख्यातनामा साहित्यकार काका कालेलकर ने श्री कोसाम्बीजी का परिचय देते हुए लिखा था—

"धर्मानन्द जी इस निर्णय पर पहुँचे थे कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में से बौद्ध और जैन यह दो धारा निकली हैं। उनका यह भी अभिप्राय था कि बौद्ध और जैन विचार-पद्धति की बुनियाद में जो दार्शनिक जीवन-दृष्टि है उसको स्वीकार करने से ही समाजवाद और साम्यवाद कृतार्थ हो सकेंगे और मानव-जाति का कल्याण करने की साधना आज के मानव के हाथ में आवेगी।"

८

भगवान महावीर के प्रति एक सच्ची श्रद्धांजलि

उर्दू के एक कवि ने कहा है—

किस्सये अज़मते माज़ी को, न मुहमिल समझो।
कौमें जाग उठती हैं, इन अफसानों से ।।

विश्व में यह सामान्य प्रथा रही है कि जब संसार में अधर्म, अन्याय, अत्याचार का वर्चस्व हो जाता है अथवा मनुष्य में जब मनुष्यत्व कम हो जाता है धर्म, अंधविश्वास का रूप ले लेता है, वह केवल रूढ़ियों का समूह रह जाता है तब इस स्थिति का सुधार करने के लिये किसी महापुरुष का संसार में अवतरण होता है। यदि हम लगभग ३००० वर्ष पूर्व के धार्मिक इतिहास पर नजर डालें तो हम श्रमण-परम्परा में एक महान् क्रान्तिकारी महामानव 'पार्श्वनाथ' का अवतरण होना पाते हैं, उन्होंने अपने समकालीन प्रचलित तापस-परम्परा (जो अज्ञानपूर्ण तप करके केवल देहदमन करती थी) में काफी सुधार करके तपस्या का मर्म जगत को बताया, चातुर्याम-धर्म का उपदेश दिया। भगवान् पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उसके केवल २५० वर्ष पश्चात् भगवान् महावीर का अवतरण हो जाने के पश्चात् आज भी अजैन क्षेत्रों में भ० पार्श्वनाथ अधिक परिचित है। भ० महावीर के समय भ० पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ अस्त-व्यस्त हो चुका था, यह अत्यन्त आवश्यक था कि उसका पुनर्गठन किया जावे। भ० महावीर के माता पिता भ० पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रमणों के उपासक थे। यही नही कुछ विद्वानों की मान्यता है कि भ० महावीर के समकालीन भ० बुद्ध ने बोधिलाभ-प्राप्ति से पूर्व जिन धर्मगुरु के पास कठिन तपस्या की थी, वह भ०पार्श्वनाथ के श्रमण थे। जो कुछ हो, किन्तु प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् स्व० श्री धर्मानन्द कोसाम्बी का यह मत रहा है कि भ० महावीर तथा भ० बुद्ध ने अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ से अवश्य प्रेरणा प्राप्त की है।

भ० महावीर द्वारा चतुर्विध तीर्थ का पुनर्गठन करते समय भ० पार्श्वनाथ से संबंधित श्रमणवर्ग विद्यमान था तथा दोनों परम्पराओं में विस्तार के संबंध में कुछ मतभेद था। भ० पार्श्वनाथ की परम्परा में चातुर्याम धर्म तथा भ० महावीर की परम्परा में पंच महाव्रत रूप धर्म की मान्यता थी। इस कारण दोनों परम्परा के प्रतिनिधि मुनियों का मधुर-मिलन होकर समस्या का समाधान हुआ। श्रमण-परम्परा की इस महान् घटना ने विश्व के सन्मुख यह सिद्ध कर दिया कि सैद्धान्तिक मतभेदों तक का निराकरण अनेकांत-पद्धति से निश्चित रूप से किया जा सकता है। विश्व की कोई ऐसी समस्या नहीं कि जिसका समाधान समन्वयवादी मार्ग द्वारा न हो सकता हो। दोनों परम्पराओं में सामंजस्य स्थापित हो जाने के पश्चात् भ० महावीर की केवल एक ही परम्परा रही और दोनों परम्परा के अनुयायी महाभाग श्रमणों ने भ० महावीर द्वारा उपदेशित पंच महाव्रत रूपी अहिंसाधर्म का सारे देश में अनवरत परिश्रम करके प्रचार-प्रसार किया। उसका यह परिणाम हम देखते हैं कि भ० महावीर के समकालीन भ० बुद्ध द्वारा उपदेशित बौद्ध धर्म को इस से पलायन करना पड़ा किन्तु भ० महावीर द्वारा उपदेशित अहिंसाधर्म आज २५०० वर्ष के पश्चात् भी भारतीय जन-जीवन में लोक-प्रिय है। कई व्यक्तियों के प्रेरणा का केन्द्र है।

भ० महावीर का प्रखर तेजस्वी व्यक्तित्व लगभग २५०० वर्ष पूर्व भारतीय रंग-मंच पर अवतरित हुआ। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी उनका शुभ जन्म-दिवस है। इस कारण यह उपयुक्त होगा कि इस संक्षिप्त लेख द्वारा उनके मानव धर्म, उदारतापूर्ण दृष्टिकोण के सम्बन्ध में विचार किया जावे। भ० महावीर के उपदेशों में कोई एक ऐसा उदाहरण नहीं दिया जा सकता जिसमें उदार दृष्टिकोण के बजाय संकुचित दृष्टिकोण अपनाया गया हो। प्राचीन जैन साहित्य में यत्र-तत्र इस प्रकार के विचार बीजरूप में विद्यमान हैं कि जिनका मानवतावादी दृष्टिकोण गोचर होता है। जहाँ इधर कई धर्माचार्यों ने मुक्ति अथवा स्वर्ग की ठेकेदारी केवल अपने अनुयायियों के लिये सुरक्षित होना बताया। जहाँ कुछ धर्माचार्यों ने स्वयं द्वारा उपदेशित धर्म मे दीक्षा लिये बिना स्वर्ग प्राप्ति संभव न होने का विधान किया, वहाँ भ० महावीर ने यह स्पष्ट विधान किया कि मनुष्य १५ प्रकार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। 'अन्यतीर्थ सिद्धा' तथा "अन्य लिंग सिद्धा" भी हैं। तात्पर्य यह था कि मुक्ति-प्राप्ति के लिए निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित होना तथा उसके प्रचलित बाह्य क्रियाकाण्ड, वेष आदि का स्वीकार करना आवश्यक नहीं था। निर्ग्रन्थ धर्म में प्रचलित सर्वमान्य "नमोक्कार मंत्र" (नमस्कार मंत्र) में जहाँ साधु मुनिराज को नमस्कार किया गया है वहाँ "णमो लोए सव्व साहूण" (लोकके सब साधुजनों को नमस्कार) शब्दों का प्रयोग

किया गया है। तात्पर्य यह कि साधुता की ठेकेदारी निग्र्रन्थ धर्म के आचार्यों ने केवल जैन साधुओं तक नहीं रखी। अपितु विश्व के समस्त साधुजनों को नमस्कार किया। सच बात यह है कि जो वेष-भूषा अथवा अन्य प्रकार से वेष्टित साधु है उनमे साधुता होगी ही यह दावा नहीं किया जा सकता। वेषधारी साधु से अपेक्षा अवश्य की जाती है कि उसमे साधुता के गुण हों किन्तु यह भी अनुभवों मे आया है कि कई मर्तबा यह अपेक्षा असत्य ठहरती है। वास्तव में 'साधुता', हृदयगत कोमल भावना, परोपकार वृत्ति, अहिंसक जीवन आदि पर अवलम्बित है। संतकवि तुलसीदास का कहना है कि—

संत हृदय नवनीत समाना, कहा कबिन पर कहै न जाना।
निज परिताप द्रवं नवीनता, पर दुःख द्रवै सो संत पुनीता।

इसलिए—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः।

हमको साधुता के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण जो निग्र्रन्थ धर्म में अपनाया गया है उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना मुश्किल है। वास्तव में जिन धर्माचार्यों ने संकुचित दृष्टिकोण अपनाया है वह धर्माचार्य नहीं अपितु विशिष्ट सम्प्रदाय के आचार्य कहे जा सकते हैं। भगवान महावीर ने जो उदार दृष्टि-कोण अपनाया था उनके प्रमुख शिष्यों में जो अनेकान्त-पद्धति से विचार करने की क्षमता थी उनका जो समन्वयवादी दृष्टिकोण था, वह भगवान के निर्वाण के पश्चात् कुछ वर्षों तक ही रह सका। कहा जाता है कि भगवान् के निर्वाण के पश्चात् श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी तक निर्ग्रंथ धर्म में प्रचलित अचेल तथा सचेल परम्परा में सामंजस्य रहा। इसमें संदेह नही कि श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी एक प्रतिभा-सम्पन्न तेजस्वी आचार्य थे। किन्तु उनके पश्चात् सचेल तथा अचेल परम्परा मे सामंजस्य न रह सका। नग्न श्रमण, वस्त्र सहित श्रमण को भगवान की आज्ञा के विरुद्ध और सशस्त्र श्रमण सभी नग्न श्रमणों को इसी प्रकार मानने लगे। उत्कृष्ट तथा निम्न की भावना उत्पन्न हो गई, परिणामस्वरूप श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायों का श्री गणेश हो गया।

इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् कई उदारमना आचार्यों ने दिगम्बर-श्वेताम्बर विवाद के बारे मे उदार, समन्वयवादी रुख अपनाया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्त्ववादे न च तर्कवादे ॥
स्व पक्ष-सेवाश्रयेण न मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥

किन्तु यह एक कठोर सत्य है कि इसके बाद भी दोनों विचार परम्परा का एकीकरण नहीं हो पाया। कहा जाता है कि किसी समय एक "यापनीय"

संघ का अस्तित्व था जिसकी कुछ कुछ-मान्यता श्वे० सम्प्रदायानुमोदित तथा कुछ दिगम्बर सम्प्रदायानुमोदित थी। किन्तु आज उसके बारे में अधिक माहिती उपलब्ध नहीं है, न उक्त संघ का अस्तित्व ही है। यह एक विडम्बना है कि अनेकांत-पद्धति से विचार करने तथा स्याद्वाद-पद्धति से उसको प्रचारित करने वाले महान् विद्वान् आचार्यों को इस दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा के एकीकरण में सफलता नहीं मिल सकी। तात्पर्य यह है कि उसके पश्चात् निग्रंथ धर्म के अनुयायियों का इतिहास भेद-प्रभेद की दृष्टि से निराशाजनक रहा है।

निग्रंथ धर्म के दो बड़े भेद (दिगम्बर श्वेताम्बर) स्थापित हो जाने के पश्चात् दोनों सम्प्रदायों में उप-सम्प्रदायों का निर्माण कुछ-कुछ बातों के मत भेदों को लेकर हुआ। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे स्थानकवासी तथा मूर्तिपूजक-देरावासी भेद हो गये। स्थानकवासी उपसम्प्रदाय में रुचिभेद अथवा प्रान्तीय वातावरण की भिन्नता के कारण प्रथम दो सम्प्रदायों का निर्माण हुआ। मूर्ति-पूजक देरावासी उपसम्प्रदाय में खरतर गच्छ-तपागच्छ आदि सम्प्रदायों का निर्माण हुआ। श्वेताबर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों में 'तेरह पंथ' की स्थापना की गई। दिगम्बर सम्प्रदाय में तारणपंथ, बीसपथ, आदि स्थापित हुए। तात्पर्य यह है कि लगभग २ हजार वर्षों से जैन (निग्रंथ धर्म) में भेद-उपभेद का जो वातावरण निर्माण हुआ उसके कारण जैन धर्म, उसकी समाज व्यवस्था अस्त-व्यस्त होती गई। इस लम्बे काल में कोई ऐसा सफल प्रयत्न नहीं हुआ कि जिसके कारण धार्मिक मान्यताओं का समन्वयवादी मार्ग निकालकर संगठित श्रीसंघ का आविर्भाव हो सके। इतना ही नहीं इस धार्मिक मान्यताओं के भेद ने धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में नाना प्रकार के झंझट उत्पन्न कर दिये। इस संक्षिप्त लेख में इन सबका विस्तारपूर्वक उल्लेख करना सम्भव नहीं है।

वास्तविकता यह है कि इन धार्मिक मान्यताओं के भेद-प्रभेद का अस्तित्व अधिकतर श्रद्धा पर आधारित है कि विभिन्न-भेद प्रभेदों के हामी गुरुजनों ने उनका आधार मौलिक बताकर इस प्रकार की स्थिति निर्माण कर दी है कि अनुयायियों का पृथक् सोचना, नाश का कारण मालूम पड़ता है। इसके लिये श्रावक, श्राविकाओं, अनुयायियों में धार्मिक साहित्य का अज्ञान अधिक जिम्मेदार है, जहाँ हमारे पूर्वाचार्यों ने धर्म के तत्व को अपनी बुद्धि से समीक्षा करके निश्चय करने का आदेश दिया था वहाँ अंध श्रद्धा ने मनुष्य के मन, मस्तिष्क पर कब्जा कर लिया। कहा है—

पन्ना-समिक्खए धम्मं तत्तं तत्त-विणिच्छियं ॥

आज समाज के सम्मुख विशेषकर समग्र जैन धर्म तथा जैन समाज की

भाषा में सोचने वाले वर्ग के सम्मुख प्रश्न यह है कि वर्तमान स्थिति में अच्छाइयों का समावेश किस प्रकार किया जा सकता है ? धार्मिक क्षेत्र में अन्ध श्रद्धा, साम्प्रदायिकता का बोलबाला है। हम धार्मिक क्षेत्र में अंध-श्रद्धा, साम्प्रदायिकता के दोषों से मुक्त रह सकते हैं। आगामी श्री महावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर क्या यह सच्ची श्रद्धांजलि नही होगी, यदि हम अपने-अपने अन्तःकरण से अन्ध श्रद्धा, साम्प्रदायिकता से अलग रहने का संकल्प करें। मेरे मत में यह सच्ची श्रद्धांजलि होगी। मैं जैन समाज के प्रबुद्ध वर्ग से अपील करता हूँ कि वह इस दिशा में सक्रिय पहल करें। तभी हम पूर्वाचार्यों के सर्वोदय तीर्थ की रचना साकार देख सकेंगे। और निर्ग्रंथ धर्म को विश्व धर्म के रूप मे मूल्यांकन कर सकेंगे।

विश्व समन्वय, अनेकान्त पथ, सर्वोदय का प्रतिपल गान ॥
मैत्री करुणा सब जीवों पर, विश्वधर्म जग ज्योति महान् ॥

५

महावीर-जयन्ती और हमारा दायित्व

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को भगवान महावीर का जन्मदिवस है। यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि गत कुछ वर्षों से भगवान महावीर का जन्मदिवस "महावीर जयन्ती" के नाम से सारे भारतवर्ष में अधिकतर अखिल जैन समाज के द्वारा मनाया जाता है। इतना ही नहीं बल्कि विदेशों में भी कई स्थानों पर प्रवासी जैन सज्जनों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मनाया जारहा है। मुझे स्मरण है कि जब सन् १९५६ में मैं तथा जैन समाज के विद्वान श्री समेरुचन्द्रजी 'दिवाकर' विश्व धर्म सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये जापान गये थे तो जापान की राजधानी टोकियो में सौराष्ट्र (भारतवर्ष) निवासी श्री शेठ से हम लोगों ने अनुरोध किया और उन्होंने उसको स्वीकार करके आगामी चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को महावीर जयन्ती का आयोजन करने का निश्चय किया। श्री शेठ के प्रयत्न के फलस्वरूप अप्रैल सन् १९५७ में जापान की राजधानी टोकियो में महावीर जयन्ती मनाई गई। उन्होंने हमारी माहिती के लिए हमें उस समय का एक फोटो भेजा। इसी प्रकार मेरे परिचित एक लेक्चरार श्री लाल चन्द्र जैन, आजकल उच्चतर अध्ययन के लिये अमेरिका गए हुए हैं। उन्होंने मार्च १९६० के पत्र में अमेरिका में महावीर जयन्ती मनवाने की दिशा में प्रयत्नशील होने की अभिलाषा व्यक्त की है। आज यदि हम कुछ वर्ष पूर्व की स्थिति पर दृष्टिपात करें तो हमें विश्वास नहीं होगा कि भारतवर्ष में कुछ वर्ष पूर्व ही महावीर भगवान की जयन्ती जैन समाज की ओर से सम्मिलित रूप में नहीं मनाई जाती थी। आपस में इतनी दूरी थी कि सम्मिलित रूप से मनाना सम्भव ही नहीं था। आज स्थिति में परिवर्तन हो गया है।

किसी भी महापुरुष की जयन्ती जिन उद्देश्यों को लेकर मनाई जाती है। वह यही है कि हम उन महापुरुष के जीवन से कोई पाठ पढ़े, सद्-उपदेशों को अपने जीवन में उतारे। अंग्रेजी के एक विद्वान ने कहा था कि—

Lives of all great men all remind us,
We can make our lives sublime,
And departing leaves behind us,
Foot prints of the sends of live .

ठीक इसी प्रकार से हिन्दी के एक विद्वान ने इसी आशय के विचार व्यक्त किये थे

जीवनचरित्र महापुरुषों के हमें नसीहत करते हैं।
हम भी अपना जीवन स्वच्छ रम्य कर सकते है।
हमें चाहिए हम भी अपने बना जायं पद-चिन्ह ललाम।
इस जीवन की रेती पर जो वक्त पड़े आवें कुछ काम।

इस दृष्टि से क्या यह आवश्यक नही कि हम प्रतिवर्ष कवल महावीर जयन्ती मनाकर, भगवान महावीर का गुण-गान करके अपने कर्तव्य की इति श्री समझने की अपेक्षा उनके उच्च आदर्शों को अपने में अवतरित करने का प्रयत्न करें।

भगवान महावीर के जन्म के पूर्व भारतवर्ष मे धर्म, रूढ़ि, का पर्यायवाची शब्द बन गया था। समाज में धर्म के नाम पर केवल रूढ़ि का चलन था। धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण होता था। धर्म के नाम पर निरीह पशुओं की हत्या की जाती थी और इस प्रकार देश में हिंसा का ताण्डव नृत्य होता था। मानवता की कोई कद्र नहीं थी अपितु समाज का एक वर्ग अपने को उच्च जाति का कह कर दूसरे वर्ग पर अत्याचार करता था। इस प्रकार की अधर्म-जन्य परिस्थिति को समाप्त करके धर्म का प्राधान्य स्थापित करने के लिए भगवान महावीर ने प्रतिकूल परिस्थिति में भी कार्य किया, सामाजिक ढाँचे में आमूल चूल परिवर्तन करने के लिए क्रान्तिकारी पग उठाया और इस कारण उन्हें अपने जीवन में कई बार कष्ट उठाना पड़ा।

भगवान महावीर जैसे धीर वीर महापुरुष का ही कार्य था कि उन्होंने प्रतिकूल परिस्थिति में सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह करके समाज को उद्धार तथा नई दिशा प्रदान की। यह सर्वमान्य है कि अनुकूल परिस्थिति में कार्य सरल होता है जबकि प्रतिकूल परिस्थिति में कठिन।

पूर्व के अन्य सब तीर्थंकरों के जीवन काल की अपेक्षा भगवान महावीर का जीवनकाल बहुत कम था। उस अल्प काल में उन्हें अपनी आत्म-साधना भी करनी थी। उन्होंने संकल्प किया था कि जब तक स्वयं Supreme enlight-enment. (केवलज्ञान) प्राप्त न करें उपदेश नही देंगे। तात्पर्य यह कि जीवन

का बहुत कम समय उन्हें समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने को मिला किन्तु उन्होंने अद्वितीय साहस करके समाज की कायापलट दी और केवल ७२ वर्ष की आयु मे मोक्ष पद प्राप्त किया।

भगवान महावीर के पश्चात् भी कुछ काल तक उनके अनुयाइयों में वही उदार दृष्टिकोण रहा। किन्तु उनके निर्वाण के कुछ शताब्दी पश्चात् संकुचितता-अनुदारता प्रविष्ट हो गई। अनुयाइयों ने मतभेदों के नाम पर पृथक-पृथक सम्प्रदाय स्थापित कर दिए। उन सम्प्रदायों में भी नगण्य मतभेदों को लेकर उप-सम्प्रदाय स्थापित हुए, तात्पर्य यह कि भगवान महावीर के कार्यकाल में जो उदारता व समन्वयवादिता थी वह लुप्त होने लगी, विभिन्न सम्प्रदायों में आपसी मनोमालिन्य भी होने लगा। जो जैनधर्म अनेकान्त का पुजारी था उसी के अनुयायीगण एकान्त के पुजारी हो गए। केवल उनकी मान्यता सत्य होने अन्य की मान्यता मिथ्या होने का आग्रह दृढ़तर होता गया। भगवान महावीर के जन्मदिवस पर आज यह अपेक्षा अनुचित नहीं होगी कि जैन समाज उदारता का पाठ ग्रहण करें। जैनेतरों को महावीर का उपदेश सुनाने की अपेक्षा वह स्वयं उनके जीवन, उपदेश से मार्गदर्शन प्राप्त करके अनेकान्त का सच्चा अनुयायी बने।

मैं भारत जैन महामण्डल के मुख पत्र "जैन जगत" मे प्रकाशित लेखक के एक लेख 'जैन समाज में एकता' तथा मुनि नेमीचन्द्र जी के एक लेख 'जैन-संघ-ऐक्य की व्यावहारिक रूपरेखा' की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। उक्त दोनों लेखों में अखिल जैन समाज को उदारतापूर्वक अपने आंतरिक मतभेदों का समन्वय करके ऐक्य स्थापित करने के लिए आग्रह किया गया है।

यदि हम आज के शुभ दिवस पर इतना भर कर सकें तो निश्चय पूर्वक हमें भगवान महावीर के उपदेशों को बताने की आवश्यकता नहीं होगी। हमारी कृति उनके उपदेशों का प्रचार करेगी।

१०

महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दि और हमारा धर्म

श्रमण संस्कृति के एक महान ज्योतिर्धर महापुरुष भगवान महावीर के परिनिर्वाण को आज लगभग २५०० वर्ष हो रहे हैं। निश्चित रूप से सन् १९७४ के नवम्बर मास में भगवान महावीर निर्वाण की २५ वीं शताब्दी मनाई जावेगी। भगवान महावीर के समय की परिस्थिति का यदि हम जायजा लें तो हमे घोर निराशा होती है। तत्कालीन परिस्थिति अत्यन्त निराशाजनक तथा प्रतिकूल थी, युग अन्धकारमय था। मानव पूर्व के तीर्थंकरों की वाणी को विस्मृत कर चुका था, जिसमें उससे कहा गया था कि "मानव ! तू अपने कर्मों का स्वय निर्माता है। कोई भगवान, परमेश्वर, देव तेरे को बुरे कर्मों से क्षमा नही कर सकता। यदि तू अच्छे कर्म करेगा तो तुझको पुण्य प्रकृति का बंध होगा, अन्यथा पाप प्रकृति का। मानव जन्म दुर्लभ है, उसकी प्राप्ति के लिये देवता तक तरसते है। मानव ने उपनिषद के ऋषि की वाणी को भी विस्मृत कर दिया है कि जिसमें कहा गया था कि "ए मानव ! जगत में तू ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, तुझसे बढ़कर कोई प्राणी नहीं है।" किन्तु इन सब प्रेरणा सूचक बातों को भुलाकर वह देवाधीन भगवान् अथवा परमेश्वर का गुलाम बनकर उसकी कृपा प्राप्ति के लिये उपासना करता है और इस तरह वह आत्म-गौरव, साहस, पुरुषार्थ, पराक्रम खोकर "परमुखापेक्षी" जीवन व्यतीत कर रहा था। ऐसी विषम परिस्थिति में इस महामानव का अवतरण हुआ। उसने देखा कि धर्म के नाम पर केवल रूढ़ियों का कंकाल मात्र अवशेष है। धर्म की आत्मा मार दी गई है। केवल शरीर को लेकर लोग लकीर पीटते है। विभिन्नवाद के आग्रही धर्माचार्य बौद्धिक व्यायाम करके परस्पर दार्शनिक प्रश्नो पर वितंडावाद कर रहे हैं। उस महामानव ने परिस्थिति का आकलन करके सुधार करने का दृढ़ निश्चय किया तथा मानव को धर्म की आत्मा का

स्पर्श कराने का तय किया। दार्शनिक वितंडावाद को समाप्त करके "अनेकान्त दृष्टि" दी। तात्पर्य यह है कि महामानव ने विश्व को एक ऐसी देन दी कि जिसका मूल्यांकन कर सकना मुश्किल है। तभी कवि दिनकर ने अपनी श्रद्धाञ्जली अर्पित करते हुए कहा था—

वैशालीगण का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता
जिसे ढूंढ़ता देश आज, उस प्रजातन्त्र की माता।
रुको एक क्षण पथिक, यहां मिट्टी को शीश नवाओ
राज-सिद्धियों की समाधि पर फूल चढ़ाते जाओ॥

और कवि ने कहा था :—

सुना यहीं उत्पन्न हुआ था किसी समय वह राजकुमार
त्याग दिये थे जिसने जग के भोग-विलास, साज-सिंगार।
जिसके निर्मल जैनधर्म का, देश-देश में हुआ प्रचार
तीर्थंकर जिस महावीर के, यश अब भी गाता संसार।
है पवित्रता भरी हुई, इस विमल भूमि के कण-कण में
मत कह क्या-क्या हुआ, इस वैशाली के आंगन में।

कहा जाता है कि भगवान महावीर ने विश्व को अहिंसा का एक अनूठा सिद्धान्त दिया और स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, जीवन चाहता है, इसलिये मनुष्य को भी आचार में अहिंसा का पालन करना चाहिये। इस युग के महापुरुष विनोबाजी ने एक समय कहा था कि भगवान महावीर के पूर्व में भी अहिंसा का विचार मौजूद था किन्तु भगवान महावीर की सबसे बड़ी देन 'अनेकांत विचार पद्धति' है। इसमें सन्देह नहीं कि अनेकान्त विचार पद्धति भी एक प्रकार से अहिंसा का ही एक अंग है, इसे बौद्धिक अहिंसा कहा जाना चाहिये। राजनीति के शब्दों में यह 'दार्शनिक प्रजातन्त्र' है। जिस प्रकार प्रजातन्त्र में अपने से भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति की बात में भी सार ग्रहण करना आवश्यक माना जाता है। उसी प्रकार अनेकान्त दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति अपने से भिन्न विचार रखने वाले के प्रति सहिष्णुता का बर्ताव करता है। इस शताब्दी के महापुरुष पूज्य बापू ने भी सब धर्मों के सार रूप तत्व को ग्रहण करके समन्वय की बात कही थी और 'सर्व धर्म समानत्व' के विचार को अपने आश्रम के ११ व्रतों में महत्वपूर्ण स्थान दिया था। क्या यह विडम्बना की बात नहीं है कि भगवान महावीर के अनुयायी, उनको अपना आदर्श मानने वाले स्वयं एकांगी दृष्टिकोण से युक्त हैं और सम्पूर्ण जैन समाज कई सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदायों में विभक्त है। यह

सब कोई जानते हैं कि भगवान महावीर के समय में नग्न तथा सवस्त्र दोनों प्रकार के साधुजन उनके संघ में थे, अतः यह महत्वहीन है कि हम उस समय के नग्न मुनि को जिनकल्पी कहें या कुछ और ? या सवस्त्र मुनि कितना अल्प वस्त्र का उपयोग करते थे या आज कितना ? तत्व की बात यह है कि आज की भाषा में दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों प्रकार के मुनि संघ में थे। कहीं कोई ऊँचे नीचे का प्रश्न नहीं था, किन्तु भगवान् के निर्वाण के पश्चात् इसी आधार पर दो पृथक सम्प्रदायों का निर्माण हो गया। यह भी स्पष्ट है कि दिगम्बरत्व का प्रश्न केवल साधु मुनि का प्रश्न था, श्रावक तो कोई दिगम्बर (नग्न) रहता ही नहीं। फिर भी श्रावक दिगम्बरत्व के साये में आ गया। दुर्भाग्य यहीं तक नही रहा। गत २००० वर्ष में यह प्रश्न इतनी गहरी जड़ जमा गया कि अब हमें जैनत्व की चिंता नही, केवल दिगम्बर, श्वेताम्बरत्व की चिन्ता अधिक है। इसमें सन्देह नहीं कि दिगम्बरत्व अपरिग्रह की चरमसीमा है, केवल यही नही, कोई पूर्ण रूप से अविकारी हुए बिना दिगम्बर रहने का साहस नही कर सकता। यह भी सच है कि वस्त्र रखने वाले साधुजनों ने वस्त्रो की मात्रा मे यदा-कदा वृद्धि कर ली और अन्य उपकरणों में भी वृद्धि कर ली। प्रश्न यह है कि जिस प्रकार दिगम्बर मुनि 'मूर्च्छा रहित' अन्य उपकरण रखकर भी पूर्ण अपरिग्रही माने जाते हैं, उसी प्रकार अत्यल्प वस्त्र के धारी साधु को भी 'मूर्च्छा रहित' वस्त्र तथा अन्य उपकरण रखने पर अपरिग्रही क्यों नहीं माना जा सकता ? दोनो विचारों में ऐकांतिकता है, किन्तु जहाँ हमारे मानस इतने पूर्वाग्रहों से युक्त हों कि हम वस्त्र तथा नग्नता के विवाद की पूर्ति हेतु तीर्थ आदि से संयुक्त करके आपसी मुकद्दमेबाजी में उलझें। समय और शक्ति का अपार व्यय किया। अहिंसक होने के बावजूद तीर्थों के विवाद में हत्याएँ हुई। उस विपरीत दशा में 'अनेकान्ती दृष्टिकोण' अपनाकर एक दूसरे का समन्वय कर सकेंगे, इसकी आशा कम ही है। इस सारे लम्बे काल में समय-समय पर ऐसे सज्जन भी हुए कि जिन्होंने मतभेद की खाई को अधिक चौड़ा किया। कहाँ-कहाँ मतभेद है, इसकी लम्बी सूची बनी। किन्तु समान विचार कहाँ-कहाँ हैं, इसकी तरफ समाज ने कम ध्यान दिया। मैं जानता हूँ कि कुछ जैनाचार्य अतीत में ऐसे समन्वयवादी दृष्टि सम्पन्न हुए हैं और उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की आलोचना करके तीखे व्यंग तक किये हैं किन्तु समाज ने उनके बहुमूल्य विचारों को अधिक महत्व नहीं दिया, न उस पर अमल किया परिणामस्वरूप समाज अपनी साम्प्रदायिकता का ही शिकार रहा। इससे आगे का इतिहास और दुःखद है कि जिसमें श्वेताम्बरत्व के अन्तर्गत देरावासी, स्थानकवासी, तेरहपंथी की

स्थापना हुई। इन सबके भीतर भी छोटे-छोटे प्रश्नों पर पृथक-पृथक दल बने। दिगम्बरत्व के भीतर तेरहपंथी, बीसपंथी-तारणपंथी, आदि। इस लेख का उद्देश्य इन उप-सम्प्रदायों का विशद् विवेचन करना नहीं है। इसके लिये तो पृथक् रूप से स्वतन्त्र लेख आवश्यक है, किन्तु इस लेख का उद्देश्य यह है कि क्या आज ऐसा उपयुक्त समय नहीं आ गया है, जब भगवान महावीर के समस्त अनुयायी इन मूलभूत प्रश्नों पर सोचकर एक ऐसा रास्ता चुनें कि सब अपनी अपनी मान्यता को अक्षुण्ण रखते हुए सारी सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदाय या दल भिन्न-भिन्न रुचि एवं विचार वैभिन्य के परिणाम हैं, यह मानकर सह अस्तित्व का मार्ग चुनें। दूसरे शब्दों में हम एक दूसरे को मिथ्यात्वी न कहकर अपने से भिन्न विचार रखने वाले में भी आंशिक सत्य है तथा वह भी भगवान महावीर का उतने अंशों मे ही अनुयायी है कि जितने अंश में हम, यह स्वीकार करें। तात्पर्य यह है कि मानसिक कटुता समाप्त हों, कषाय से मुक्त हों, जैसा कि एक प्राचीन जैनाचार्य ने कहा था --

> नश्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे
> न तत्ववादे न च तर्कवादे।
> न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः
> कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव॥

यदि उपरोक्त परिस्थिति का निर्माण हो गया तो कालान्तर में जाकर हम इस योग्य हो सकेंगे कि हम सारे मत-भेदों पर पूर्वाग्रह से मुक्त निष्पक्ष भाव से विचार कर सकें और समन्वय का मार्ग अपना सकें और यह भगवान महावीर के प्रति हमारी विनम्र किन्तु महत्वपूर्ण और वास्तविक श्रद्धांजली होगी।

भगवान महावीर का २५००वां निर्वाण शताब्दी महोत्सव सन् १९७४ के नवम्बर से एक वर्ष (नवम्बर ७५) तक मनाया जावेगा तथा उसे शताब्दी वर्ष कहा जावेगा। जहाँ तक मुझे स्मरण है निर्वाण शताब्दी की चर्चा लगभग ७, ८ वर्ष से चल रही है। विभिन्न कार्यक्रम बनाये जा रहे हैं। केन्द्रीय शासन तथा कई राज्य शासन अपने-अपने क्षेत्र में समिति की स्थापना करके कार्यक्रम पर विचार कर रहे हैं। यदि अखिल जैन समाज उपरोक्त विचार सारिणी के अनुरूप कोई योजना बनाकर "अनेकान्त आश्रम" का निर्माण करें जहाँ जैन दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय, उप-सम्प्रदाय एवं दलों से सम्बन्धित साहित्य लेकर समन्वयात्मक साहित्य का निर्माण कराया जावे कि जिससे एक दूसरे के निकट

आया जा सके। कहा जाता है कि 'किसी समय जैन समाज में एक "यापनीय संघ" था कि जिसकी कुछ मान्यता श्वेताम्बरत्व के अनुरूप तथा कुछ मान्यता दिगम्बरत्व के अनुकूल थी। आज उसका विस्तृत साहित्य उपलब्ध नहीं है किन्तु इस दिशा में विद्वानों से खोज कराकर समन्वय के लिये मार्ग प्रशस्त किया जा सके तो हम भगवान महावीर के निर्दिष्ट पथ पर चलने का एक विनम्र प्रयास कर रहे हैं ऐसा, कहा जा सकेगा।

११

श्रमण-संस्कृति के दो महापुरुष

सृष्टि का यह नियम है कि जब धर्म के मार्ग में विकृति उत्पन्न हो जाती है तो उसकी (यानी नियम, धर्म की) आत्मा का नाश होकर वह कोरा अस्थि-पंजर रह जाता है। ऐसे समय में धर्म के मार्ग-दर्शन के हेतु कोई अन्य महा-पुरुष जन्म लेता है। इस प्रकार जैन ग्रन्थों के अनुसार वर्तमान युग (जो पारि-भाषिक शब्दों में "अवसर्पिणी" से प्रारम्भ होना कथित किया गया है) के प्रथम महापुरुष "ऋषभदेव" द्वारा प्ररूपित आत्मोन्नति का मार्ग शिथिल हो गया तब उस के पश्चात एक महापुरुष के कार्य को दूसरे ने पूर्ण किया। इस प्रकार वर्तमान युग के २३ वें महापुरुष "पार्श्वनाथ" थे जिन्होंने मनुष्य की आत्मा को सुसंस्कृत बनाने का कार्य किया। यदि हम इतिहास का अध्ययन करें तो इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि आज से ३००० वर्ष पूर्व इस प्रकार की स्थिति हो गई थी कि मानव समाज अपने उद्धारक की खोज में था। इस समय अपने देश में यज्ञ यागादि कर्म कांड प्रचलित था। धर्म के नाम पर हिंसाएं की जाती थीं—और उसे हिंसा नही माना जाता था। उस युग में ब्राह्मण श्रेष्ठ समझा जाता था। स्त्री तथा शूद्रों को धर्मग्रन्थों के पठन-पाठन का अधिकार नहीं था। दास-प्रथा प्रचलित थी तथा अन्य वस्तुओं की भांति दासविक्रय किया जाता था तात्पर्य यह कि धर्म केवल रूढ़ि का अपर नाम था। मनुष्य की धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता स्पष्ट थी। इस युग में ब्राह्मण संस्कृति की प्रधानता थी जो केवल वेद को ही प्रमाण मानकर वेद के नाम पर कथित व्यवस्था करते थे।

वेद-कालीन ऋषि मुनि मंत्रों के द्वारा भौतिक साधनों की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते थे। मनुष्य की भूख ऐसे भौतिक साधनों से तृप्त नहीं होती थी। उसे तो कुछ अन्य चाहिये था। इसके पश्चात कुछ प्रगति हुई। आध्यात्मिकता का आयोजन "उपनिषदों" से हुआ परन्तु उस समय प्रवृत्तिप्रधान मार्ग ही

जीवन का लक्ष्य था। कितने ही तपस्वी वन में जाकर कठिन तपस्या करते थे किन्तु वह तपस्या भी अविचार पूर्ण हिंसा से परिपूर्ण थी। यह तो मात्र देह दमन ही था उसमें आध्यात्मिकता का कुछ भी अंश न होता था। इस परिस्थिति के कारण इस मार्ग के उद्धार की आवश्यकता खड़ी हुई और उसका प्रारम्भ ऋषभदेव ने किया। इसकी वृद्धि इस युग के २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ ने की। इस पृष्ठ भूमि मे २३ वें महापुरुष 'पार्श्वनाथ' का जन्म हुआ। भगवान पार्श्वनाथ ने अपने जीवन में सनातन शाश्वत सत्य मार्ग को पुनः स्थापित किया। इनके निर्वाण के २५० वर्ष पश्चात "वर्धमान" (२४ वें महापुरुष) का जन्म हुआ। वर्धमान का जन्म भी पार्श्वनाथ के अनुयायी एक क्षत्रिय कुल में चैत्रशुक्ला १३ के दिन हुआ। अनेक वीरता पूर्ण कार्यों के कारण ये "महावीर" कहे गये। वास्तव में महावीर अपने पूर्व के २३ वें महापुरुष "पार्श्वनाथ" के उत्तराधिकारी बने। आज जो श्रमण संस्कृति दिखाई देती है उसका आरम्भ ऋषभदेव से हुआ परन्तु उसे व्यवस्थित रूप दिया पार्श्वनाथ तथा महावीर ने। पार्श्वनाथ की भाति उन्होंने भी धर्म का वास्तविक रूप मनुष्य के समक्ष रखा। उन्होंने बताया कि धर्म केवल रूढ़ि नही है धर्म का संबंध तो मनुष्य की अन्तर्वृत्ति के साथ है। मनुष्य चाहे जिस कुल, गोत्र जाति मे जन्म ले परन्तु वह अपने कर्म के अनुसार ही ऊँच-नीच होता है। उन्होंने जन्मना जाति का घोर विरोध किया था। इसी प्रकार स्त्री तथा शूद्रों के समान अधिकार को स्वीकार किया। दास-दासी के विक्रय का विरोध किया। यज्ञ की व्याख्या को परिवर्तन कर मनुष्य को अपना आत्मयज्ञ कर उसके द्वारा अपनी आत्मशान्ति प्राप्त करने का विचार दिया। अपनी इच्छाओं का निरोध कर निवृत्ति मार्ग की श्रेष्ठता स्थापित की। मात्र देह दमन रूपी तपश्चर्या के स्थान पर आध्यत्मिकता पूर्ण तप के महत्व को स्थान दिया। तात्पर्य यह कि ब्राह्मणसंस्कृति के इस युग में श्रमण संस्कृति का पुनरुद्धार किया गया। मनुष्य की आध्यात्मिक क्षुधा तृप्त हुई। उसका ध्येय भौतिक साधनो की प्राप्ति अथवा स्वर्ग प्राप्ति न रहकर आत्म कल्याण का हो गया। अपनी आत्मा को सुसंस्कृत करते हुए मोक्ष प्राप्ति का ध्येय बनाया गया। अपने देश में इस समय लगभग ३००० वर्षों से ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति मनुष्य समाज की आत्मा को सुसंस्कृत करने तथा उसको प्रगतिशील बनाने के लिये कार्य कर रही है। ब्राह्मण संस्कृति का मूल आधार वेद हैं ब्राह्मण संस्कृति का उदय "ब्रह्मन्" शब्द से विकसित हुआ। ब्रह्मन शब्द में स्तुति, यज्ञ याग, प्रधान थे। इधर श्रमण संस्कृति, सम, शम के विचार से सदैव फली फूली। जिस युग में श्रमण संस्कृति का पुनरुद्धार हो रहा था उस समय एक ओर धर्म की विडम्बना हो रही थी तब दूसरी ओर केवल

विचार हीन तपस्या के द्वारा देह-दमन किया जा रहा था। तीसरी ओर चार्वाक दर्शन के अनुयायी केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति को मनुष्य का ध्येय बताते थे। इसी समय श्रमण संस्कृति के दो महापुरुष का एक ही क्षेत्र (बिहार) में जन्म हुआ। वर्धमान ने वेद को अप्रमाण माना और अहिंसा, अपरिग्रह तथा अनेकान्त के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। मानव समाज की उन्नति के लिये पार्श्वनाथ के चातुर्याम में देश-काल के अनुरूप परिवर्तन कर पंच महाव्रत-प्रतिपादित किया। सबसे महत्वपूर्ण बात तो उन्होंने "अनेकांत-सिद्धान्त" द्वारा मनुष्य को सत्याभिमुख करके की। धार्मिक-सहिष्णुता का पाठ सिखाया। वर्धमान ने मनुष्य को स्वयं को स्वयं का ही निर्माता सिद्ध किया तथा दिखा दिया कि मनुष्य अपने आध्यात्मिक विकास से ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है। उन्होंने सांसारिक आत्माओं के संसार भ्रमण का कारण "कर्म" को बताया तथा सिद्ध किया कि जबतक जीव के साथ शुभाशुभ कर्मों का योग रहेगा तब तक मुक्ति नहीं मिलेगी। शुभ-अशुभ कर्मों की समाप्ति ही मोक्ष है। उनके समकालीन शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध ने भी वेद को अप्रमाण बताकर चार आर्य सत्य नामक नवीन मार्ग की स्थापना की। जहां भगवान महावीर पूर्व के महा-पुरुषों के विशेषकर पार्श्वनाथ के द्वारा स्थापित मार्ग के उत्तराधिकारी बने वहाँ शाक्य पुत्र गौतम बुद्ध को अपने पूर्ववर्ती किसी महापुरुष का उत्तराधिकार नहीं मिला। बौद्ध साहित्य से प्रगट है कि गौतम बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के पूर्व जिन-जिन पंथों को अंगीकार किया था उनमें निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय भी था। यह तो निर्विवाद सत्य है कि "निर्ग्रंथ सम्प्रदाय" ही भगवान पार्श्वनाथ तथा महावीर का अनुयायी सम्प्रदाय था। बुद्ध के पूर्व जीवन के वृत्तांत के अध्ययन से मालूम होता है कि चाहे थोड़े समय के लिये ही सही, वह पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा में रहे थे और दूसरे सब पंथों को त्याग करके "मध्यम" मार्ग का निरूपण किया। यह भी निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने के कार्य में श्रमणसंस्कृति ने जो योग दान दिया है उसमें भगवान पार्श्वनाथ, भगवान महावीर की भांति ही शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध का भी योगदान है।

भगवान महावीर ने धार्मिक-सहिष्णुता के लिये, सत्य की शोध के लिये अनेकांत सिद्धान्त को स्वीकार किया। किसी एक वस्तु से विभिन्न दृष्टिकोण की संभावना को स्वीकार करने, एक ही दृष्टिकोण का आग्रह न रखने का निर्णय किया। विरोधी दृष्टिकोण के प्रति अन्याय न होने का यह भी कारण हुआ। मनुष्य जागृति में किसी सिद्धान्त से जो अमूल्य लाभ हुआ उसके मूल में अनेकांतवाद का यह अपूर्व सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त के कारण भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य व गौतम तथा पार्श्वनाथ के शिष्य केशी श्रमण की

चर्चा जिस सुन्दर वातावरण में हुई और चातुर्याम तथा पंचमहाव्रत धर्म का समन्वय हुआ और वह मानव समाज के लिये पथ प्रदर्शक हुआ यह अतिशयोक्ति नहीं है। इसकी विस्तृत चर्चा उत्तराध्ययन सूत्र में है परन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि भगवान महावीर के समकालीन भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मार्ग के संबंध मे समन्वयात्मक दृष्टिकोण क्यों नहीं अपनाया गया ? मुझे विश्वास है कि दोनों महापुरुष एक दूसरे से प्रभावित हुये थे। किन्तु दुर्भाग्य वश ऐसा कोई सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ जब दोनों महापुरुष का शुभ मिलन होकर कोई समन्वयात्मक मार्ग निकल सकता। उत्तराध्ययन सूत्र तथा धम्मपद की कितनी ही गाथाएँ तथा उनके विचार समान है। यह इस बात की द्योतक हैं कि दोनों महापुरुषों के हृदय में मानव समाज को सुसंस्कृत बनाने व उसकी उन्नति करने के लिये कितना उत्साह था। यदि कोई दार्शनिक विद्वान शोध करके कोई समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सके तो वास्तव में मानव समाज उसका अत्यन्त ऋणी रहेगा।

★

छठा आयाम

आचार-मीमांसा

१

आचार; जैनधर्म का अधिष्ठान

मानव जाति के इतिहास में "धर्म" से अधिक महत्वपूर्ण शब्द का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। "धर्म" शब्द विभिन्न अर्थों का द्योतक है। एक विचारक ने कहा कि धर्म शब्द की अभी तक लगभग १० हजार व्याख्यायें हुई हैं। किन्तु फिर भी सर्वांगपूर्ण व्याख्या हो चुकी, ऐसा नहीं माना जा सकता। सच्चाई यह है कि "धर्म" शब्द का अर्थ संदर्भों की पृष्ठभूमि में लगाया जाना चाहिए। प्रस्तुत स्थान पर "धर्म" से अर्थ कर्तव्याकर्तव्य अथवा विधि-निषेध के सिद्धान्तों से है।

विश्व में प्रचलित प्रत्येक "धर्म" का प्राण उसके द्वारा विहित "आचार-पद्धति" है। जैन-धर्म ने भी मानव जाति के लिए आचार संहिता Code of Conduct का निर्माण किया है। यदि हम सूक्ष्मता से इस आचार-पद्धति का विश्लेषण करें, इस पद्धति के निर्माण की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करें तो हमको यह भली भाँति स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि इस प्रकार की पद्धति, नियम निर्माण के पीछे जो भावना रही है उसका उद्देश्य मनुष्य को मानवता का पाठ पढ़ाना, उसे भले बनाने, समाज के उपयोगी बनाने का रहा है। प्रत्येक नियम के पीछे जो भावना काम कर रही है, वही उसकी आत्मा है। नियम की अंतरात्मा मुख्य है। नियमों का बाह्य रूप गौण है। यदा-कदा ऐसे प्रसंग भी आते हैं, जबकि व्यक्ति बाह्यरूप में धर्म पालन करता दिखाई देता है। किन्तु उसके पीछे जो पृष्ठभूमि होती है, मानसिक स्थिति जिस प्रकार की होती है, वह निम्न धरातल की होती है। इस कारण जो व्यक्ति केवल बाह्य-रूप को देखता है, वह उसे धर्मात्मा मानता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि वह ऐसा नहीं है। यदा-कदा इसके विपरीत Vice versa होता है। जैसा कि एक विद्वान ने कहा था —

> मनसैव कृतं पापं न शरीरकृतं कृतम्।
> येनैवालिंगिता कांता, तेनैवालिंगिता सुता॥

वास्तविक रूप में पाप-पुण्य बंध का कारण मानसिक स्थिति अधिक है। इसके बिना पाप बन्ध नहीं होता। यही कारण है कि जैन साहित्य में वर्णित श्रीमद् प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के शरीर द्वारा कष्टसाध्य तपस्या करते हुए भी उस क्षण नरकगामी होना बताया गया। जब उनके परिणाम (मानसिक स्थिति) की शुद्धि हुई तब उनको स्वर्गगामी होना प्ररूपित किया गया।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया है, धर्म की आत्मा उसके द्वारा विहित आचार-शास्त्र है। यद्यपि प्रचलित प्रत्येक धर्म में मनुष्य के कर्तव्य-अकर्तव्य विधिनिषेध का प्रावधान है। जैनधर्म ने तो मानव के आचार धर्म पर अधिक जोर दिया है। एक विद्वान किन्तु चारित्रभ्रष्ट व्यक्ति का जैनधर्म में महत्व नहीं है। एक विद्वान ने ठीक ही कहा है—

सरसी विपरीतश्चेत सरसत्वं न मुञ्चति।
साक्षरा विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम्॥

तात्पर्य यह है कि सरस सच्चरित्र व्यक्ति यदि विपरीत हो जावे तो भी अनिष्ट नही कर सकता। सरस को विपरीत लिखा जाने पर भी सरस ही रहता है। किन्तु साक्षर (विद्वान) विपरीत होने पर राक्षस हो जाता है। चारित्रभ्रष्ट विद्वान एक ऐसा व्यक्ति है, जो पंगु है। इस कारण यह स्वाभाविक था कि जैन श्रमण में चारित्र के प्रति अधिक सजगता रखी जावे। यह भी निर्विवाद है कि जैन आचार-पद्धति का मूल अहिंसा है। प्रत्येक यम, नियम-अहिंसा के विचार से ओत-प्रोत है। श्रमण वर्ग की आचार के प्रति जागरूकता के कारण नियमों की उत्कृष्टता की ओर अधिक ध्यान रखा गया। एक प्रकार से (Competition) रहा। जो नियम को अधिक सख्ती, सूक्ष्मता से पालन करे, उसे उच्च माना जाने लगा। इस प्रतियोगिता में परस्पर छोटे-छोटे मतभेद-मतभिन्नता के कारण पृथक् सम्प्रदायों की स्थापना होती रही। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति में नियमों का बाह्य रूप दृष्टि से अधिक समीप रहा। उसकी भावना, नियमों के पीछे रही भावना, दृष्टिकोण से ओझल होता रही। यही कारण रहा कि Quality के स्थान पर Quantity का महत्व स्थापित होता रहा। एक प्रदेश या प्रांत में विचरण करने वाले मुनिराज के नियम दूसरे प्रदेश में विचरण करने वाले मुनिराज से कई बातों में भिन्न होते गए, मान्यता भिन्न होती गई। इस आचार-गत भिन्नता में सामंजस्य, समन्वय का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। कभी-कभी ऐसा विचार होता है कि जैन धर्मान्तर्गत स्याद्वाद अथवा अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग केवल द्रव्यानुयोग तक सीमित रहा है। चरित्रानुयोग उससे एक दम अछूता रहा।

इस मत-भेद, भिन्नमान्यता के कारण इन उपसम्प्रदायों के तथा उनसे संबन्धित मुख्य मुनिराजों में परस्पर सोहार्द नहीं रहता था। यदा-कदा आक्षेप-प्रति-आक्षेप से अनुगामी श्रावक वर्ग तक में मनोमालिन्य बढ़ता जा रहा था। इस सारी स्थिति का निराकरण करने के लिये समाज के चिन्तकों ने आचार-गत भिन्नता में समन्वय करने का प्रयत्न किया। स्थानकवासी जैन समाज के इतिहास में एक श्रमण संघ का निर्माण एक ऐतिहासिक अभूतपर्व घटना थी। एक आचार्य, एक विधान, एक समाचारी के साथ "श्रमण सघ हो अविचल निश्चय" का मगलगान होता रहा। किन्तु यह दुख के साथ स्वीकार करना चाहिये कि आचार-गत कई प्रश्नों का निराकरण वर्षों की चर्चा के पश्चात् भी नही किया जा सका। उच्छृंखल तथा विलगाव की स्थिति निर्माण हो गई है, उसका निराकरण श्रमण सघीय विचारक, विद्वान, अधिकारी, मुनियों को करना चाहिये।

इसमें संदेह नहीं कि जैन धर्म मे विशेषकर स्थानकवासी समाज से सबंधित मुनिवरों में "आचार" के प्रति अधिक आग्रह रहा है। यह उचित भी था तथा है। किन्तु गत वर्षों से यह भय होता है कि कहीं इस वृत्ति में स्वयं के आचार के प्रति आग्रह के स्थान पर हमारे कई मुनिवरों में परदोष दर्शन की वृत्ति का आधिक्य तो नहीं हो रहा है। यह सच है कि जिस मुनि के साथ अधिकार-शक्ति हो, जिन पर श्रमण संघ के मुनिराजों पर अनुशासन रखने, आचार पालन न करने पर प्रायश्चित देने आदि की जिम्मेदारी हो उसको, सब पर अपने आचार के प्रति जागरूकता रखते हुए दूसरों पर कड़ी नज़र रखनी पड़ती है। किन्तु "कड़ी नजर" के साथ ही अपर्याप्त, अपुष्ट समाचार, अफवाह के आधार पर प्रकट या गुप्त रूप से प्रचार किया जावे तो वह अनुचित है। साथ ही आचारगत नियमों के महत्व पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये। सदैव "शिथिलाचार" के नाम पर अत्यन्त महत्वहीन नियमों के उल्लघन के कारण श्रमणसंघीय मुनिवरों के सम्बन्ध में प्रचार अनुचित माना जाना चाहिये। इस अनर्गल प्रचार के कारण जहाँ श्रावक-श्राविका वर्ग में अश्रद्धा उत्पन्न होती है, वहाँ अन्य सम्प्रदायों, अन्य धर्मावलंबियों में भी मुनियों के प्रति घृणा का भाव जाग्रत होता है। इस सम्बन्ध में भी कोई मार्ग निकालना चाहिये।

जब हम अपनी प्राचीन स्थिति का अवलोकन करते हैं तो पता चलता है कि हमारे यहां पर तो सामायिक-प्रतिक्रमण के पाठों में कई स्थान पर 'निंदामि, गरिहामी, अप्पाणं, वोसरामि" का उच्चार करते हैं। इन शब्दों को केवल

मुख से उच्चारण करने के बजाय हम हृदयंगम करके स्वयं के दोषदर्शन में अधिक समय लगावें तो उद्धार हो जावे।

"जो घट शोधूं आपणूं, मौ सम बुरा न कोय।"

मुझे इस समय ईसामसीह के युग की एक घटना स्मरण हो जाती है कि कुछ लोग एक दुराचारिणी महिला को ईसा के सम्मुख लाये ताकि वह उसे दंड दे सके। ईसा ने उसको एक-एक पत्थर मारने का दड दिया, किन्तु शर्त यह लगाई कि जो स्वयं निरपराध हो वही पत्थर मार सकेगा। परिणाम यह हुआ कि भीड़ बिखर गई, सब व्यक्ति वहाँ से चले गये। आत्मनिरीक्षण की यह वृत्ति कम होती जा रही है।

इस वृत्ति मे समाज की सारी शक्ति इसी ओर लग जाती है। अन्य महत्वपूर्ण कार्य की ओर ध्यान नहीं जाता। जैन समाज के सम्मुख बड़े-बड़े प्रश्न हैं। श्रमण सस्कृति के विरोध मे बड़ी-बड़ी शक्तियाँ काम कर रही है। श्रमण सस्कृति कमजोर हो रही है। उसकी मान्यता के विरुद्ध शासकीय नीति आज जोर-शोर से कार्य कर रही है। किंतु किसे अवकाश हैं कि इस ओर ध्यान दे तथा इस स्थिति का निराकरण करे। हम अन्य ही छोटे-छोटे प्रश्नो में उलझते जा रहे हैं। जिसमें सारी शक्ति लग जाती है। न समाज में रचनात्मक कार्य हो पाता है, न श्रमण शक्ति के रक्षण का कार्य हो पाता है। यह युग केवल स्थानकवासी समाज ही के नहीं, अपितु अन्य सम्प्रदायों के भी आत्मनिरीक्षण का युग है। ताकि महत्व के प्रश्नों को हाथ में लेकर उनका निराकरण कराया जा सके।

एक आध्यात्मिक महान् सत आनन्दघन जी ने जैनधर्मान्तर्गत सम्प्रदाय, उपसम्प्रदाय, गच्छ, सगाडा, आदि भेद-प्रभेद तथा उनके नाम पर परस्पर मनोमालिन्य. अपनी मान्यता का दुराग्रह देखकर एक समय निम्न पद कहा था—

गच्छना बहुभेद नयने निहालता,
तत्वनी बात करता लाज नी आवे।
उदर भरणादि निज काज करता थका,
मोह नडिया कलिकाल राजे।।"

उक्त दो पंक्तियों में उस महान सन्त ने साम्प्रदायिक मनोभावना से वेष्ठित साधु समाज के प्रति अपना सात्विक क्रोध बताते हुए मीठा उलाहना दिया है। काश! हम अन्तर्निरीक्षण करके कोई समन्वयात्मक मार्ग निकाल सकें।

२

हमारा आचार-विचार कैसा हो ?

[पिता का पत्र, पुत्र के नाम]

प्रिय, आशीर्वाद !

तुमको स्मरण होगा कि दि० २५-११-५८ को जब कि तुम इन्दौर में मिलने आये थे। उस समय भोजनादि के संबन्ध में तुमसे जो वार्तालाप हुआ उससे मुझे आश्चर्य हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त प्रश्नों के तुम्हारे उत्तर अविवेकपूर्ण थे, लापरवाही से दिये गये थे। उसमें अशुद्ध आहार के प्रति जो गुस्सा, क्रोध, घृणा होना चाहिये उसका अभाव था। मेरा यह भी विश्वास है कि तुम्हारे हृदय में उस प्रकार की मान्यता नहीं है अपितु तुम शुद्ध खानपान, रहन-सहन में विश्वास करते हो तथा इसीप्रकार रहते हो। मेरा उद्देश्य इस पत्र के द्वारा तुम तक मेरे विचार पहुँचाने का है। मैं कई दिनों से देख रहा हूँ कि कॉलेज जीवन बिताने वाले विद्यार्थी, जिनमें जैन विद्यार्थी भी सम्मिलित हैं, अशुद्धभोजी विद्यार्थीयों के सहवास के कारण संकोचवश अशुद्ध खानपान में नहीं हिचकता है। अपितु सम्मिलित भोजन, जिसमें शुद्ध तथा अशुद्धभोजी हों, में अपने आपको शुद्धभोजी होने में लज्जा का अनुभव करते हैं, सम्भव है यह उनकी अल्प संख्या का कारण हो, मेरी यह मान्यता है कि केवल अल्प संख्या में होने के कारण उन्हें निम्न कोटि का मानने की या लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। अपितु जिस प्रकार के भोजन को वह सिद्धान्ततः अच्छा समझते हों उस पर आग्रह करना चाहिये, दृढ़ता होनी चाहिये। केवल कोई हमें क्या कहेगा ? इस विचार से अपने विचारों में कमजोरी लाना अनुचित है।

मेरे मत में विरुद्ध प्रकार के भोजन करने वालों को शुद्धभोजी व्यक्तियों की भावना का आदर करना चाहिये। किन्तु यदि वे ऐसा नहीं करते तो न करें। हर बात की नकल उचित नहीं है। हर बड़ा आदमी जो काम करता है उसकी

नकल की जाती है, उसी का नाम कुछ लोग आदर्श रख देते हैं। शुद्ध आचार-विचार वाले व्यक्तियों को स्वयं भी इस प्रकार का अनुभव करना चाहिये। किसी दिन ऐसा होगा कि, अन्य लोग उसकी नकल करने लगें। मैं यह अनुभव करता हूँ कि हमारे कुटुम्ब के बालकों में जैन संस्कार की कमी है। इसका कारण यह है कि बालकों को जैनसंस्कृति की शिक्षा प्राप्त नहीं हुई और न इस प्रकार का वातावरण मिला कि जिसके कारण बालकों के मन में जैनत्व के संस्कार अँकुरित हों। इसी का यह परिणाम होने वाला है कि कुटुम्ब में वर्तमान में जिस परिमाण में जैन संस्कार है भविष्य में उसमें काफी कमी होगी,यह आशंका मेरी अस्वाभाविक नही है।

मैं केवल जैन संस्कार की दृष्टि से ही नहीं सोचता अपितु भारतीय संस्कृति की दृष्टि से भी सोचा करता हूँ। तुमको स्मरण होगा कि मैंने तुमको कई बार "भोजन" शब्द के स्थान पर "खाना" शब्द के प्रयोग पर टोका है। मैं सोचता हूँ कि हमारे बालक भारतीय संस्कृति में पाले जावें, उनमें जैन संस्कार हो। मेरी इस इच्छा का यह तात्पर्य नहीं है कि हमारे बालक केवल "प्राचीनता" के कायल हों। संक्षेप में मेरी यह इच्छा है कि बालकों में उस सीमा तक प्राचीनता की छाप हो जिस सीमा तक अर्वाचीन युग में आवश्यक हो। मेरे कथन को अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया जावे तो यह है कि बालक को जो अच्छी अनुकरणीय बात "नवीन" प्रतीत हो उसे अवश्य अपनावे। केवल "प्राचीनता या नवीनता" के नाम से उनके विचार नहीं। इस दृष्टिकोण से मैं प्रत्येक बालक में निम्न बातें आवश्यक मानता हूँ —

१—तुमको सदैव यह ध्यान रखना चाहिये कि मानव जीवन को कायम रखने के लिये भोजन अति आवश्यक है जिस प्रकार का भोजन किया जावेगा उसी प्रकार के मनुष्य में विचार होंगे।

(१) सात्विक, (२) राजसी और (३) तामसी— तीन प्रकार के भोजन होते हैं। यदि हम सात्विक आहार करते हैं तो हमारे विचार भी सात्विक होगें। हमारे विचारों में दया, करुणा, मैत्री आदि भावनायें जाग्रत होंगी। इसके विपरीत राजसी भोजन करने से आलस्य आदि दुर्गुण आवेंगे। इस प्रकार का भोजन भी यदा-कदा क्षम्य हो सकता है। किन्तु तामसी भोजन से हमारे विचारों में क्रूरता, कठोरता उत्पन्न होगी और दया का अभाव होगा।

हमारी चित्तवृत्ति कैसी हो, इस सम्बन्ध में जैन आचार्य ने एक श्लोक में बहुत ही सुन्दर बात कही है।

"सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव।

तात्पर्य यह है कि हम जीवों के प्रति मैत्री भावना रखें। गुणीजनों को देखकर हमारे हृदय प्रसन्न हों। कष्टप्राप्त जीवों के प्रति हम में करुणा का संचार हो। जो हम से विपरीत हों उनसे हम माध्यस्थ भाव रखें यह हमारी चित्त-वृत्ति हो, यह मेरी देव से प्रार्थना है।

(२) तुम जानते हो अशुद्ध आहार प्राणी वध-करके प्राप्त किया जाता है। केवल जैन धर्म ने ही नहीं अपितु संसार के लगभग प्रत्येक धर्म ने प्राणी हनन करना अनुचित बताया है। हमारी दया, करुणा केवल मनुष्य तक ही सीमित नहीं होनी चाहिये अपितु प्राणी मात्र तक विस्तृत होनी चाहिये। जैन दर्शन में "जीवविज्ञान" (प्राणीशास्त्र) पर अत्यधिक सूक्ष्मता से विचार किया गया है। एक कवि ने कहा है—

"नहीं सताऊँ किसी जीव को नहीं किसी पर क्रोध करूँ।
बने जहाँ तक इस जीवन में औरों क उपकार करूँ।"

(३) हमें सप्ताह में कम-से-कम एक बार या पर्व-तिथियों पर एकासना, एक समय भोजन या रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिये, इसके लिये कोई दिन या पर्व नियत कर लेना चाहिये। हमें एकासन की आदत डालना चाहिये इससे "पाचक यंत्र" को सप्ताह में एक बार विश्राम मिल जाता है। हो सके तो मास में एक बार उपवास करना चाहिये इससे भी "पाचक यंत्र" को एक दिन का विश्राम हो जाता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से सन्ध्या को सूर्यास्त से पूर्व भोजन करना आवश्यक है। ताकि शयन से पूर्व ३-४ समय पानी पिया जा सके, और पचन में सहायता हो। मैं जानता हूँ कि आजकल यह नियम प्रतिदिन कठिन है अतः सप्ताह में एक बार तो इसे अवश्य पालन करना चाहिये। प्रातःकाल पाश्चात्य सभ्यता के अनुसार मनुष्य Break fast लेता है। इस शब्द के पीछे भी यही रहस्य था कि रात्रि भर का fast कर लिया जावे। प्रातः काल break किया जावे। If you have not observe fast in the night, how you are entitled to take break fast. सम्भवतः महाभारत में इसलिये कवि ने कहा है—

मृते स्वजनगोत्रे पि सूतकः जायते किल।
अस्तंगते दिवानाथे भोजनं क्रियते कथम्।

यदि कुटुम्ब में कोई मृत्यु हो जाती है तो मनुष्य सूतक पालता है। फिर सूर्य के अस्त हो जाने पर मनुष्य भोजन कैसे करता है, यह आश्चर्य की बात है। हमें रात्रि को जल्दी सोना चाहिये और जल्दी प्रातःकाल शय्या त्याग करना चाहिये। रात्रि को अधिक देर तक जागरण, उसके परिणामस्वरूप प्रातः काल सूर्योदय के पश्चात् शय्या त्याग करना रोग को जन्म देता है। अपचन,

कब्ज आदि पेट सम्बन्धी रोग उत्पन्न हो जाते हैं। वैसे भी प्रातःकाल में सूर्योदय का दृश्य कितना सुन्दर तथा लुभावना होता है। प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व शय्या त्याग से ही दिन भर का कार्यक्रम ठीक समय पर पूरा होता है और उसी के परिणामस्वरूप रात्रि को जल्दी सो सकते हैं, अन्यथा नहीं। अँग्रेजी में भी एक विद्वान ने ठीक ही कहा था Early to sleep and early to rise. Makes a man healthy, wealthy and wise.

(५) प्रातःकाल शय्या त्याग के पश्चात् शौच, मुखमार्जन से निवृत्त होकर कुछ समय प्रार्थना करनी चाहिये। इसके लिये प्रारम्भ में "मेरी भावना" पुस्तक उपयोगी है। सरल भाषा हिन्दी पद्य में प्रार्थना से मन निर्मल होता है, विचारों में शुद्धता आती है। प्रार्थना का तात्पर्य गुणी जनों का आदर्श जीवन अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न है।

(६) प्रतिदिन प्रार्थना के समय मनुष्य को कुछ-न-कुछ उस दिन के लिये नियम से ले लेना चाहिये। अगर किसी प्रकार के विकार त्याग के नियम लिये जावें तो बहुत ही अच्छा है। मनुष्य के जीवन में त्याग का महत्व है नियम को ही हम व्रत-प्रत्याख्यान कहते हैं। जिस व्यक्ति का किसी प्रकार का व्रत नियम नहीं होता वह बिना लगाम का व्यक्ति होता है। यदि हम खान-पान में उस दिन अपनी इच्छा पर नियन्त्रण करना चाहते हो तो उस प्रकार नियम लेना चाहिये। व्रत, प्रत्याख्यान से मनुष्य अपनी इच्छाओं को नियन्त्रित करता है। यह हमारे जीवन का एक अंग होना चाहिये।

(७) यह नियम बना लेना चाहिये कि शौच, मुखमार्जन के पूर्व कोई वस्तु न खाई जावे। आजकल पश्चिम का अन्धानुकरण करने वाले लोग Bed tea लेते हैं। यह अत्यन्त हानिकारक है। उससे भी प्रातःकाल शौच मुख-मार्जन के पूर्व tea ली जाना और भी हानिकारक है। इसके अतिरिक्त सफाई के नियम के अनुसार मुख मार्जन, शौच के पूर्व कोई वस्तु लेना अनुचित है मैं विनोद में कहा करता हूं कि मनुष्य यदि चाय लेना अनिवार्य समझता है तो उसे Good tea लेना चाहिये Bad tea लेना तो सर्वथा अनुचित है।

Bad tea will creat bad taste in yonr life.

(८) इसी प्रकार वस्त्रों के सम्बन्ध के प्रश्न में हमें इस प्रकार के वस्त्र परिधान करने चाहिये जो कि हमारी दैनिक चर्या तथा दैनिक कर्तव्य की पूर्ति में सहायक हो। मनुष्य वस्त्र सर्दी, गर्मी, प्रतिकूल ऋतु में शरीर के संरक्षण हेतु पहनता है। साथ ही यह सभ्यता का एक अंग है। इसलिये वस्त्र सुन्दर हों। और ठीक सलीके से पहिने जावें तो अधिक कीमती वस्त्र न हों तब भी सुन्दर

लगते हैं। वेष-भूषा जहाँ तक दैनिक कार्यों तथा कर्तव्य पालन में बाधक न हों वहाँ तक भारतीय वेष भूषा ही उचित है। आजकल लोग पश्चिम की नकल करके गर्मी के दिनों में भी गरम सूट पहिनते हैं, यह पश्चिम का अन्धानुकरण करते हैं जो हास्यप्रद है। इसी प्रकार भारतीय वेष-भूषा के कारण किसी के हृदय में निम्न भावना नहीं होनी चाहिये। मध्य भारत निर्माण के समय मैंने एक सज्जन को जिन्होंने केवल "नीम आस्तीन" पहनकर कमरे में बैठे होने के कारण विनोद में आपत्ति की थी। कहा था कि वास्तव में पाश्चात्य सभ्यता द्वारा आविष्कृत "बुश शर्ट" या "बुश कोट" भारतीय सभ्यता द्वारा अंगीकृत "निमास्तीन" की नकल है। निमास्तीन का अर्थ आधी बाँह का कपड़ा होता है। तुम उसे Half Sleaves होने के कारण "बुश शर्ट" या "बुश कोट" कहते हो।

यह बात तो प्रारम्भिक है। इनका पालन तो अत्यन्त आवश्यक है। यदि तुमने इन बातों में रस लिया तो फिर और कभी आगे बातें लिखूँगा। मेरी अपनी भी कुछ कमजोरी है। कई बातों का मैं स्वयं पालन नहीं कर पाता हूँ। जिनमें रात्रि भोजन त्याग भी है। मैं उसे अपनी कमजोरी मानता हूँ और उसके लिये शर्मिन्दा हूँ। और प्रयत्न कर रहा हूँ कि इनका पूर्ण पालन करूँ।

●

३

सामिष एवं निरामिष भोजन का प्रश्न और हम

प्रत्येक भारतवासी यह भलीभाँति जानता है कि विदेशी शासन से भारतवर्ष की मुक्ति अहिंसा तथा सत्य के मार्ग पर चलने से ही हुई है। भारत के सन्त 'महात्मा गांधी' ने राजनैतिक लक्ष प्राप्ति के हेतु 'अहिंसा तथा सत्य' का प्रयोग इस देश में किया और उन्होंने भारतीयों में असहकार, सक्रिय प्रतिरोध, सत्याग्रह आदि द्वारा निर्भयता का संचार किया तथा अपने न्यायोचित अधिकार प्राप्ति के लिये बेचैनी पैदा की। हालांकि भारतीय प्राचीन इतिहास में भी इस प्रकार के प्रयोग के कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं थे फिर भी संत हृदय गांधीजी ने आत्म-विश्वास के साथ इस प्रकार का प्रयोग करना तय किया और उन्हें सफलता मिली। इस कारण भारतीय विशेषकर अहिंसक समाज (ऐसा समाज जिसे अहिंसा तथा उसकी शक्ति में विश्वास था चाहे वह वैष्णव हो, जैन हो, ईसाई, पारसी हो) में इस प्रकार की आकांक्षा स्वाभाविक थी कि भारतवर्ष का केन्द्रीय तथा विभिन्न राज्यों का शासन देश में अहिंसक वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न करेगा। किन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् केन्द्रीय तथा राज्य शासन की ओर से इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसके विपरीत केन्द्र तथा राज्य शासन की ओर से जो भी कार्य अभी तक हुये हैं, उन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट गोचर होता है कि शासन की नीति हिंसा को प्रोत्साहन देने की है। मुझे एक घटना का स्मरण आता है, जब राज्य शासन के एक मंत्री महोदय ने लेखक के इस सम्बन्ध के उपालम्भ का उत्तर अपने भाषण में देते हुये बताया था कि शासन अहिंसक वातावरण को निर्माण करने के लिये उपदेशक का कार्य नहीं कर सकता। वास्तव में यह धारणा भ्रम पर आधारित है। प्रजातंत्रीय पद्धति में मंत्रीगण प्रजा के नेता माने जाते हैं, इस कारण शासन में जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले नेतृत्व का यह कर्तव्य है कि वह जिस दिशा में अपने देश को ले जाना

चाहता है, मार्गदर्शक का कार्य करे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् शासन द्वारा अपनाई गई नीति से यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि शासन देश को हिंसा के मार्ग पर ले जाना चाहता है और उसकी ओर से निर्मित वातावरण में अहिंसकता का अभाव है। ऐसी दशा में देश में सात्विक वातावरण के निर्माण की आशा करना गलत है। आज हमारे देश के नागरिकों में सहनशीलता का अभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। साधारण-से साधारण बात पर मतभेद उत्पन्न होकर एकदम इतने तीव्र हो जाते हैं कि शान्ति भंग हो जाती है। प्रजातंत्र के सफल होने की पहली सीढी ही यह है कि देश के नागरिकों में इतना संयम हो कि वे अपनी उचित बात को भी मनवाने के लिये अनुचित तरीके का (हिंसा का) उपयोग नहीं करें। चाहे उन्हें इस तरीके से कार्य करने में कितने ही कष्ट भोगना पड़े या कितनी ही अधिक देरी का सामना करना पड़े। आज इस बात से इन्कार करना वास्तविकता से इन्कार करना होगा कि देश में सहनशीलता की बहुत कमी आती जा रही है। परिणाम यह है कि एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ वैसा अच्छा सम्बन्ध नहीं है जैसा कि चाहिये था। इस बात को समझने के लिये मालिक व नौकर के आपसी सम्बन्धों, छात्रों शिक्षकों के आपसी सम्बन्धों राजनैतिक दलों में कार्य करने वाले एक दल के लोगों के आपसी सम्बन्ध की वर्तमान स्थिति पर दृष्टि डाली जा सकती है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि केवल भौतिक उन्नति ही जीवन को वास्तविक सुख व आनन्द देने में समर्थ नहीं हो सकती है। भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है कहा जाता है इसमें मनुष्य की भूख अध्यात्मिकता से जाती है। ऐसी दशा में भारतवर्ष के केन्द्रीय तथा राज्य शासन की ओर से विदेशी मुद्रा अर्जित करने के हेतु हिंसा के व्यापार को प्रारम्भ तथा उसको प्रोत्साहन दिया जाना अत्यन्त आश्चर्य तथा खेदजनक है। कहा जाता है कि इस व्यापार से देशवासियों का जीवन यापन का स्तर Stanard of Living में प्रगति होती है। जैसा कि ऊपर बताया गया है इस देश के जीवन यापन के स्तर में प्रगति की आवश्यकता है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह कार्य केवल "हिंसक" व्यापार के अतिरिक्त किसी और प्रकार से संभव नहीं रह गया है? मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि 'जीवन यापन तथा प्रगति' के कई मार्ग हैं जिन पर हमारे केन्द्र तथा राज्य शासन का ध्यान ही नहीं गया है। शासन की इस नीति के परिणाम स्वरूप जहाँ देश में सात्विक जीवन का अभाव होता जा रहा है, मनुष्य की सहनशी-लता कम होती जा रही है वहां नागरिकों में चमड़े की वस्तुओं के अनियमित उपयोग की वृत्ति वृद्धि पर है। जिस वस्तु का निर्माण चमड़े के अतिरिक्त

अन्य रीति से हुआ है वह सुन्दर तथा टिकाऊ होने के बावजूद हमारे आकर्षण की वस्तु नहीं होती। हम 'चर्म निर्मित वस्तु' की मांग करते हैं। पाठक भली-भाँति जानते हैं कि कुछ वस्तु जीवित पशुओं को मारकर उत्पन्न चमड़े से निर्माण की जाती है और वह अधिक मुलायम होती है तथा 'फैशन परस्त' लोग उसकी अधिक मांग करते है, देश में 'सामिष आहार' का रिवाज बढ़ता जा रहा है। इसमें दो मत नही हो सकते कि 'सामिष आहार' सात्विक नहीं होता। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में तो तामसी, राजसी भोजन वर्ज्य बताये जाकर केवल सात्विक आहार को प्रमुखता दी गई है किन्तु भारतीय शासन तथा उसके प्रमुख नेतागण अपने व्यवहार से ऐसा उदाहरण उपस्थित नहीं कर सके कि जिससे नागरिकों में सादगी का वातावरण का निर्माण होता और चर्म-निर्मित वस्तुओं के उपयोग को प्रोत्साहन न मिलता किन्तु शासन का ध्यान संभवतः सादगी पर नही टिकता। इसी प्रकार सामिष भोजन को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। अन्न की कमी का बहाना बताकर सामिष भोजन तथा मत्स्योद्योग प्रोत्साहन का कार्य शासन एक उपदेशक के रूप में करता रहा है। देश की धर्म-प्राण जनता चाहती है कि यदि शासन 'शाकाहारी उपदेशक' होना पसन्द नहीं कर सकता तो मौन साधे किन्तु वह 'मांसाहारी उपदेशक' तो न बने। इस दृष्टि से हमारे केन्द्रीय शासन के एक भूतपूर्व मंत्री के विभाग द्वारा प्रचारित परिपत्र द्वारा जनता को जो परामर्श दिया गया था वह अहिंसक समाज के हृदय को काफी आघात पहुँचाने वाला था। अहिंसक समाज से 'कर' के रूप में प्राप्त आय का इस प्रकार 'मांसाहार तथा मत्स्य भोजन प्रचार' में दुरुपयोग किया जाना अनुचित है। इसी संदर्भ में एक राज्य के मुख्यमंत्री तथा मध्यप्रदेश राज्य के एक मंत्री के ताजे वक्तव्यों से भारतीयों के हृदय को काफी ठेस पहुँचती है। ऐसा ज्ञात होता है कि शायद जनता के इन तथाकथित नेतागण ने मासाहार तथा मत्स्य-भोजन प्रचार का कार्य अपने जीवन का उच्चतम ध्येय बना लिया है।

मुझे एक घटना का स्मरण आता है जिसने मुझे सोचने के लिये पर्याप्त अवसर दिया। सन् १९५४ में शिमला में अखिल भारतीय स्वायत्त शासन मंत्रीगण की एक Conference आयोजित की गई थी। मैं पूर्व म० भा० के स्वायत्त शासन मंत्री के रूप में उक्त सम्मेलन मे सम्मिलित हुआ, वहाँ पर एक दिन शासकीय भोज में निमंत्रण जारी किया गया कि जिसमें निमिंत्रितों को एक सूचना दी गई थी कि यदि वह शाकाहारी हों तो सूचित करें ताकि विशेष व्यवस्था की जाये। प्रश्न यह है कि भारतीय शासन भारतीयों शाकाहारी मानता है या मांसाहारी। मेरे अनुमान से हिमाचल प्रदेश का शासन

भारतवासियों को मांसाहारी मानता है। As a rule वह मांसाहार की व्यवस्था आवश्यक मानता है, अपवाद के रूप में शाकाहार की व्यवस्था करना चाहते हैं जबकि स्थिति इसके विपरीत है। मैं यह अनुभव करता हूं कि हम जार्ज बर्नार्ड शा के कथन को स्मरण करने मनुष्य के पेट को पशुओं की कब्र बनने से रोकें।

४

श्रावक वर्ग की आचार-संहिता का प्रश्न

जिस प्रकार हम साधु, मुनिराजों, के लिए देश, काल, द्रव्य क्षेत्र को दृष्टि -गत रखते हुए, आचार संहिता, निर्माण करने तथा उसके पालन करने पर बल दे रहे हैं, उसी प्रकार क्या श्रावक, श्राविकाओं के लिये न्यूनतम आचार-संहिता निर्माण तथा उसके पालन करने पर बल देने की आवश्यकता नहीं है। जब मैं यह अनुभव करता हूँ कि श्रमण संघ से रूठे हुए साधु, मुनिराज तथा उनके अनुयायी श्रावक समुदाय श्रमण संघ में सम्मिलित साधु मुनिराज के छोटे-छोटे दोषों को बताकर शिथिलाचार का प्रचार करते हैं तब ही मेरे मन मे एक प्रश्न चिन्ह उपस्थित होता है कि क्या इस प्रकार का आलोचक श्रावक समुदाय भगवान महावीर द्वारा अपेक्षित श्रावक गुण सम्पन्न श्रावक है? अथवा जैनशास्त्रों में अपेक्षित साधु मुनिराज के माता पिता जैसा व्यवहार करके उनको सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न कर रहे हैं? इसमें सन्देह नहीं कि जिन साधु मुनिराज के आचार की आलोचना की जाती है उनको इस बात से कोई सरोकार नहीं होना चाहिये कि आलोचक का आचार क्या है? यदि उनमें वास्तव में दोष है तो उसको खुले दिल से स्वीकार कर प्रायश्चित ले लेना चाहिये किन्तु इस प्रसग में मेरे मन में जो उप-प्रश्न उठता है वह यह कि हमारे मित्रो की उक्त आलोचना का प्रभाव क्यों नहीं हो पाता? जैन-धर्म का प्रत्येक अनुयायी जानता है कि हमारी वाणी में तब ही प्रभाव होगा जब हमारा व्यवहार उत्तम हो, हमारे कौल फ़ैल में कोई अन्तर न हो। हमारे वाणी तथा कर्म में सामन्जस्य हो। तात्पर्य यह कि हम को अपनी वाणी को प्रभावशाली बनाने के लिऐ हमारा आचार उसी प्रकार का हो जिस प्रकार के आचार की अपेक्षा हमसे की गई है। इसी दशा में हमारी आलोचना केवल किसी को नीचा गिराने, बदनाम करने के लिये न होकर गोपनीय रूप से सुधार

करने के लिये होगी और हम माता-पिता के रूप में साधु मुनिराज को सन्मार्ग पर लाने के लिये सफल हो सकेंगे। इस पृष्ठभूमि में मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि श्रावकोचित आचार-संहिता का निर्माण हो, उसमें अल्पतम अपेक्षित नियमों का समावेश हो, उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का लिहाज रख कर युगानुकूल विचारों का भी प्रतिनिधित्व हो तथा उसके पालन पर बल दिया जावे। इस सम्बन्ध मैं मैंने अजमेर सम्मेलन के समय आयोजित सभाओं में अपने विचार व्यक्त किये उन विचारों को गुजराती जैन प्रकाश तथा मुम्बई समाचार (गुजराती) ने काफी Response दिया।

भगवान महावीर की स्तुति करते हुए श्रीमद् नंदीसूत्र के प्रारम्भ में उन्हें "जीव-योनि-विज्ञाता" कहा गया है। उन्होंने विश्व की समस्त जीव योनियों में—"मनुष्य जीवन" अत्यन्त दुर्लभ, महत्वपूर्ण निरूपित किया साथ ही उन्होंने यह भी निरूपित किया कि समस्त चराचर विश्व में मोक्ष का अधिकारी मनुष्य ही है, देवता भी अधिकारी नहीं है जब तक वह मनुष्य जन्म धारण न करे। उस समय का युग-'देव-वाद' से आवेषित था। उन्होंने मनुष्य की प्रतिष्ठा प्रस्थापित की तथा यह प्ररूपित किया कि व्रत संयम की आराधना मनुष्य कर सकता है इसलिये मनुष्य-योनि से ही मोक्ष सम्भव है। यह निश्चित तथ्य है कि केवल मनुष्य योनि की प्राप्ति पर्याप्त नहीं है उसमें व्रत-संयम आवश्यक है और तभी उस मनुष्य में "मनुष्यता" आ सकती है। भगवान महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा था—

> चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
> माणुसत्तं, सुई, सद्धा, संजमंमि य वीरियं॥

उपरोक्त गाथा के अध्ययन से इस परिणाम पर पहुँचना होगा कि मनुष्य तथा मनुष्यता में अन्तर है केवल मनुष्य-योनि पर्याप्त नही है। अपितु उसमें "मनुष्यता" आवश्यक है। तात्पर्य यह कि मनुष्य में मनुष्यता तब आ सकेगी जब वह व्रत, यम, नियम, संयम का आराधक हो। मनुष्य तथा पशु में यही अन्तर बताया गया है कि मनुष्य जिसमें ज्ञान, सद्-असद् विवेक मनन की शक्ति प्राप्त हो और वह मनन चिन्तन के द्वारा हेय, ज्ञेय, उपादेय का निर्णय करे। स्वयं का जीवन दूसरों को क्षति पहुँचाये बिना, मर्यादित रूप में व्यतीत कर सके। पशु जीवन इन बातों से अनभिज्ञ माना गया है। "मननात् इति मनुष्यः" मनुष्य तथा पशु जीवन का अन्तर बताते हुए भारतीय विचारकों ने बताया था—

आहार-निद्रा-भय मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मोहि तेषां अधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना ।।

पुनः

येषां न विद्या न तपो न दानम्, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मृत्युलोके भूमि-भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।

पाश्चात्य विचारको ने मनुष्य के बंधन रहित, अमर्यादित जीवन को अनुचित बताया है । बन्धन रहित, अमर्यादित जीवन में पतन अवश्यम्भावी है । इस प्रकार के जीवन में मनुष्य दूसरे के अधिकारों का रक्षण नहीं कर सकता, परिणामस्वरूप संघर्ष होगा,अशान्ति फैलेगी इसी कारण मनुष्य को अपना जीवन व्यतीत करने के लिए स्वयं अथवा समाज शासन द्वारा विचारकों द्वारा निर्मित नियमों का पालन करना होगा । मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं उसकी पूर्ति मनुष्य अपना लक्ष बनाले तो उसके एक नहीं अनेकों जीवन समाप्त हो जावे तो भी पूर्ति नहीं हो सकेगी, इच्छाओ को आकाश के समान अनन्त बताया गया है इसलिए भारतीय ऋषि ने स्पष्ट उपदेश दिया कि—

आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ।।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्य में मनुष्यता लाने के लिये यम, नियम-व्रत, संयम अत्यन्त आवश्यक है तभी मनुष्य मे मनुष्यता आवेगी । इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भगवान महावीर ने गृहस्थ धर्म का निरूपण करते हुए श्रावकों को ५ अणुव्रत, ४ शिक्षाव्रत, ३ गुणव्रत, इस प्रकार १२ व्रतों का विधान किया । इनमें से ५ अणुव्रत, साधु मुनिराज के लिये निरू-पित ५ महाव्रत का सरलीकरण है । व्रतधारी श्रावक से अधिक सुसंस्कृत आत्मा प्रतिमाधारी श्रावकों का विधान किया गया । यही नहीं । अपितु इन नियमों का पालन करने मे सहायक श्रावकों के २१ गुण का निर्देश किया गया इस सारे प्रावधान पर विचार करने से ज्ञात होता है कि भगवान महावीर ने मनुष्य में मनुष्यता लाने तथा साधारण जन को जैन दीक्षित करने तथा जैन को श्रावक जैसा परिमित साधु जीवन बिताने वाले व्यक्ति की कोटि में लाने का प्रयास किया था । वास्तव मे जिस प्रकार केवल मनुष्य से 'मनुष्यतासम्पन्न-व्यक्ति विशेष उच्च कोटि का होता है उसी प्रकार केवल 'जन' से जैन तथा केवल 'जैन' से 'श्रावक' उच्चकोटि का होता है,उससे भी उच्च सुसंस्कृत आत्मा प्रतिमाधारो श्रावक होता है । भगवान महावीर ने आत्मा के गुण विकासक्रम का जो प्रावधान किया है उसमें १४ श्रेणियां बताई गई हैं । इस प्रकार मानव आत्मा विकास करते-करते अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच सकती है । बाद में जैन-

आचार्यों ने मनुष्य को भला बनाने में सहायक अन्य कुछ गुणों का निर्देश किया है जिन्हें मार्गानुसारी के ३५ गुण कहा जाता है। मैं जहाँ तक समझता हूँ श्रावकों के उपरोक्त २१ गुण या मार्गानुसारी के ३५ गुण जैन अथवा श्रावक के व्रतों को दृढ़ता से पालन करने में सहायक होने के लिये निर्मित किये हैं। साधारण 'जन' से 'जैन' में कुछ अधिक गुणों का विकास होना चाहिए जैसा कि 'जैन' शब्द पर दो मात्राओं के विद्यमान होने से परिलक्षित होता है।

किन्तु आज की समस्या मुख्य यह हैं कि क्या हम जैन कहलाने वाले कुटु-म्ब में 'जैन संस्कार' भी विद्यमान है या नहीं? दूसरे शब्दों में हम अथवा हमारे कुटुम्ब के सदस्यों में मार्गानुसारी के गुण भी विद्यमान हैं या नहीं? जब मैं इस बात पर विचार करता हूँ तो मुझे बड़ी निराशा होती है। बारह व्रत धारी श्रावक अथवा प्रतिमाधारी श्रावक की तो उच्चस्थिति है, किन्तु उसी भूमिका के रूप में अपेक्षित सद्गुण (जिसे मार्गानुसारी के ३५ गुण कहे जा सकते हैं) भी हम अथवा हमारे जैन कुटुम्बों में विद्यमान नहीं हैं? जैन आचार संहिता (चाहे वह श्रमणों की हो चाहे वह श्रावक की हो) का मूल अथवा हृदय 'विवेक' है। आचार संहिता का यदि संक्षिप्त में वर्णन किया जावे तो 'विवेक' शब्द में समाविष्ट हो सकता है। पाठक भली भाँति जानते हैं कि जैन आचार अहिंसा' पर आश्रित है, उसका सारा महल 'अहिंसा' की भित्ती पर खड़ा किया गया है, 'अहिंसा' का एकान्त पक्षपाती सम्भवतः 'निवृत्ति' का समर्थक होगा किन्तु जैनाचार्यों ने 'अहिंसा' का पूर्ण समर्थन करते हुए भी विभिन्न प्रकार की प्रवृ-त्तियों का विधान किया है। केवल 'विवेक' एक अनिवार्य बन्धन रखा है जैसे कि श्रीमद्-दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है:—

> **जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।**
> **जयं भुंजंतो, भासंतो, पावकम्मं न बंधई॥**

तात्पर्य यह है कि पूर्वाचार्यों ने विवेक (यत्न) को महत्वपूर्ण बताया है। यत्न पूर्वक (विवेक सहित) प्रवृत्ति के पाप बन्धन न होने का आश्वासन दिया है, संक्षिप्त में 'विवेगे धम्ममाहिये' विवेक में ही धर्म का समावेश है। यदि आज हम भारतीय जन समूह के जीवन तथा उसके प्रति दृष्टिकोण पर विचार करते हैं तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उसमें विवेक का स्थान बहुत अल्प मात्रा में है। यदि आप किसी Water Pipe को सार्वजनिक उपयोग के लिये सार्वजनिक स्थान पर लगा हो, के निकट अवलोकन करें तो जो व्यक्ति उसका उपयोग कर लेता है उसको बन्द करके जाने का कष्ट नहीं करता है। इसी प्रकार किसी शासकीय कार्यालय अथवा 'मंत्रीगण के शासकीय निवासगृह,

(जहां बिजली का चार्ज स्वयं उपभोक्ता को नहीं देना पड़ता) में पंखे अविरल रूप से चलते हुए देखे जा सकते हैं। कार्यालय का चपरासी अथवा निवासगृह का उपभोक्ता कमरे से बाहर जाते समय Switch बन्द करने का कष्ट नहीं करता। बातें बहुत छोटीं हैं किन्तु उसके पीछे जो विचार भूमिका है वह काफी महत्व रखती है। आज हमारे भारतीय समाज के युवक-युवतियों में 'तंग पोशाक' की धुन काफी प्रगति पर है। यदि यह कहा जावे कि उक्त फैशन को अपनाने मे युवक-युवतियां पागल होते जा रहे हैं तो अत्युक्ति न होगी। इसी प्रकारयदि आप प्रस्रवन।पेशाब करने के तरीके को देखें तो लज्जा से मस्तक नम जाता है। यह प्रवृत्ति भारतीय समाज में पाश्चात्य प्रवृत्ति के अंधानुकरण का परिणाम हैं। अच्छी बातों का अनुकरण बुरी बात नहीं है। आप आज कल उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अथवा युवकों को खुले स्थान पर भी खड़े-खड़े पेशाब करते पायेंगे। मेरा ऐसा अनुभव है कि यह प्रथा उन उच्चाधिकारी अथवा उच्च शिक्षित व्यक्तियों ने प्रारम्भ की होगी जिनको अपने पेंट की क्रीज बिगड़ने का भय था। वह भी बन्द कमरे मे तथा (Urinal) में करते होंगे। जहाँ एकात हो तथा गंदे पानी के छीटे उनके पेंट पर न गिर सकें। किन्तु आज तो हम उनके चपरासी तक को (जिसके पेंट मे क्रीज का नाम भी नहीं) उसको 'साहब' की नकल करते हुए खुले स्थान पर भी पा लेते हैं। इस प्रकार पच्चीसौं बातें गिनाई जा सकती हैं। अधिक दुःख तब होता है जब 'विवेक' में धर्म होने की मान्यता रखने वाले जैन तथा उसके कुटुम्ब में भी विवेकहीन इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है। यदि कई सज्जनों की पानी अथवा तरल पदार्थों को बिना आवरण—(ढंके हुए) रखते हुए देख सकते हैं जो कि धार्मिक तथा स्वास्थ्य दृष्टि से हानिकर है। सूर्यास्त से पूर्व तो भोजन की बात तो आज युग-बाह्य मानी जाती है। यदि हम सूर्यास्त पूर्व के भोजन की पद्धति पर गौर करें तो उस परिणाम पर पहुंचेंगे कि यह पद्धति धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है ही, किन्तु स्वास्थ्य रक्षा के लिहाज से भी काफी महत्वपूर्ण है। क्या कभी इस दृष्टिकोण से सोचा गया है कि दिन में प्रातःकाल तथा संध्या के भोजन में समय का अन्तर काफी कम रहते हुए भी भूख लग जाती है। सन्ध्या तथा दूसरे दिन प्रातः भोजन में बहुत अन्तर (समय) रहने पर भी भूख नहीं लगती। वास्तव में सूर्य की गर्मी का या उसके अस्तित्व का हमारी पाचन-क्रिया पर प्रभाव पड़ता है। जबकि रात्रि के १२ बारह घंटे में पाचन क्रिया बहुत मन्द हो जाती है। यह सच है कि आज के बहुविध प्रवृतिमय जीवन मे सूर्यास्तपूर्व भोजन बहुत कठिन होता है, विशेष कर बम्बई

जैसे उद्योगप्रधान तथा कई मील दूर रहते हुए उपनगरों में। किन्तु हम यह तो कर ही सकते हैं कि सूर्यास्त के पश्चात् ही— सही किन्तु यथासम्भव शीघ्र भोजन से निवृत हो जावें। कालेज तथा स्कूल में जाने वाले छात्र, छात्राओं के जीवन के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है? मेरे मत में तो यदि छात्र-छात्राओं के जीवन को अहिंसा प्रवृत्ति प्रधान तथा जैन संस्कारयुक्त बनाना है तो बड़े-बड़े नगरों में जैन होटलों का निर्माण करना चाहिये तथा वहाँ का भोजन प्रबन्ध जैन संस्कार युक्त व्यक्ति के हाथ से होना चाहिये। मैं जब गहराई से सोचता हूँ तो इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि आज हमारे धर्माचार्यों को सामायिक प्रतिक्रमण की बात से महत्वपूर्ण बात जैन समाज तथा भारतीय समाज के सम्मुख जैन संस्कार, भारतीय संस्कार की बात दृढ़तापूर्वक रखना चाहिये। सामायिक प्रतिक्रमण के महत्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता, किन्तु प्रश्न प्राथमिकता का है। यदि हमने जैन कहलाने वाले कुटुम्बों में जैन संस्कार दृढ़ करने का प्रयत्न नहीं किया तो कोई दिन ऐसा आ सकता है कि जब तथाकथित जैन के व्यवहार से जैन समाज को शर्मिन्दा होना पड़े, वास्तविक जैन को जैन कहलाने में शर्म अनुभव करना पड़े। आज राजनीतिक क्षेत्र में सम्पर्क रखने वाला व्यक्ति भली-भांति जानता है कि गांधीयुग में सार्वजनिक कार्यकर्ता अधिक सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करता था, दुर्व्यसनों से परे रहता था यदि कोई व्यक्ति दुर्व्यसन में ग्रस्त होता है तो उसको निम्न, हीन दृष्टि से देखा जाता था किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति अथवा उसके पश्चात् राष्ट्रपिता गांधी जी के स्वर्गवास को जितना अधिक समय होता जा रहा है उतना ही इस प्रकार के जीवन का आग्रह कम होता जा रहा है। कई सत्तारूढ़ इस प्रकार के सात्विक जीवन के विरुद्ध अपने कुतर्कों द्वारा औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं उसका परिणाम आज सारा राष्ट्र भोग रहा है। राष्ट्र का औसत नागरिक यह अनुभव करता है कि त्याग-तपस्या के व्रत से युक्त सार्वजनिक कार्यकर्ता की क्या स्थिति होती जा रही है? स्वयं कार्यकर्त्ता ठाट-बाटपूर्ण जीवन बिताने के लिये उचित, अनुचित मार्ग अपनाता है उसका अनुकरण अन्य लोग करते हैं। परिणामस्वरूप दैनिक जीवन में भ्रष्टाचार पनप रहा है। राष्ट्र के कर्णधारों को उसकी ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं है। तात्पर्य यह है कि हमारे भारतीय जन-जीवन में सादगी, सात्विकता, विवेक अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना मानव-जीवन में भारतीय या जैन-संस्कार नहीं उतारे जा सकते, न देश का सार्वजनिक जीवन शुद्ध रह सकता है। जब तक सार्वजनिक जीवन शुद्ध सात्विक न हो तब तक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता जनसाधारण का प्रेरणा-स्रोत

नहीं हो सकता। यह हमारा दुर्भाग्य है कि आज देश का सार्वजनिक जीवन (चाहे वह राजनीति से सम्बन्धित हो, चाहे वह अन्य क्षेत्र से सम्बन्धित हो तथा वह किसी भी राजनीतिक दल से सम्बन्धित हो) भ्रष्टता की ओर प्रगति कर रहा है। प्रजातंत्र के युग में राजनीतिक (राजनेता चाहे वह कांग्रेस से सम्बन्धित हो, चाहे वह अन्य किसी दल से सम्बन्धित हो) का जीवन दर्पण के अनुसार इतना स्वच्छ, शुद्ध, सात्विक होना चाहिये कि जो जनसाधारण के लिये प्रेरणा श्रोत हो सके। उसकी वाणी तथा कर्म मे साम्य होना चाहिये ताकि जनसाधारण पर उसका प्रभाव पड़ सके। युग-निर्माता गांधी के जीवन की छाप करोड़ों देशवासियों पर केवल इस कारण पड़ी कि उनकी वाणी और कर्म में साम्यता थी, जीवन एक खुला सत्य था। उनमें भूल को स्वीकार करने का साहस था।

यदि हम जैन समाज की मान्यताओं तथा आज के सामाजिक जीवन की मान्यताओं पर विचार करें तो भी बड़ी निराशा होती है। जैन-दर्शन की मान्यता मे अन्धविश्वास का कोई स्थान नहीं है इसी कारण जैन धर्म में सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र (त्रिरत्न) को मोक्ष मार्ग बताया गया है। जैन-धर्म के अनुसार सम्यक्त्व व्रत में अरिहंत देव, साधुत्व से युक्त आत्मा को गुरु तथा केवली प्ररूपित धर्म में आस्था (निष्ठा) आवश्यक मानी गई है किन्तु हम बड़ी व्यथा के साथ देखते हैं कि जैन समाज में इसके विरुद्ध आचरण होता है। जहाँ जैन समाजान्तर्गत एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के चिन्ह से विभूषित तीर्थंकर-प्रतिमा को पूज्य नहीं मानता उसी का सदस्य भैरों, भवानी की प्रतिमा के सम्मुख नत मस्तक होकर अपनी तथा अपने कुटुम्ब की कुशलता के लिये आशीर्वाद माँगता है। वह अपने धार्मिक स्थान में प्रतिक्रमण के समय ऐसे दोषों के लिये मिच्छामि दुक्कडं (मिच्छामि-दुष्कृतम्) देता है। तथा यह जानता भी है कि इन भैरों, भवानियों आदि देव का किसी धर्म में कोई स्थान नहीं है। और किसी का भला बुरा कोई देव नहीं कर सकता। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। अच्छे बुरे कर्मों का फल उसको भुगतना पड़ेगा। फिर भी अन्धविश्वास तथा मानसिक कमजोरी इस प्रकार जैन-संस्कार के विरुद्ध आचरण करने पर उद्यत करती है। लेखक को आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व अपने परिवार में इस प्रकार की प्रथाओं के विरूद्ध असहयोग करना पड़ा तथा अपने स्वर्गीय पूज्य माताजी तथा पिताजी को यह विश्वास कराना पड़ा कि इस प्रकार के देव, देवी, मनुष्य की कोई हानि-लाभ नहीं कर सकते। परिणामस्वरूप आज वर्षों से लेखक के परिवार से इस प्रकार की अंधविश्वास युक्त प्रथा विदा हो गई। स्थानकवासी समाज की मान्यता में मूर्ति-पूजा को कोई

स्थान नहीं है। हालांकि लेखक के निजी मत से कला की दृष्टि से मूर्ति, चित्र का महत्व है और जैन समाज ने भारतीय मूर्ति, तथा चित्रकला के उत्कर्ष में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मूर्ति तथा चित्र के अस्तित्व की उपयोगिता है। किन्तु यह भी सत्य है कि मूर्ति चित्र की हिंसायुक्त साधनों द्वारा या अन्य प्रकार से पूजा की— उपयोगिता सिद्ध नहीं की जा सकती। स्था० समाज की एकान्त मूर्ति-विरोधी मान्यता के बावजूद समाज में अपने पिता, पूजनीय स्वजनों के फोटो, श्रद्धेय मुनिराजों के फोटो का प्रचलन है और प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। अच्छे कट्टर स्थानकवासी मान्यता के-हामी गृहस्थ श्रावकों के मकानों पर भी लेखक ने इस प्रकार के फोटो देखे हैं। श्रद्धेय मुनिराजों के फोटो पुस्तकों के पृष्ठों पर ब्लाक बनाकर छपवाये जाते हैं। कुछ मुनिराजों में ही अपने फोटो समाचार पत्रों मे प्रकाशित कराने का "चाव" बढ़ रहा है। इस प्रकार की वृत्ति पर समाज को सोच-विचार करके कोई निर्णय लेना चाहिये। लेखक के मत में दैनिक अथवा अन्य समाचार पत्रों में आदरणीय श्रद्धेय के फोटो ब्लाक बनाकर छपवाना अनुचित कार्य है। सब लोग जानते है कि समाचार-पत्र मनुष्य पढ़ने के पश्चात् कितनी लापरवाही से फेंक देता है। वह गन्दे, अनुपयुक्त स्थान पर भी पहुँच जाते हैं और जिस पृष्ठ पर फोटो प्रकाशित हुआ है उस पृष्ठ की दुर्गति भी हो सकती है। इस कारण इस प्रकार की वृत्ति में विवेक की आवश्यकता है। लेखक को एक पूज्य मुनिराज की शताब्दी समारोह में सम्मिलित होने का अवसर मिला। वहाँ लेखक ने देखा कि सम्बन्धित मुनिराज का—"आदम कद फोटो" मंच पर रखा था। उनके सम्मुख बालकबालिका सांस्कृतिक कार्यक्रम के नाम पर नृत्य-गान कर रहे थे। लेखक के साथ उस मंच पर समाज के कुछ विचारक मननशील सज्जन थे। लेखक ने उनसे विनोद मे कहा कि सम्भवत: उक्त मुनिराज स्वर्गवास होने के पश्चात् "देवलोक" में होंगे जहाँ पर देवी देवता नृत्यगान-द्वारा (लोक श्रुति के अनुसार) उनका मनोरन्जन करते होंगे। वही दृश्य यहाँ पर बतलाया जा रहा है। वास्तव में हमारे सामाजिक जीवन में सम्यक्त्व अथवा चारित्र की दिशा मे विवेक का स्थान बहुत कम रह गया है। समाज के प्रबुद्ध विचारकवर्ग के सम्मुख यह सब प्रश्न उपस्थित हैं। विचारक वर्ग इन प्रश्नों पर विचार करें तथा समस्या हल करें। साधु मुनिराजों को भी इन प्रश्नों पर विचार कर समाज के चतुर्विध संघ का मार्ग दर्शन करना चाहिये। अन्यथा समाज स्वयं ही विवेकरहित मार्ग पर जा रही है। समाज के विचारकों के मन में स्व० राष्ट्र-कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के शब्द गुनगुना रहे हैं—

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर, ये समस्यायें सभी।। ●

५

साधु-आचार में परिवर्तन का प्रश्न

केवलं शास्त्रमाश्रित्य, न तु कर्तव्य-विनिश्चयः ।
युक्तिहीने-विचारे तु धर्महानिः प्रजायते ।।

भगवान महावीर ने अपने संघ मे चार तीर्थ की स्थापना की उसमें साधु एक महत्वपूर्ण घटक थे। इस कारण जैन धर्म-साहित्य में साधु-साध्वी के आचार के सम्बन्ध मे काफी विस्तार से उल्लेख किया गया। यह सब कोई जानते हैं कि भगवान महावीर के संघ में सचेलक तथा अचेलक दोनों प्रकार के साधु विद्यमान थे। दोनों प्रकार के श्रमणों में सौहार्द भाव था, कोई उच्च-निम्नत्व का भाव न था जब कि उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के साधु रंग-बिरंगे वस्त्र पहिनते थे। जब भगवान महावीर के निर्वाण के काफी समय पश्चात् दोनों प्रकार के साधुओं में अन्य भाव उत्पन्न हुए तब दिगम्बर श्वेताम्बर पृथक्-पृथक् हो गए, यह दोनों सम्प्रदाय के रूप में विद्यमान हैं,किन्तु इनमे भी कालान्तर मे विभिन्न उप-सम्प्रदायों का निर्माण हो गया और प्रत्येक उपसम्प्रदाय का साधु अपनी मान्यता, विश्वास तथा आचार को भगवान महावीर द्वारा स्वीकृत होने का दावा करता रहा। तात्पर्य यह है कि सारे जैन समाज के आदर्श पुरुष एक होने के पश्चात् भी छोटी-छोटी मान्यता-भेद, रुचि-भेद ने पृथक्-पृथक् अस्तित्व कायम रखा है, और जैन समाज एक विभाजित खंडित रूप मे मौजूद है। जैसा कि मैंने इंगित किया है, भगवान महावीर के संघ में एक महत्वपूर्ण इकाई है इसलिए साधु आचार का प्रश्न महत्वपूर्ण रहा है। अभी दिनांक १६-६-७० को बम्बई नगर में साधु आचार में परिवर्तन के प्रश्न पर विचार करने के लिए जैन युवक संघ द्वारा परिसंवाद आयोजित किया गया था। तथा उसमें जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान श्रीदलसुख भाई मालवणियाजी ने जो विचार व्यक्त किये थे उनको बम्बई से प्रकाशित "प्रबुद्ध जैन" ने प्रका-

शित किया है। इसी सिलसिले में पूज्य श्री हस्तीमल जी महाराज ने एक लेख "जिन वाणी" अगस्त १९७० के अंक मे प्रकाशित कराया है।

मुझे उपरोक्त "प्रबुद्ध जैन" का अंक उपलब्ध नहीं हो सका किन्तु जिन-वाणी के अक में श्री दलसुखभाई के विचारों का अंश प्रकाशित हुआ है। जिसमें उन्होंने साधु के यम नियम में कुछ परिवर्तन सुझाये हैं। उन परिवर्तन (प्रस्तावित) का प्रभाव बहुत दूरगामी होगा तथा साधु सस्था आमूल रूप से नये रूप में उपस्थित होगीं इसमें संदेह नहीं है। मुझे पता नहीं कि श्री दलसुख भाई ने उन सुझावों पर पर्याप्त विचार कर लिया था, या क्या ? जो कुछ भी हो उपरोक्त सुझाव उनकी व्यक्तिगत राय है तथा विस्तार के प्रश्न है। मेरे नम्र मत में मौलिक प्रश्न आज यह है कि क्या साधु आचार में कोई परिवर्तन किया जाना उचित है कि नहीं ? साधु के नियमोप-नियम, उनके उल्लंघन के दण्ड आदि बातें जैन साहित्य मे विस्तार से है। फिर भी समय के प्रवाह तथा विज्ञान की अपरिमित तरक्की ने कई ऐसे प्रश्न उपस्थित कर दिये हैं,कि जिनका उत्तर नहीं मिलता। जब हम परिवर्तन की बात करते हैं तो स्वभावतः यह प्रश्न सम्मुख आता है कि क्या भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् से आज तक साधु संस्था के नियम अपरिवर्तित रहे हैं या उनमें कभी परिवर्तन हुआ है? जब हम इस दृष्टिकोण से स्थानकवासी श्रमण सस्था के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि समय के प्रवाह के साथ मुनिराजों ने अपनी कई मान्यता विश्वास तथा आचार में समय-समय पर परिवर्तन किया है और समय बीतते-बीतते परिवर्तनों पर मुहर लगती गई है, इस पृष्ठ भूमि में यह दावा कि हमारी साधु संस्था के नियमोपनियम अपरिवर्तित है वस्तु स्थिति के अनुकूल नहीं है। जब सैद्धान्तिक दृष्टि से यह बात तय हो जाती है कि परिवर्तन हो सकता है। उचित है, तब विस्तार के प्रश्न उपस्थित होंगे। विस्तार के प्रश्नों पर मतभिन्नता हो सकती है, उन मत भेदों का निराकरण बहुत मुश्किल नहीं है।

लेखक को जितनी अल्प माहीती है उसके लिहाज से भगवान महावीर तथा उनके निर्वाण के पश्चात् इन २५०० वर्षों के साधु मुनिराज की मान्यता, विश्वास तथा आचार में कई परिवर्तन हुए हैं। लेखक के नम्रमत में उसके निम्नलिखित उदाहरण हैं। यह भी स्पष्ट है कि साधु मुनिराज की दैनंदिन चर्या ही परिवर्तित हो गई है, दिन में प्रथम ध्यान, स्वाध्याय, भिक्षा, प्रतिलेखन होता था, तथा रात्रि में तीसरे पहर में भिक्षा के स्थान पर निद्रा होती थी यह परम्परा बहुत मात्रा में परिवर्तित हो गई है।

(१) जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है भगवान महावीर के संघ में साधु तो नग्न रहते थे या नग्न तथा सवस्त्र दोनों प्रकार के होते थे, अब आजकल स्थानकवासी परम्परा ही नहीं श्वेताम्बर परम्परा के प्रत्येक उप-सम्प्रदाय केवल सवस्त्र ही होते है।

(२) श्वेताम्बर परम्परा मे जिस समय साधु के लिये वस्त्र अनिवार्य समझा गया तथा उस समय उसका परिमाण बहुत ही कम था। जैसा कि श्रुत-साहित्य के प्राचीनतम शास्त्र आचारांग सूत्र से विदित होता है, किन्तु वस्त्रों का परिमाण समय-समय पर परिवर्धन होता गया।

(३) साधु मुनि भोजन के लिये तीसरे प्रहर निकलते थे और भिक्षा लेकर आहार करते थे जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र से विदित होता है। तात्पर्य यह है कि भोजन केवल एक बार लाया जाता था, तथा एक ही बार आहार किया जाता था, आजकल की पद्धति बिल्कुल भिन्न है, इसमें भी प्रातः तथा तीसरे पहर की "चाय" का उदाहरण तक यदाकदा मिल सकता है। गृहस्थ को इसमें आपत्ति नही इसलिए कि गृहस्थ भी आज कल इसी प्रकार का वर्ताव करता है, प्रश्न तो पद्धति के परिवर्तन का है।

(४) जहाँ तक लेखक को ज्ञात है किसी समय स्थानकवासी परम्परा के साधु मुनि संस्कृत का पठन पाठन उचित नही मानते थे, समय के साथ इस मान्यता में परिवर्तन हुआ है।

(५) इसी प्रकार पेश्तर जैन शास्त्रों तथा साहित्य का प्रकाशन साधु मुनि नही कराते थे। अपितु हस्तलिखित ग्रन्थ काम में लाते थे। समय के साथ शास्त्रों तथा साहित्य का मुद्रण प्रारम्भ हो गया लेखक को स्मरण है कि जब स्थानकवासी परम्परा के स्वर्गीय पूज्य श्री अमोलक ऋषि ने पहली बार शास्त्रों के मुद्रण का कार्य प्रारम्भ कराया तब समाज के साधु वर्ग में उसका कितना विरोध हुआ था? किन्तु आज दैनंदिन व्यवहार हो गया है।

(६) पेश्तर स्थानकवासी परम्परा मे साधुओं द्वारा संस्था का निर्माण तथा उसके लिये धन एकत्र करने में सक्रिय सहयोग नहीं दिया जाता था। केवल उपदेश देने की परम्परा थी किन्तु आज तो उसके विपरीत अमल हो रहा है।

(७) पेश्तर जहाँ तक स्मरण है लेखक ने साधु मुनिराज को "चश्मा" उपनेत्र में मामूली बाँस लकड़ी मे ग्लासेज को फिट कराकर लगाते देखा है, आज चश्मा बहुमूल्य लोहकील मय Frame में लगा हुआ देखा जा सकता है।

(८) पेश्तर साधु मुनिराज यदा-कदा वस्त्रों को पानी से धो लेते थे, आज तो टिनोपाल तथा सर्फ का उपयोग हो रहा है।

(९) पेश्तर साधु मुनिराज केवल आयुर्वेदिक औषधि का उपयोग भी आवश्यकतावश करते थे, आज एलोपेथिक औषधि का उपयोग का प्रचलन है।

(१०) पेश्तर साधु मुनिराज संध्या को स्याही "गीली" को सुखाकर रात्रि को अपने पास रखते थे- शायद तात्पर्य यह था कि कोई Liduid Form की वस्तु रात्रि में पास न रखी जावे आजकल Fountain pen सदैव रखे जाते हैं जिसमें स्याही भरी रहती है।

(११) पेश्तर संध्या समय गृहस्थ से मांग कर लाई हुई सूचिका "सुई" वापस कर दी जाती थी, आज संभवतः ऐसा कोई आग्रह नहीं रहा है।

(१२) आज कल साधु मुनिराजों में दैनिक समाचार पत्रों का अवलोकन तथा पठन का रिवाज अधिक है। देश की सामान्य स्थिति तथा सामाजिक समस्याओं से परिचित रहना उचित है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हमारे यहाँ जिन चार कथाओं का वर्णन किया गया है, उसप्रकार के सम्वाद दैनिक समाचार पत्रों में रहते हैं, या नहीं।

उपरोक्त उदाहरणों के अलावा शास्त्रों के जानकार तथा २५०० वर्ष के लम्बे काल की परम्परा के अध्येता अधिक उदाहरण दे सकते हैं वैसे उपरोक्त उदाहरणों में यह भलीभाँति प्रगट है कि साधु-संस्था ने इस २५०० वर्ष के काल में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है, मूल प्रश्न के निराकरण में उपरोक्त उदाहरण सहायक है, कि साधु आचार में कोई समयानुकूल परिवर्तन उचित होगा, या नहीं ? इसमें संदेह नही कि हमारे साधु मुनिराज के आचार व्यवहार में प्रदेश की दृष्टि से भी कुछ कुछ अन्तर है। एक प्रदेश में विचरण करने वाले मुनियों की समाचारी दूसरों से नही मिलती। एक बात स्पष्ट है कि साधु मुनिराज के आचार व्यवहार के सम्बन्ध में समाज में दो विचारधारा स्पष्ट है एक पुरातनवादिता या अपरिवर्तनवादिता की हैं, जब कि दूसरी परिवर्तनवाद की है। इन दोनों विचार सारणि में स्पष्ट Demarcation line मौजूद है। प्रश्न यह है कि स्थानकवासी समाज की श्रमण संस्था 'अपरिवर्तनवादी' इस स्थिति को Recognise करें या इस परिवर्तनवादी युग की समस्याओं से आँख मूंद कर अपनी संस्कृति को सुरक्षित समझ लें। यदि साधु संस्था ने दूसरा मार्ग पसन्द किया तो शनैः-शनैः साधु आचार में स्वतः परिवर्तन हो जायेंगे। तथा परिवर्तन अनियोजित ढंग पर होंगे। यह भी हो सकता है कि अपरिवर्तनवादी भी उसमें शरीक हो जायें और ऊपर से अपरिवर्तन का दिखावा करते रहे। यह

सबके लिये नहीं हो सकती किन्तु कुछ के लिए इस प्रकार की आशंका बेबुनियाद नहीं कही जा सकती। कईयों का अनुभव है कि कई अपरिवर्तनवादी मुनियों ने अपनी सुविधा या आवश्यकता के लिये कुछ परिवर्तन कर लिये हैं और समय के प्रवाह ने दूसरों से भी उसे मान्यता दिलादी। इस समय परिस्थिति के प्रकाश में क्या यह उचित नहीं होगा कि स्थानकवासी समाज के साधु मुनिराज चाहे वह श्रमण संघ में हो या न हो। एकत्र होकर मौलिक प्रश्न सामने रखकर इस प्रश्न के विस्तार पर विचार करें, ताकि श्रमण संस्था विश्रृंखल होने से बच सके। यह कहकर आत्म-संतोष कर लेना उचित नही होगा कि भगवान ने २१००० वर्ष तक उनके मार्ग के अक्षुण्ण रहने की गारन्टी देदी है। यदि हमारी साधु-संस्था ने इस समयोचित बात पर ध्यान देकर कोई सुनियोजित पद्धति अंगीकार नहीं की तो मुझे अन्य धर्मावलम्बी साधुओं के जैसा भविष्य नजर आता है, वह यह कि जिस साधु का आचार व्यवहार उचित होत है वह पूज्य रहेगा। शेष साधु को आदर सम्मान समाज से नही मिल सकेगा, यह भी हो सकता है कि ऐसे साधु का जीवन अन्तर तथा बाह्य दो प्रकार का हैं। बहरहाल इतना निश्चित है कि इस प्रकार की स्थिति संघ-बद्धता के रूप में विश्रृंखलता की होगी। इस लिये मेरा नम्र सुझाव है कि निम्न लिखित मुद्दो पर विचार करके कोई निर्णय करें :—

(१) साधु मुनि के मूल महाव्रत को अक्षुण्ण रखकर उसकी तफसील में किस प्रकार का परिवर्तन किया जावे।

(२) पूरे देशव्यापी साधु संस्था के लिये एक-सा नियमोपनियम हो, प्रदेश की भिन्न स्थिति के लिहाज से कुछ परिवर्तन ऐच्छिक रख दिया जावे।

(३) साधु मुनिराज के नियमोपनियम अल्पतम मात्रा के हों यानी मिनिमम जो अपेक्षा किसी साधु मुनिराज से की जा सकती है उसका समावेश हो यह स्पष्ट है कि उससे अधिक पालनकर्ता उत्कृष्ट रहेंगे।

(४) गत कुछ वर्षों से साधु मुनिराजों में संस्था निर्माण करने की प्रवृत्ति चल रही है। संस्था चाहे धार्मिक हो, सामाजिक हो, साहित्य प्रकाशन की हो उसमें प्रवृत्ति का प्रश्न रहता ही है। संस्था के निर्माण के पश्चात् उसको सुचारू रूप से व्यवस्था करना पड़ती है। आवश्यक होने पर धन-संग्रह कराना पड़ता है संस्था-निर्माण तथा धन-संग्रह में साधु मुनि किस प्रकार का योग दे सकते हैं यह तय करना चाहिये।

निश्चित रूप में लेखक को इसमें कोई अधिक रुचि नहीं है कि परिवर्तन

कितना? कैसे किया जावे? इस पर अपना मत व्यक्त करें। इतना अवश्य चाहता है कि साधु जीवन में अन्तर तथा बाह्य की दूरी समाप्त हो जावे इसके अतिरिक्त नियमों के पीछे उसकी Spirit का पालन किया जावे केवल उसके कलेवर का पालन करके सन्तोष न करलें। लेखक ने देखा है कि यदि किसी साधु का कोई Favourit श्रावक दर्शनार्थ जाता है और साधु उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना चाहता है तो स्थानीय श्रावक को अवसर देख लेने की बात कहकर इशारे में समझा देता है, वह साधु यह मान लेता है कि मैंने सावद्य भाषा का प्रयोग नहीं किया जबकि पाप बंध यदि हो सकता है तो हमारी आंतरिक विचार-दशा पर निर्भर करता है। इसी प्रकार वैज्ञानिक उन्नति के इस युग में 'बिजली' सम्बन्धी कई प्रश्न उत्पन्न हो गये हैं यह प्रश्न आज लगभग १५ वर्ष से अनिर्णित दशा में है। यदि इस प्रश्न को निर्णय करने के सिलसिले में मूल प्रश्न तय कर लिया जावे कि Electricity सचित्त है या अचित्त, तो यह प्रश्न निर्णीत हो जावेगा। इसके निर्णय का एक तरीका यह हो सकता है कि शास्त्रीय संदर्भ में चर्चा हो। मुझे स्मरण है कि श्रद्धेय कवि श्री जी ने अमर भारती के एक अक में बहुत विस्तार से दलील सहित एक लेख लिखा था, मैं बड़ी प्रतीक्षा में था कि कोई विद्वान मुनि उक्त लेख की आलोचना करके उक्त विचार की अनुपादेयता सिद्ध करते। जहाँ तक मुझे स्मरण है 'जिनवाणी' के एक अंक में इस पर कुछ प्रकाश डाला गया किन्तु दोनों लेखों का तुलनात्मक वाचन करने पर यह स्पष्ट जाहिर होगा कि उक्त लेख उन मुद्दों का संतोष जनक निराकरण नहीं कर सका जो "अमरभारती" के लेख में प्रस्तुत किये गये थे, बहरहाल एक तरीका यह भी हो सकता है कि इस प्रश्न को देश के निष्पक्ष, लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिकों के सुपुर्द करके उनका मत लिया जावे, 'अन्ततोगत्वा' कभी तो इसका निराकरण करना होगा। सदियों तक अनिर्णित अवस्था में रहने से विश्रृंखलता बढ़ेगी ही। तीसरा एक दृष्टि-कोण यह हो सकता है कि इस मूल प्रश्न को एक तरफ रखकर ध्वनिवर्धक यन्त्र के प्रयोग को संयमित, नियमित, कर दिया जावे ताकि वर्षों की अनिश्चित स्थिति समाप्त हो तथा इस अनिर्णीत प्रश्न के कारण समाज में जो अशांति का वातावरण बन गया है उसका अन्त हो सके। यह निश्चित है कि हमारी साधु-संस्था को इस प्रकार के निर्णय लेते समय अपने विचारों का एकान्त आग्रह छोड़कर अनेकान्ती बनना होगा तभी इन प्रश्नों का निर्णय हो सकेगा।

आजकल एक प्रश्न विचारक लोगों के सन्मुख उपस्थित है। यदा कदा इस बात की चर्चा होती है कि साधु मुनिराज को धार्मिक तथा सामाजिक कार्य करना चाहिये ताकि उनके समय का सदुपयोग हो। इसमें सन्देह नहीं है

कि इस प्रकार के कार्यों में प्रवृत्ति तो होती है किन्तु विश्व में विशुद्ध धार्मिक कार्य जिसे कहा जा सकता हो उसमें भी प्रवृत्ति होती ही है। 'वास्तव में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति परस्पर अभिन्न हैं। यदि इस प्रकार के कार्यों को प्रवृत्ति कहा जा सकता हो तो वह सात्विक प्रवृत्ति है। किन्तु इस सिलसिले में जो प्रश्न उपस्थित होते हैं, वह महत्वपूर्ण है तथा विचारणीय हैं। आजकल यह सामान्य अनुभव की बात है कि धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं तक में पक्ष बनते हैं, नथा संस्थाओं के संचालन में विवाद उत्पन्न होते हैं, कही ऐसा न हो कि हमारे साधु मुनिराज संस्थाओं के कार्य संचालन में इस प्रकार की दुष्प्रवृत्ति में फस जावे। बहरहाल साधु मुनिराजों को इस प्रश्न के समस्त पहलुओं पर गहराई से विचार करके अपनी कार्य पद्धति तय करना चाहिये।

आशा है कि हमारी समाज की श्रमण संस्था व्यापक विशाल दृष्टिकोण से सोच विचार करके कोई मार्ग निश्चित करेगी ताकि यह संस्था विशृंखलता से सुरक्षित रह सके।

●

६

साधु-आचार में परिवर्तन का प्रश्न : सम्यग्दर्शन के प्रकाश में एक स्पष्टीकरण

गत जून मास में बम्बई में साधु आचार में परिवर्तन के प्रश्न पर एक परिसंवाद आयोजित किया गया था जिसमें हमारी जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान श्री दलसुखभाई ने कुछ विचार व्यक्त किये थे जिसमें उन्होंने जैन साधु के यम-नियमोंमें आमूल परिवर्तन करने का सुझाव दिया था। मैं स्वयं उन सुझावों से बहुत बड़ी सीमा तक असहमत था और दलसुख भाई की विद्वत्ता के प्रति आदर रखते हुए भी उन सुझावों को नापसन्द करता था। क्योंकि यदि उनके सुझावों को स्वीकार कर लिया जावे तो उसके परिणाम बहुत दूरगामी होंगे। मुझे यह भी भय है कि मेरे मित्र श्री दलसुखभाई ने उसके Pros और Cons पर पूरा विचार नहीं किया किन्तु फिरभी मैं जैन साधुओं के वर्तमान में प्रचलित नियमोपनियम में परिवर्तन चाहता था ताकि साधु धर्म की मूल महाव्रतों को अक्षुण्ण रखकर युगानुकूल तफसील की बातों में परिवर्तन होना चाहिए जैसा कि साधु मुनिराजों ने समय-समय पर स्वयं कर लिया है और उसके उदाहरण भी दिये थे किन्तु परिवर्तन किस प्रकार कैसा किया जावे इसका निर्णय स्वयं साधु संस्था को करना चाहिए ताकि सुनियोजित रीति से परिवर्तन हो। इसी आशय से प्रेरित होकर मैंने एक लेख 'साधु आचार में परिवर्तन का प्रश्न' शीर्षक से लिखा जो जैन प्रकाश हिन्दी के दिनाङ्क ८-१०-७० के अंक में प्रकाशित हुआ है। इस लेख में व्यक्त विचारों के सम्बन्ध में मेरे मित्र श्री रतनलालजी डोसी ने अपने पाक्षिक पत्र 'सम्यग् दर्शन' के दिनाङ्क ५-११-७० तथा दिनांक २०-११-७० के अंकों में विचार व्यक्त किये हैं और मेरे आग्रह पर उक्त दोनों अंकों को मेरे मित्र ने मुझे भेज देने की कृपा की है, मैं उनका अभारी हूँ।

मैंने अपने उपरोक्त लेख में भगवान महावीर के पश्चात् २५०० वर्ष में साधु आचार में जो परिवर्तन हुए हैं उनकी एक सूची अपनी जितनी अल्प माहिती है उसके अनुसार दी थी। मेरे मित्र ने सम्यग्दर्शन के दिनांक ५-११-७० के अंक में 'बे ढंगी बातें क्यों होती हैं ? शीर्षक के प्रारम्भ में ही व्यापक विचार व्यक्त किये हैं कि पढ़ लिख कर पंडित बन जाने से ही कोई निर्मल बुद्धि वाला और यथार्थ दृष्टा नहीं बन जाता। पढ़े लिखे भी कई बातें करते हैं कि जैसी एक सामान्य समझ वाला भी नहीं करता और इसके आगे मेरे सम्बध में परिचय दिया है यदि उपरोक्त General Remark मेरे सम्बन्ध में हो तो मुझे सहर्ष स्वीकार है। यह तो सच है कि मैं पढ़ा लिखा हूँ किन्तु न तो पंडित बन सका और न निर्मल बुद्धि है और न यथार्थ दृष्टा, इसी कारण मुझे स्वयं अपनी अल्पज्ञता का भान है। वास्तव में श्रीमद मानतुंगाचार्य के शब्दों में —

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम

मेरे मित्र की यह कृपा है कि उन्होंने मुझे हास्यास्पद अंकित नहीं किया। यह मैं बिना झिझक के स्वीकार कर सका हूँ कि मैं साधु मुनिराज के आचार में ऐसे परिवर्तन का हामी हूँ जिसके कारण मूल व्रतो में खामी न लाते हुए उसके तफसील की बातों में युगानुकूल परिवर्तन हो जावे ताकि शुद्ध आचार के नाम पर कही-कही जो ढोंग पनप रहा है,उसकी आवश्यकता न रहे। मेरी अल्प मति में साधु आचार मे नियम Minimum होना चाहिए। Maximum होने से कभी-कभी साधुओं को ढोंग का सहारा लेना पड़ता है कि उच्चतम नियमों का पालन नहीं कर सकते - इसमें सन्देह नहीं कि आज भी कई भाग्यवान ऐसे संत हैं कि जो उच्चतम नियमों का पालन अत्यन्त कड़ाई मे करते हैं। उनके आगे सबका मस्तक श्रद्धा से नत है। वह उत्कृष्ट कहलावेंगे किन्तु यह सबके बूते की बात नहीं है इस कारण नियम सामाज्य बनाये जाते हैं विशेषता केवल वही अपनाते हैं जो अपने को सूक्ष्म समझें। एक उदाहरण काफी होगा। सब कोई जानते हैं कि आज के इस युग में जबकि प्रत्येक नियम में आदमी Back door तलाश करके उल्लघन का रास्ता खोजने में संलग्न है और इस प्रकार स्वयं सन्तोष कर लेता है कि मैंने नियम के शब्दों का पालन कर लिया चाहे नियम की आत्मा Spirit का हनन हो गया हो। इस युग मे भी उपवास शुद्ध है, यदि हमारे धर्मोपदेष्टा तीर्थंकर अथवा आचार्य भगवान जैन कहलाने वाले व्यक्ति के लिए एक या अधिक उपवास अनिवार्य कर देते तो उपवास शुद्ध नहीं रहता। मनुष्य शक्ति-भर करें, यदि न बने तो न करें, पर ऐच्छिकता ही उसकी शुद्धता का कारण है। मेरे मित्र ने भी एक तालिका दी है कि विश्व में अनैतिक

तथा वैज्ञानिक आदेशों का उल्लंघन करके चोरी, बेईमानी, भ्रष्टाचार, सब चल रहा है। किन्तु इस लिहाज से नैतिकता या विधान में परिवर्तन कर दिया गया है? और उन्होंने मुझे निर्देश दिया है, कि इस परिवर्तन की पहल मैं करूँ? इस तालिका के प्रत्येक बिन्दु के सम्बन्ध में कुछ विचार व्यक्त करना मुश्किल है। इस लेखका कलेबर बहुत बढ़जावेगा, मैं सुयोग्य पाठक पर ही इस प्रश्न को छोड़ता हूँ कि इन दोनों प्रश्नों में संगति क्यों कर है? फिर भी इतना लिखना उचित समझता हूँ कि चोर की परिभाषा चाहे कानून में परिवर्तित न हुई हो। किन्तु युगानुकूल विचार प्रवाह ने नैतिकता के दृष्टिकोण से परिभाषा में परिवर्तन कर दिया है और आज वैयक्तिक सम्पत्ति के स्वामी (जिसके पास अत्यधिक हो) को समाज का चोर माना जाने लगा है। चाहे हम उसको भाग्यवान पुन्यवान मानते रहे। किन्तु अपनी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति इकट्ठी करने वाला समाज की नजर में अधिक प्रतिष्ठा का पात्र नहीं रहा है। जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है इस विचार में तीव्रता आ रही है। और ऐसे समाज मे चोर के प्रति घृणा फैलती जा रही है। जागृत समाज में परिवर्तन की लहर के वैचारिक परिवर्तन पहले होता है। कानून तो उस पर आगे जाकर 'मुहर लगाता है? कानून निर्माण करने वाली संस्था या शासन क्रान्तिकारी नही होता। वह तो समाज में व्याप्त वैचारिक मंथन को केवल कानूनी जामा पहनाता है।

मेरे मित्र ने ध्वनिवर्धक यन्त्र के प्रश्न का भी जिक्र किया है कि प्रायश्चित के साथ दी हुई छूट ने तत्काल ही कितना विशाल रूप ले लिया था इसके साथ अन्य सुविधाएं भी जुड़ गई। इस कारण उन्हें भय है कि साधु आचार में सूक्ष्मतम परिवर्तन भी भविष्य में सर्वनाश का कारण हो जावेगा। मैं मेरे मित्र की आशंका को बिल्कुल निमूंल नहीं मानता इसलिये पूरी सावधानी के साथ निर्णय करना चाहिये। ध्वनिवर्धक यन्त्र का उपयोग मूल रूप से उचित है या नहीं? इस पर मैं विस्तार से निवेदन करना नहीं चाहता क्योंकि यहाँ पर यह एक उदाहरण मात्र है, किन्तु इतना अवश्य निवेदन करना चाहता हूँ कि उस सम्बन्धी प्रस्ताव अत्यन्त अस्पष्ट था, तथा यदि Legalview से देखे तो उसमें कई दोष थे हालांकि मैं यह मानता हूं कि प्रस्ताव अस्पष्ट तथा सदोष होते हुए भी यदि सबने सर्वानुमति से उसे पारित किया था तो एक सरल हृदयसाधु के नाते पालनकरना चाहिये किन्तु प्रस्ताव तथा कार्यवाही कोकानूनी दृष्टिकोणसे देखने,उसपर टीका टिप्पणी होने का कार्यक्षेत्र तो स्थानकवासी समाज के दोनों पक्षों की ओर से हुआ है? मुझे इस संदर्भ में ज्ञात है कि अधिकार के प्रश्न पर एक शब्द की खींचतान कर कैसे अर्थ लगाये गये थे। मेरे मत में

शब्द तो जड़ वस्तु है, उसकी आत्मा उस भावना में निहित है जिसको दृष्टि-गत रखकर हमने कोई बात तय की। आज तो समाज के सम्मुख एक प्रश्न है वह यह कि विद्युत में अग्नि है? मैंने इस सम्बन्ध में पक्ष विपक्ष में दो लेख पढ़े हैं। मैं चूंकि अपने जीवन काल में विज्ञान का विद्यार्थी नहीं रहा हूँ। शास्त्रीय अध्ययन भी गहराई का नहीं इन दोनों लेखों में कुछ शास्त्रीय आधार पर तथा कुछ विज्ञान के आधार पर तर्क थे, यह कहना मुश्किल है कि पक्ष या विपक्ष में से कौन से तर्क अधिक समीचीन है। मेरे जैसे अल्पज्ञ के लिये तो यह स्थिति है जैसी कि संस्कृत के एक कवि के मुताबिक -

तर्कोऽप्रतिष्ठः स्मृतयश्च भिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वचःप्रमाणम् ।।

यदि यह मौलिक प्रश्न तय हो जाता है तो इस सम्बन्ध में सब प्रश्न गौण है, मैंने एक दफा यह सुझाव दिया था कि इस मौलिक प्रश्न का निर्णय किसी वैज्ञानिक (ख्यातनामा, निष्पक्ष) से कराना चाहिये। यह पृथक् बात है कि वैज्ञानिक के निर्णय (यदि यह नकारात्मक हो) के पश्चात् भी साधु मुनि-राज यह तय करें कि हमको यह सुविधा नहीं लेनी चाहिये, मैं व्यक्तिगत रूप से इस बात का हामी हूँ, कि चाहे उपरोक्त प्रश्न विद्युत के सचित्त या अचित्त होने के सम्बन्ध मे का निर्णय यदि अचितता के पक्ष में हो तब भी केवल साधु मुनिराज को नही हम श्रावकों को भी यथा सम्भव विद्युत चालित वस्तुओं का उपयोग यथासम्भव कम करना चाहिये। साधु जीवन तो कठोर श्रम साध्य है, उनकी सुख-सुविधा के लिये विद्युत का प्रयोग कम से कम ही करना चाहिये, किन्तु आज के इस मशीन युग मे हम सब बुरी तरह मशीन के दास बनते जा रहे हैं, यह हमारी भारतीय संस्कृति पर आघात है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम मशीन का प्रयोग सर्वथा न करें किन्तु प्रयोग में विवेक की आवश्यकता तो है ही। अन्यथा हम मशीन के ऐसे दास हो जायें, कि शायद हाथ पैर अनुपयोगी हो जावें, मुझे इस समय उर्दू की पंक्ति स्मरण आती है—

भूल बैठा है युरुप आसमानी बाप को।
बस खुदा समझा है उसने बर्फ को और भाप को।
बर्फ गिर जावेगी एक दिन और उड़ जायेगी भाप।
तुम सम्भाले रखना अपने आपको ।।

आशा है कि हम श्रावक लोग जो केवल मुनिराज को पाठ पढ़ाने का उपक्रम करते हैं इस दिशा में भी कुछ सोचेंगे।

मेरे मित्र ने लेख में दी हुई तालिका के सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त

किये हैं और मुझे प्रसन्नता है कि उस तालिका की कुछ बातों को ठीक माना है और यह स्वीकार किया है कि शक्ति के अभाव के कारण इस प्रकार का परिवर्तन कर लिया गया है। अथवा अमुक-अमुक बुराइयां आ गई है। इस स्थान पर आकर मैं तथा मेरे मित्र एकमत हैं। मेरे मित्र भी चाहते हैं कि इन बुराइयों को कम कराया जावे मैंने अपने लेख मे स्पष्ट किया है कि जो परिवर्तन समय-समय पर कर दिये हैं और उन परिवर्तन बुराइयों के बावजूद हम उन साधु मुनिराजों को शुद्धाचारी मानकर वन्दन करते चले आ रहे हैं तो मैं नम्रता पूर्वक पूछना चाहता हूं कि उनके कौल के मुताविक क्या यह असंयति पूजा थी या पासत्था का वन्दन ? मैं जो चाहता हूँ वह यह है कि यदि परिवर्तन करना है तो साधु संस्था मिलकर तय करे ताकि सुनियोजित परिवर्तन हो अन्यथा व्यक्तिवादी परिवर्तन होंगे तथा उनमें एकसूत्रता नहीं रहेगी।

समाज का एक विचारक वर्ग यह भी चाहता है कि इस प्रकार परिवर्तन के लिये किसी चर्चा विचारणा की आवश्यकता नहीं है क्योंकि साधु समुदाय का मानस इस दिशा में स्पष्ट नही है। पूर्व मैं साधु समाज ने स्वयं परिवर्तन कर लिये हैं और समाज ने उसको अप्रत्यक्ष रूप से मान्यता देना प्रारम्भ कर दिया या दूसरे शब्दों में उन पर आपत्ति नही की उन्हें हजम कर लिया, सब कोई जानते हैं कि हैदराबाद में मुद्रित ३२ शास्त्रों के पूर्व स्था० समाज ने शास्त्रों के मुद्रण का कार्य हाथ में नहीं लिया। स्वर्गीय पूज्य अमोलक ऋषि जी ने तत्कालिक विरोध तथा निंदा की परवाह किए बिना शास्त्रों के मुद्रण के कार्य की प्रेरणा दी उसके पश्चात् साधु नियमों का कड़ाई से पालन करने वाले मुनिराजों ने भी मुद्रण कार्य में सहयोग प्रदान किया और अब तो मुद्रण कार्य में विद्युत का प्रयोग भी प्रारम्भ हो गया है, तात्पर्य यह है कि साधु समाज ने इसे अपना लिया उसी प्रकार युगानुकूल परिवर्तन स्वयं प्रेरित होते जायेंगे। और आगामी साधु समाज अपने पूज्य साधु मुनिराज (पूर्वज) का अनुकरण करता रहेगा।

महाजनो येन गतः स पन्थाः–

के मुताबिक यह परम्परा आगे बढ़ती रहेगी। किन्तु इस स्वयं प्रेरित परिवर्तन में एक खतरा है और वह है कि समाज में एकसूत्रता नहीं रह जावेगी इसलिए मेरा साधु समुदाय से निवेदन है कि वह देश व काल स्वयं की शक्ति को ध्यान में रखकर परस्पर चर्चा करके कोई निर्णय करे।

इस निवेदन का तात्पर्य केवल स्थिति का विशद रूप से स्पष्टीकरण करना है इसका उद्देश्य किसी वादविवाद में उतरना नहीं है। मैं चाहता हूं कि समाज इस दिशा में गम्भीरता पूर्वक सोचकर यथोचित निर्णय करे। चूंकि मैंने अपनी अल्प बुद्धि से स्थिति को काफी स्पष्ट कर दिया इसलिये मैंने यह सोचा है कि इस प्रश्न को साधु समुदाय के सदसद्विवेक पर छोड़ दूं और आगे कलम को विश्राम दे दूं।

●

७

साधु-संस्था में "शिथिलाचार" का प्रश्न

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने चतुर्विध संघ की स्थापना के साथ ही संघ के महत्वपूर्ण अंग श्रमण-श्रमणी के आचार का विस्तारपूर्वक विवेचन किया था। जैन साहित्य की प्राचीनतम कृति "आचारांग सूत्र" के प्रथम श्रुत-स्कन्ध तथा इसके पश्चात् की रचना "दशवैकालिक सूत्र" में आचार का विस्तारपूर्वक विवेचन मौजूद है। इसी प्रकार जैन साहित्य के अन्य शास्त्र तथा ग्रन्थों में साधुओं के कल्प, अकल्प तथा उल्लंघन के दंड का प्रावधान भी किया गया है। वास्तव में सारे जैन-साहित्य में साधु-समाज के आचार पर काफी बल दिया गया है कि केवल भाषा तथा व्याकरण की विद्वत्ता से आत्मा का निस्तार नहीं हो सकता। आत्मा का निस्तार "आचार' से होगा।

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।
वायावीरियमित्तेण, समासासेंति अप्पयं॥

उपरोक्त गाथा से "आचार" का महत्व प्रगट है। जब साधु समुदाय में आचार के प्रति शिथिलता आ गई, वह चैत्यवास करने लग गये, मन्दिर-मूर्ति ही केवल उनका ध्येय रह गया, तो जहाँ प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने उस पर अपनी कलम चलाई, वहाँ महान् क्रान्तिकारी लोकाशाह ने अपनी कृति से शिथिलाचार के विरुद्ध "जिहाद" प्रारम्भ किया। श्री लोंकाशाह की क्रान्ति केवल शिथिलाचार के विरुद्ध थी। इस पर से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्थानकवासी समाज में आचार शुद्धि मुख्य प्रश्न रहा। एक बार पुन: भगवान महावीर द्वारा निरूपित आचार-पक्ष को अत्यधिक बल मिलने लगा। भगवान महावीर द्वारा निर्धारित समाचारी के सम्बन्ध में काल के प्रभाव से समय-समय पर "उपप्रश्न" उत्पन्न होते गये और स्थानकवासी जैन-परम्परा के आचार्यों ने उनकी व्याख्याएँ कीं। सम्भवत: इन व्याख्याओं के सम्बन्ध में मत-भेद ही स्था० समाज में विभिन्न सम्प्रदायों के अस्तित्व का कारणभूत रहा। वृत्ति यह कार्य करती रही कि अहिंसा के सम्बन्ध में जो व्याख्या सूक्ष्मतम की

जावे जिससे साधु-समाज उत्कृष्ट चारित्र पालन करें, वही उचित मानी जावे। जहाँ इस वृत्ति ने साधु-समाज से आचार-शुद्धता के भाव को दृढ़ किया वहीं मानव-समाज के स्वभाव अनुसार अपने को अन्य से श्रेष्ठतम की भावना को जाग्रत किया। इस आचार भिन्नता को लेकर साधु-समाज में प्रादेशिक भेद भी निर्माण हो गये। एक प्रदेश के साधु-समाज से दूसरे के साधु-समाज का आचार कुछ भिन्न रहा। इसी कारण साधु-समाज में परस्पर सम्भोग (सम्बन्ध) का प्रश्न उत्पन्न हो गया। एक सम्प्रदाय, एक प्रदेश के साधु-समाज का अन्य सम्प्रदाय तथा अन्य प्रदेश के साधु-समाज से पृथक् सम्भोग (सम्बन्ध) रखने लगा। स्थिति यहाँ तक हो गई कि विभिन्न सम्प्रदायों, विभिन्न प्रदेशों के साधु एक स्थान में ठहरने, एक पाट पर बैठकर व्याख्यान देने मे भी आचार अशुद्धि मानने लगे। एक सम्प्रदाय के साधु दूसरी सम्प्रदाय के ज्येष्ठ साधु अथवा स्थविर तक को सुख-शान्ति पूछने, वंदन-व्यवहार करने मे अनुचितता मानने लगे। इसी प्रकार से इस प्रदेश के साधु दूसरे प्रदेश के ज्येष्ठ अथवा स्थविर साधु को वंदना करना, सुख शांति पूछना अनुचित मानने लगे। आचार विभिन्नता के कारण वह भावना काम करने लगी कि यदि अपने से भिन्न आचार-पालन करता है उससे जो इस प्रकार का व्यवहार सम्भोग (सम्बन्ध) रहे तो चूँकि वह साधु हमारी मान्यता, परम्परा के मुताबिक उत्कृष्ट साधु नहीं है, हमें दोष का भागी होना पड़ेगा। पापभोक्ता की भ्रमपूर्ण भावना अथवा अहंन्यता—जो भी हो इसके लिए जिम्मेदार रही और इसके कारण स्थिति भयानक हो गई। वह ख्याल होने लगा कि एक ही तीर्थंकर के अनुयायी, अहिंसा जैसे महान् सिद्धान्त के पालन, स्याद्वाद के उपदेशकर्त्ता साधु मुनिराज आपस में इतने बेगाने है। जिस प्रकार एक मांद (गुफा) में दो सिंह नही रह सकते उसी प्रकार एक स्थान पर दो साधु-विभिन्न सम्प्रदाय या प्रदेश के नहीं रह सकते।

इस अन्धकारपूर्ण युग में सूर्य के प्रकाश ने प्रवेश किया। समाज के चिन्तकों के मन मे इस स्थिति के प्रति असन्तोष जाग्रत हुआ। सन् १९३२ ई० में अजमेर मे अखिल भारतीय श्वे० जैन कान्फरेंस के अधिवेशन के साथ-साथ बृहत् साधु-सम्मेलन का आयोजन किया गया। सन् १९३२ ई० से सन् १९५१ के बीच वर्षों में जो भूमिका बनी उसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९५२ ई० में गुजरात सौराष्ट्र को छोड़कर समस्त सम्प्रदायों ने अपने को श्रमण संघ में विलीन कर दिया। इसके एक वर्ष के पश्चात् ही सन् १९५३ में सोजत मे पुनः मंत्री मुनिवरों की एक सभा आयोजित की गई। एक आचार्य, एक समाचारी, एक विधान का निर्माण हो गया। स्थानकवासी जैन-समाज की

छाती गर्व से फूल गई। जो कार्य जैन धर्मान्तरगत किसी समाज ने आज तक नहीं किया वह स्थानकवासी साधु-समाज ने कर दिया। कुछ लोगों ने यह निरूपण किया कि भारतीय स्वतन्त्रता क्रान्ति के पश्चात् सरदार पटेल के सत् प्रयत्न से जिस प्रकार भारतीय नरेन्द्रों ने अपनी सार्वभौम शक्ति भारतीय संघ में विलीन कर दी उसी भावना से प्रेरित होकर साधु-समुदाय के विभिन्न पूज्य आचार्यों ने अपने अधिकार श्रमण संघ को समर्पित कर दिये हैं। सन् १९५२ के उक्त सम्मेलन में ११ सम्भोग अनिवार्य तथा १२ वाँ सम्भोग (आहार पानी) ऐच्छिक रखा गया। श्रमण संघीय व्यवस्था कई वर्ष तक ठीक चलती रही किन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् ही श्रमण संघ में मत-भेदों का निर्माण हो गया; शिथिलाचार, ध्वनिवर्धकयन्त्र तथा आचार्य श्री के अधिकार के प्रश्नों ने श्रमण संघीय स्वच्छ आकाश को तिमिराच्छन्न कर दिया।

श्रमण संघ के आचार्य श्री तथा उपाचार्य श्री के अधिकार क्या हों? आचार्य श्री तथा उपाचार्य श्री के अधिकार समवर्ती हो? अथवा आचार्य श्री केवल मात्र एक सम्मान का पद सुशोभित करते रहे और सारे अधिकार उपाचार्य श्री में निहित हों? इस प्रकार के प्रश्न श्रमण संघीय मुनिराजों के सम्मुख उपस्थित होने पर जैसी की परम्परा है, श्रमण संघीय आचार-विचार से हीन साधुओं ने अवसरवादिता से काम लेकर कभी एक की शरण ग्रहण की, कभी दूसरे की। परिणाम यह हुआ कि साधु-समुदाय में शिथिलाचार को प्रश्रय मिलता रहा। एक वर्ग के समक्ष शिथिलाचार में साधु की अकल्पनीय छोटी-छोटी बातों का भी समावेश हो गया जबकि दूसरे वर्ग के निकट शिथिलाचार से तात्पर्य यह था कि साधु-मुनिराज के मूल गुणों में कोई अतिक्रमण न हो। प्रथम वर्ग के निकट जहाँ चतुर्थ व्रत भंग के जघन्य दुष्कृत्य शिथिलाचार में था तो उसी के साथ ध्वनिवर्धक यन्त्र का उपयोग भी शिथिलाचार था। इस लेख में आचार्य के अधिकार के प्रश्न की चर्चा अनावश्यक है। स्वर्गीय उपाचार्य श्री के श्रमण संघ से सम्बन्ध-विच्छेद का मुख्य कारण शिथिलाचार का प्रश्रय कहा जाता है। किन्तु यह तो एक आनुषंगिक बात थी, मुख्य प्रश्न अधिकार का था। अधिकार के प्रश्न क्यों उत्पन्न हुए यह एक स्वतन्त्र लेख का विषय है। यहाँ पर तो मोटे तौर पर "आचार" का प्रश्न चर्चनीय है।

भगवान महावीर ने लगभग २५०० वर्ष पूर्व साधु-समाज द्वारा पालनीय नियमों तथा दैनंदिन व्यवहार की सूक्ष्मतम व्याख्या कर दी थी। इस लम्बे काल में समय-समय पर साधु-समाज ने अपने आचार में परिवर्तन किये। कौन नहीं जानता कि श्रीमद् उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्ययन की बारहवीं गाथा में श्रमण वर्ग को दिन के तीसरे प्रहर में केवल एक समय भोजन प्राप्ति के

लिए जाने का प्रावधान है, उसके पश्चात् कालप्रभाव से दोनों समय आहार प्राप्ति के लिए जाने की पद्धति हो गई। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि परिवर्तन अनुचित हुआ। तात्पर्य केवल यह है कि साधु समाचारी में स्वयं साधु-समाज ने इस लम्बे जमाने में कई परिवर्तन किये हैं। हमारे आचार विचार पर देश, काल, क्षेत्र आदि का प्रभाव पड़ता ही है। इस कारण उसमें परिवर्तन अवश्यं-भावी है। साधु के मूल गुण अपरिवर्तनीय है। किन्तु उनकी व्याख्या, कार्यक्षेत्र (Sphere) परिवर्तित होता रहता है। समय के प्रभाव से अहिंसा का क्षेत्र भी विस्तृत, संकुचित होता रहता है। एक समय था जब साधु मुनिराज लोकोपयोगी प्रवृत्तियों में रस नहीं लेते थे, उसमें एकान्त धर्म नहीं था, सूक्ष्म हिंसा लगती थी। समय के प्रभाव से आज कई मुनिराज इस प्रकार की प्रवृत्तियो मे रस लेते हैं। शास्त्र-मुद्रण का प्रश्न हमारे सामने है। उस समय उसका काफी विरोध हुआ। आज सब साधु मुनिराज मुद्रित शास्त्रों को उपयोग मे लाते हैं। आज आवश्यकता यह है कि श्रमण संघ शास्त्रीय विधान में देश,काल, क्षेत्र आदि को ध्यान में रख कर साधु-समाज के लिये एक "आचार-संहिता" का निर्माण करे। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आचार की मर्यादा अल्प की जाना चाहिये कि साधु के लिए कम-से-कम इतनी मर्यादा अतीव अनिवार्य है कि फिर उसके पालन हेतु संघ को पूरा-पूरा नियंत्रण रखना चाहिये। अधिकतम मर्यादा बाँधने का परिणाम यह होता है कि अधिकतम मर्यादा जो साधु पालन करने में अशक्तता अनुभव करते है, उनके सामने दो ही मार्ग रहते हैं। या तो वह स्पष्ट रूप से अपनी कमजोरी को स्वीकार करें या ढोंग करे और छिपी रीति से उसका उल्लंघन करें। अभी तक ढोंग अधिक पसन्द किया जाता रहा है इसलिए यह आवश्यक है कि मर्यादा अल्प हो उससे अधिक जो मुनिराज पालन करेंगे वह श्रेष्ठ होंगे और उनकी आत्मा का कल्याण होगा इसमें सन्देह नहीं।

स्था० जैन समाज का आश्रय केवल साधु समुदाय पर है इस कारण साधु समाज के प्रश्न को उपेक्षित Ignore नही किया जा सकता। स्था० जैन समाज अधिकारी मुनियों के प्रस्तावित सम्मेलन की ओर आंख लगाकर आशा-भरी नजरों से देख रहा है। इस अवसर पर यह आशा करना अनुचित न होगा कि अधिकारी मुनिवर "आचार" तथा उसके सम्बन्धित प्रश्नों के बारे मे स्पष्ट तथा व्यावहारिक निर्णय करेंगे कि जिससे श्रमण संघ के सम्मुख उत्पन्न ज्वलन्त प्रश्न-शिथिलाचार का उचित हल हो सकेगा और ऐसा वातावरण निर्माण हो जावेगा कि हमारा साधु-समाज अपने आचार-विचार के प्रति अधिक जाग्रत होकर अन्य साधुओं के दोष एवं उनकी कमियों की अधिक

चिन्ता नहीं करेगा। वास्तव में साधुता केवल बाहरी क्रिया-काण्ड पर आधारित नहीं है अपितु हृदयगत भावनाओं एवं सरलता आदि मानवीय गुणों पर अधिक आधारित है। उपरोक्त स्थिति निर्माण होने पर ही श्रमण संघ "यावच्चन्द्र दिवाकरो" कायम रह सकेगा। जो हमारे रूठे हुए मुनिराज हैं वह तथा जो अभी तक श्रमण संघ में सम्मिलित नहीं हुए हैं, वे सब मुनिराज श्रमण संघ में सम्मिलित हो सकेंगे। हमारे समाज के विचारक, चिंतक प्रभावशाली मुनिराजों का यह कर्त्तव्य है कि साधु-समाज में आचार के प्रति शिथिलता न आने पावे। साधु समाज अपनी कमजोरी के प्रति सदैव जाग्रत रहे तब ही ऐसा शुभ दिन आ सकता है कि जब हम भारतीय संस्कृति के ग्रन्थ 'महाभारत' के निम्न श्लोक :—

न राज्यं न राज्यासीनं, न दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेव प्रजा सर्वे रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

के अनुसार यह दावा कर सके कि हमारे साधु-समाज में प्रत्येक साधु अपने आचार के प्रति सदैव जाग्रत है, इस कारण "दण्ड-व्यवस्था" अथवा "दण्ड प्रदाता" की आवश्यकता नहीं रह गई है। काश ! यह स्वप्न साकार हो सके।

८

प्रवृत्ति-निवृत्ति का प्रश्न

जैन आचार का मूलाधार हिन्दी वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' से प्रारम्भ होने वाले शब्द (१) अहिंसा (२) अपरिग्रह (३) अनेकान्त सिद्धान्त पर है। यदि उपर्युक्त सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन किया जावे तो जैन आचार का मूलाधार केवल 'अहिंसा' पर ही है, ऐसा मत रहेगा। यह मत सत्य भी है। परिग्रह सहित होने में हिंसा तो होती ही है। आर्थिक प्रश्नों के विशेषज्ञ यह भली-भाँति जानते हैं कि अर्थसंचय अन्य का शोषण किये बिना नही हो सकता। इसी कारण विद्वानों ने भी परिग्रह को भी हिंसा बताया है। इसी प्रकार बौद्धिक अहिंसा हमारा अनेकान्त-सिद्धान्त है। विश्व की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। यदि कोई व्यक्ति विशिष्ट वस्तुओं के एक दृष्टिकोण को लेकर कोई मत स्थापित करता है, दूसरा व्यक्ति दूसरे दृष्टिकोण को लेकर उससे भिन्न मत स्थापित करता है तो दोनों के प्रति सहिष्णुता का पाठ अनेकान्त-सिद्धान्त पढ़ाता है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि जिसके द्वारा जीवन का प्रत्येक क्षेत्र उसमें सम्मिलित है। जैन दर्शन ने 'अहिंसा की सूक्ष्मतम व्याख्या की है। जैन दर्शन ने केवल प्राणीमात्र के प्रति मैत्री, करुणा, दया के भावों का सचार नही किया, अपितु जिनमें 'जीवन' की कल्पना भी हो सकती है, उनको भी पीड़ा न पहुँचाने का विधान किया। जैन दर्शन ने जगत के चैतन्य प्राणियों को इन्द्रियो की संख्या की दृष्टि से ५ भागों मे विभाजित किया और एकेन्द्रिय प्राणियो को भी पीड़ा न पहुँचाने का नियम बनाया। जिन प्राणियो को केवल स्पर्शनेन्द्रिय है;जैसे पृथ्वी आदि उनको भी पीड़ा न पहुँचाने का नियम कितना कठोर है यह सहज में ही अनुमान किया जा सकता। प्राणी शास्त्र के सिलसिले में जैन दर्शन ने छैः प्रकार काया का विधान किया है। (१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) तेजस्काय (४) वायुकाय

(५) वनस्पतिकाय (६) त्रसकाय । इसमें क्रमांक १ से लेकर ५ तक स्थावर प्राणी कहे जाते है। चाहे एकेन्द्रिय के नाम पर हों, चाहे स्थावर प्राणी के नाम पर हों, इनको पीड़ा न पहुँचाने का नियम अत्यन्त कष्टप्रद है। यह तर्क आसानी से किया जा सकता है कि पृथ्वी, अप-जल, तेज-अग्नि, वायु, वनस्पति का उपभोग किये बिना मनुष्य किस प्रकार जीवित रह सकेगा। मनुष्य का जीवन ही उपरोक्त बातों पर आधारित है। यदि मनुष्य समस्त प्रवृत्तियों को तिलांजलि देकर एक स्थान पर बैठ जावे तब भी श्वासोच्छवास के कारण वायुकाय के जीवों का नाश होगा। जैन आचारशास्त्र के प्रणेता ने सब प्रकार की जीवहिंसा से विरक्त रहने के लिए साधु समाज को आदेश दिया, आंशिक रूप से जीवहिंसा का त्याग करने के लिए गृहस्थ को आदेश दिया। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या साधु भी उपरोक्त हिंसा से पूर्ण रूप से विरक्त रह सकता है? निश्चय नय की दृष्टि से उत्तर 'नकारात्मक' ही होगा। जैन आचार की दृष्टि से साधु धर्म निवृत्ति मय माना जाता है। वह जगत की समस्त प्रवृत्तियों से अलग होकर जैन आचार शास्त्र के अनुसार अपना जीवन-यापन करते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आचार-शास्त्र के नियमों का पालन करने पर उन्हें आंशिक रूप से प्रवृत्तिमय नहीं होना पड़ता? यदि हम सूक्ष्मरीति से विचार करें तो हमारा उत्तर 'हकारात्मक' ही होगा। जहां तक मैं जैन आचार-शास्त्र प्रणेताओं के मन्तव्य को अपनी अल्पबुद्धि से समझ सका हूं वह यह है कि साधु अपना जीवन व्यतीत करते समय अत्यन्त जागरूक रहकर जीवन-यापन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रवृति-रत रह सकता है। साधु की अनिवार्य आवश्यकताएँ भी अल्पतम हों इसमें सन्देह नहीं। मैंने इससे पूर्व यह उल्लेख किया है कि साधु के आचार का वर्णन जैन साहित्य के प्राचीन शास्त्र 'आचारांग सूत्र' तथा उसके पश्चात् की एक रचना 'दशवैकालिक सूत्र, में उपलब्ध है।

'दशवैकालिक सूत्र' में ग्रन्थकार ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि:—

"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बन्धई।।

साधु-जीवन के प्रत्येक कार्य में 'यत्न' अनिवार्य बताया गया है। यत्न-पूर्वक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के कार्य करने पर पाप का भागी नहीं होना पड़ेगा। दैनिक प्रायश्चित उस अनिवार्य प्रवृत्तिमय दोष का शमन कर देगा। इस विवेक का मार्गदर्शन यदि जीवन में अपने सम्मुख रखा जाये तो उपरोक्त प्रश्नों का समाधान हो सकता है। साधु जीवन की बात को एक ओर

रख दें तो भी गृहस्थ जीवन में भी उक्त विवेक आवश्यक है। आज के युग में गृहस्थ-जीवन में भी यत्ना व विवेक की कमी हो गई है। आधुनिक विज्ञान साधनों से युक्त मनुष्य के जीवन में 'शीघ्रता' उचित है, उसका उपयोग भी है। किन्तु अनावश्यक 'शीघ्रता' अनुचित है। 'शीघ्रता' की भी सीमा है। यदि आप किसी बिजली तथा बिजली द्वारा संचालित पंखायुक्त स्थान में बैठे हैं और आपको वहाँ से जाने की आवश्यकता हो गई तो क्या आप यह ध्यान रखेंगे कि बिजली का प्रकाश या पंखा द्वारा वायु-संचरण बन्द होने के लिए Switch off कर दें। इसी प्रकार Water pipe द्वारा पानी का अकारण दुरुपयोग रोका जाना चाहिए। गृहस्थ का आठवां अणुव्रत 'अनर्थ दण्ड विरमण' बड़ा महत्वपूर्ण है यदि हम उसके सम्बन्ध में जागरूक रहें तो द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार से लाभदायी होगा, तथा राष्ट्रीय हानि को बचा सकेंगे।

जैन साधु का जीवन साधनामय है, इसमें सन्देह नहीं। प्रश्न यह है कि क्या जैन साधु से केवल अपनी आत्म-साधना की अपेक्षा की जानी चाहिए या उनसे जगत को सन्मार्ग बतलाने तथा उसके द्वारा पर कल्याण की अपेक्षा भी की जा सकती है ? यदि हम अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन पर दृष्टिपात करें तो यह प्रगट होगा कि उन्होंने साधनामय जीवन व्यतीत करके 'केवल लाभ' किया। उसके पश्चात् जगत् के कल्याण हेतु उपदेश देना प्रारम्भ किया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान महावीर ने जैन साधु से आत्म साधना के साथ-साथ पर-कल्याण के कार्य करने की भी अपेक्षा की थी। यह सत्य है कि साधु केवल प्रचारक नहीं है अपितु अपनी साधना में अनुभूत मार्ग को कल्याण के लिए प्रकाश में लाने वाला एक विशिष्ट साधक है। इस कारण उसके जीवन में प्राथमिकता आत्म-साधना की है। उसके पश्चात पर-कल्याण से उपदेश का कार्य है। ऐसी दशा में पर-कल्याण के कार्यों में भी साधु को उपरोक्त विवेक की आवश्यकता है। इस विवेक के अभाव के कारण ही उपदेष्टाओं की वाणी का प्रभाव कम होता जा रहा है। यह एक निश्चित तथ्य है कि यदि उपदेष्टा का जीवन उपदेश के अनुकूल है, उसकी वाणी तथा कार्य में साम्यता है, तो ही उपदेश का प्रभाव हो सकेगा। इस तथ्य के प्रकाश में हमारे साधु मुनिराज को भी उपदेश में विवेक रखना पड़ेगा। इसी प्रकार साहित्य प्रकाशन का प्रश्न है। आज वही साधु मुनिराज की ओर से रचित पुस्तक उसकी उपयोगिता के विचार के बगैर प्रकाशित कराई जाती है। जिसमें समाज की शक्ति, द्रव्य अनावश्यक रूप से व्यय होता है। व्यवस्था यह होना चाहिए कि कोई रचना तैयार होने पर समाज द्वारा नियुक्त साहित्य समिति के पास भेज दी जावें। साहित्य-समिति में ऐसे विद्वान मुनिराज तथा

श्रावक हों व जो कई विषयों के अधिकारी कहे जा सकें। उस समिति के द्वारा पर्यालोचन के पश्चात् उस रचना का प्रकाशन कराया जावे। दूसरा प्रश्न संस्थाओं के निर्माण का है। लोकोपयोगी कार्यों के लिए संस्थाओं अर्थात् एक से अधिक संस्था का निर्माण समाज की शक्ति तथा द्रव्य का दुरुपयोग है। इस कारण संस्थाओं के निर्माण के लिए भी विवेक की आवश्यकता है। योजनाबद्ध रीति से संस्था का निर्माण होने से समाज की शक्ति केन्द्रित होगी। जिन लोकोपयोगी कार्यों के लिए अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेंस सक्षम है उन कार्यों के लिए पृथक संस्था का निर्माण करने से कान्फ्रेंस शक्तिहीन होगी। यह पहलू भी विचारयोग्य है। आशा है कि फरवरी में आयोजित मुनि सम्मेलन इन प्रश्नों पर भी कोई स्पष्ट नीति निर्धारित करेगा। वास्तव में उपरोक्त विषयों के सम्बन्ध में हमारा श्रद्धालु श्रावकवर्ग भी विवेक रखे तब उपरोक्त रीति तथा कार्य हो सकेगा। इस दिशा में हमारी कान्फरेन्स को भी मार्गदर्शन करना चाहिये।

६

साधु-संस्था और प्रजातन्त्र

कहा जाता है कि भारतवर्ष में भगवान महावीर तथा महात्मा बुद्ध के युग में (आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व) मगध (वर्तमान बिहार प्रदेश) में राज्य का संचालन प्रजातन्त्रीय पद्धति से हुआ करता था। कविवर श्री दिनकर जी ने वैशाली (भगवान महावीर का जन्म स्थान) को प्रजातन्त्र की 'माता' कहा है। उस समय का राजनीतिक इतिहास इतना विस्तृत रूप से उपलब्ध नहीं है। यदि उस समय का विस्तृत राजनीतिक इतिहास उपलब्ध होता तो यह पता लग सकता था कि उस समय नियन्त्रित प्रजातन्त्र था या पूर्णरूपेण गणसत्तात्मक प्रणाली विद्यमान थी। प्रजातन्त्र की अनिवार्य बुराई है Invoidable evil चुनाव। चुनाव किस प्रकार कराये जाते थे चुनाव में उत्पन्न बुराइयों का किस प्रकार मुकाबला किया जाता था चुनाव शुद्धरूप हो तथा उपयुक्त व्यक्ति ही चुनाव में सफलता प्राप्त करे। मतदाता प्रत्येक बालिक व्यक्ति हो सकता था, या मतदाता होने के लिए आर्थिक,शैक्षणिक, अथवा अन्य प्रतिबन्ध विद्यमान है। आदि प्रश्नों का उत्तर उस समय का उपलब्ध साहित्य नहीं देता, किन्तु इतना निश्चित है कि राजनीति के अतिरिक्त सामाजिक अथवा धार्मिक क्षेत्र में प्रजातन्त्रीय पद्धति प्रचलन का कोई संकेत नहीं मिलता। वर्तमान में उपलब्ध शास्त्रों में इस प्रकार कोई उल्लेख नही मिलता कि भगवान ने आचार्य, उपाध्याय पद के लिए संघ को अथवा साधु-साध्वियों को मतदान करने की आवश्यकता बताई है। वास्तव में भगवान महावीर के तथा उसके पश्चात् काफी समय तक (आचार्य उपाध्याय पद) केवल योग्यता के आधार पर ही दिया जाता रहा। भारतवर्ष में राजनीति के क्षेत्र में सन् १९४७ के पूर्व भी प्रजातन्त्रीय पद्धति किसी सीमा तक विद्यमान थी, किन्तु उसे पूर्ण प्रजातन्त्र नहीं कहा जा सकता। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय असेम्बली के अधिकार सीमित थे। गवर्नर तथा गवर्नर-जनरल को उक्त असेम्बली के निर्णयों पर Veto की शक्ति प्राप्त

की। किन्तु सन् १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में पूर्ण प्रजातन्त्रीय पद्धति के लिए अनुराग उत्पन्न हो गया। जीवन के क्षेत्र में प्रजातन्त्र लक्ष्य हो गया। हमारे देश का संविधान तैयार होकर दिनांक २६-१-५० ई० को संविधान सभा ने पास कर दिया। उक्त संविधान के द्वारा देश में पूर्ण गण-सत्तात्मक राज्य-स्थापना की गई। देश में उत्पन्न प्रजातन्त्रीय भावना का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होने लगा। श्रमणसंघ जैसी साधु-संस्था को एक सूत्र में लाने का प्रयत्न चाहे सन् १९३३ के अजमेर सम्मेलन से प्रारम्भ हो गया हो, किन्तु उसे वास्तविक रूप से सन् १९५२ में आयोजित सोजत साधु-सम्मेलन में प्राप्त हो सका। सोजत सम्मेलन की कार्यवाही को अध्ययन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि हमारे श्रमण संघ ने अपने संगठन में चुनाव तथा अन्य प्रजातान्त्रिक पद्धति का अनुसरण करने का निश्चय कर लिया है। यह सत्य है कि प्रजातन्त्रीय पद्धति आदर्श प्रणाली है और उससे एक प्रकार से किसी प्रश्न के सम्बन्ध में अनेकान्ती दृष्टिकोण प्राप्त किया जा सकता है। बहुमत दल तथा अल्पमत दल अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है तथा मत संख्या के आधार पर उस प्रश्न का निर्णय होता है। वास्तव में यह पद्धति 'राजनीतिक स्याद्वाद' कहा जा सकता है किन्तु इस प्रणाली में दोष भी हैं। प्रजातान्त्रिक पद्धति तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि मतदाता प्रबुद्ध तथा सजग, निर्भय न हो तब तक चुनाव स्वतन्त्र नही हो सकता। इस दशा में काफी मुश्किल है कि उपयुक्त व्यक्ति ही चुनाव में सफल हो सके। यदि चुनाव में उपयुक्त व्यक्ति सफल न हो सका और अनुपयुक्त व्यक्ति को विजय श्री मिल सकी तो उन प्रतिनिधियों का निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि ऐसी दशा में संख्या का प्रश्न मुख्य हो जाता है। Morit का प्रश्न 'गौण'। आज के महान विचारक आचार्य विनोवा जी ने इस युग को 'संख्यासुर युग' नामकरण किया है। हमारे देश के किसी समय के राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त महाकवि डा० इकबाल ने निम्न पंक्तियों में इस अवस्था का चित्रण किया है: -

> इस राज को एक मर्द फिरंगी ने किया फाश।
> हालाँ कि मर्देदाना इसे अफशाँ नहीं करते॥
> जम्हूरियत एक तर्ज हुकूमत है कि जिसमें
> वोटों को गिना करते हैं तोला नहीं करते॥"

डा० इकबाल का तात्पर्य यह है कि एक विदेशी ने इस रहस्य को प्रगट किया है कि प्रजातन्त्र एक विशेष प्रकार की सरकार का निर्माण करता है

जिसमें 'वोट' गिने जाते हैं, तोले नही जाते। यद्यपि इस प्रकार के रहस्य बुद्धि-मान व्यक्ति प्रगट नहीं करते है। तात्पर्य स्पष्ट है कि प्रजातन्त्रीय पद्धति में संख्या Quantity का महत्व होता है। गुण-दोष का नहीं। इसके अतिरिक्त इस पद्धति मे और भी कई दोष हैं जिसका अनुभव अधिकतर राजनीति के कार्यकर्ताओ को होता है जो कि भुक्तभोगी होते हैं। इस पद्धति में प्रदर्शन आदि साधनों द्वारा मतदाता अथवा निर्णायक प्रतिनिधियों पर प्रभाव डाला जा सकता है। यदि पाठकों को स्मरण हो तो सन् १९५६ के भीनासर-सम्मेलन के समय ध्वनिवर्धकयन्त्र के प्रश्न पर उत्पन्न वातावरण को refer किया जा सकता है। कई सज्जनों का यह मत है कि इसी वातावरण के कारण सन् ५६ के सम्मेलन के समय 'ध्वनिवर्धक यन्त्र' के उपयोग की निषिद्धता के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्णय नही किया जा सका था। पाठक यह भी जानते हैं कि 'ध्वनि वर्धक यन्त्र' के सम्बन्ध मे उत्सर्ग, अपवाद, प्रायश्चित का स्पष्टीकरण न होने के कारण श्रमण सघ की स्थिति विचित्र हो गई। पता नहीं कि सन् १९५२ मे आयोजित साधु-सम्मेलन के आयोजकों अथवा हमारे पूज्य मुनिराजों ने प्रजातन्त्रीय पद्धति को अपनाते समय उस पद्धति के दोषों के निवारण के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लिया था या नही। अथवा केवल युगप्रवाह के कारण यह पद्धति अपना ली गई।

सन् १९ ३ के आयोजित साधु सम्मेलन की कार्यवाही के अवलोकन से विदित होगा कि उस समय प्रत्येक सम्प्रदाय के 'प्रतिनिधि' चुनकर भेजे गये थे। उक्त सम्मेलन में 'मंत्री' के अधिकार तथा कर्तव्य निर्धारित किये गये। यह भी निश्चय किया गया कि समिति (सम्भवतः मंत्री मुनियों की समिति) के अध्यक्ष नियत किये जायेंगे। समिति की मीटिंग प्रत्येक ५ वर्ष में की जायेगी। तथा निर्णय सर्वानुमति अथवा बहुमत से होंगे। उसके पश्चात् सन् १९५२ के सादड़ी सम्मेलन के समय इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करके, आचार्य श्री तथा उपाचार्य श्री का निर्वाचन करके एक व्यवस्थापक मंत्री मंडल की नियुक्ति की गई और मंत्री मण्डल के सदस्य 'मंत्री मुनि' का कार्य विभाजन कर दिया गया। मंत्रि मण्डल के एक मत्री मुनि को प्रधानमंत्री पद पर अभि-षिक्त किया गया। यह भी निश्चय किया गया कि मंत्री-मण्डल का कार्यकाल ३ वर्ष का रहेगा। यदि मंत्री-मण्डल में मतभेद हो गया तो आचार्य श्री निर्णय करेंगे। मत्री-मण्डल की मीटिंग प्रत्येक वर्ष अथवा ३ वर्ष में करना अनिवार्य होगा और समस्त निर्णय सर्वानुमति अथवा ३।४ बहुमत से हो सकेंगे। उपरोक्त वस्तु स्थिति से यह स्पष्ट है कि अजमेर सम्मेलन में साधु संस्था श्रमण संघ में जितनी प्रजातन्त्रीय पद्धति प्रविष्ट की गई थी उस व्यवस्था में सन् १९५२

के सम्मेलन के समय पर्याप्त वृद्धि की गई। सन् १९५२ में अधिक प्रजातन्त्रीय पद्धति प्रविष्ट हो गई। सन् १९५२ में श्रमण संघ का एक संविधान Constitution भी स्वीकार कर लिया गया। साधु संस्था में संभवतः यह पहला प्रयोग था। जैसी कि अपेक्षा की गई थी यदि उस मंत्री-मण्डल की मीटिंग प्रत्येक वर्ष होती रहती तो संभवतः निर्णय यथा-समय होता रहता। सन् १९५२ के पश्चात् जहाँ तक मेरी माहिती है केवल एक बार सन् १९५३ में सोजत तथा सन् १९५६ में भीनासर में अधिकारी मुनियों की मीटिंग हुई। उसके पश्चात् लगभग ८ वर्ष में कोई अधिकृत मीटिंग नहीं हुई Meet होने का एक दृष्टि से बड़ा लाभ यह होता है कि परस्पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों पर चर्चा होती है। एक मुनि के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न दूसरे मुनिराज करते हैं। अजमेर तथा सादड़ी सम्मेलनों में इसीलिये प्रत्येक वर्ष Meet होने का नियम बनाया गया था। प्रजातांत्रिक पद्धति में परस्पर मिलने तथा चर्चा का बड़ा महत्व होता है तब ही कोई Pursualation हो सकता है। उस लम्बे काल में मंत्री-मण्डल की मीटिंग का आयोजन न हो सका। न आचार्य श्री उपाचार्य श्री के शुभ मिलन का अवसर आ सका। जब आचार्य श्री उपाचार्य श्री के अधिकारों का प्रश्न भयंकर रूप से उपस्थित हुआ तब भी उक्त दोनों स्वर्गीय महाविभूतियों के मिलने का प्रयत्न नहीं हो सका इसमें सन्देह नहीं कि शारीरिक दृष्टि से यह संभव नहीं हो सकता था। दोनों स्वर्गस्थ आत्माओं के शरीर की स्थिति ऐसी नही थी कि यह सम्भव होता, किन्तु यह भी निश्चित है कि पत्र-व्यवहार से प्रश्न सुलझने के स्थान पर अधिक उलझा। प्रजातंत्रीय पद्धति की यह देन है कि उसमें अधिकार के प्रश्न मुख्य रूप से उपस्थित होते हैं और हमारे श्रमण संघ में भी यही हुआ और इस प्रश्न का अन्त स्वर्गीय भूतपूर्व उपाचार्य श्री के श्रमणसंघ से सम्बन्ध विच्छेद के साथ हुआ जो समाज के लिये दुर्भाग्य की बात थी। मेरी यह धारणा थी कि यदि दोनो महापुरुष किसी स्थान पर मिल सकते होते तो 'अधिकार' तथा उससे सम्बन्धित अन्य प्रश्नों का निर्णय सरलता से हो जाता और श्रमणसंघ में पृथक्तावादी मनोवृत्ति का सूत्रपात न होता। इसके अतिरिक्त इस पद्धति का यह भी दोष हैं कि उसमें गुट-निर्माण होते हैं। Group formation भी इस पद्धति की अनिवार्य बुराई मानी जाती है। मनुष्य में सरलता के स्थान पर कुटिलता आती है। यदि मुझे क्षमा किया जावे तो हमारे कुछ साधु-मुनिवरों में घुमावदार जुबानी 'द्व्यर्थक' भाषा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ है। मैं इसी पद्धति के परिणाम मानता हूँ। हमारे चन्द-साधु मुनिराज आज इसी पद्धति के परिणाम स्वरूप 'कूटनीतिक' होते जा रहे हैं।

प्रजातांत्रिक पद्धति के गुण-दोषों को अभी यदि एक तरफ रखा जावे तो भी इस पद्धति को अपनाने के लिये एक विशेष प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता होती है। इस पद्धति में Tradition परम्परा का बड़ा महत्व होता है। दुर्भाग्य से हमारी श्रमण-संस्था में अभी इस प्रकार के मानसिक अभ्यास की कमी है। यही कारण है कि यह पद्धति श्रमण-संस्था में सफल नहीं हुई और न सफल हो सकेगी। इसके अतिरिक्त राजनीतिक पदों के समान पद इस संस्था में निर्माण करना अधिक शोभास्पद नहीं मालूम होता। यह सब कोई जानते हैं कि मंत्री मण्डल का उत्तरदायित्व (सम्मिलित) Joint Responsibility होती है। मंत्री परिषद का अध्यक्ष प्रधान मंत्री सर्वसत्तासम्पन्न व्यक्ति होता है। हमारी श्रमण-संस्था ने प्रजातन्त्रीय पद्धति की किसी परम्परा का निर्वाह नहीं किया। फरवरी में आयोजित अधिकारी मुनियों की मीटिंग में इस मौलिक प्रश्न पर पूरी छानबीन के साथ विचार किया जाना चाहिये कि श्रमण-संस्था में प्रजातन्त्रीय पद्धति प्रविष्ट होने देना उचित है या नहीं। यदि उचित है तो किस सीमा तक? भारतीय सघ अथवा प्रदेश रस्म के पदों के समान पदों का नामकरण किस सीमा तक उचित होगा। मेरे नम्र मत से हमारी श्रमण संस्था का सारा आधार ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य पर निर्भर हैं। ऐसी दशा में श्रमण संघ का सारे संगठन का आधार भी यही होना चाहिये। श्रमण संघ को तो किसी पद का निर्वाचन, यदि मतो के आधार पर किया गया तो कोई दुर्भाग्यपूर्ण अवसर ऐसा आ सकता है कि जब उक्त रत्नत्रय की दृष्टि से घटिया किसी मुनिराज को निर्वाचित कर दिया जावे। इसलिये चुनाव की पद्धति अत्यन्त शुद्ध नियत करनी चाहिये। हमारे धर्म-शास्त्रों में श्रमण-संस्था के पदों के नाम अत्यन्त उपयुक्त अर्थपूर्ण हैं। एक सर्वसत्ता-सम्पन्न (आचार्य) तथा उनके सहायक अन्य शास्त्रीय पद नियत करना चाहिये।

राजनीतिक क्षेत्र का सत्ताविकेन्द्रीयकरण का नारा, श्रमण-संस्था में अनुपयुक्त है। इसी प्रकार श्रमण-संस्थाओं के बहुमत निर्णय अनुपयुक्त है। श्रमण संस्था के निर्णय सर्वानुमति से हों तब ही शोभास्पद होवे ऐसा मेरा मत है। अधिकारी मुनि-सम्मेलन इन मौलिक प्रश्नों पर कोई स्पष्ट सामयिक निर्णय करेगा ऐसी आशा अनुचित नहीं है।

१०

साधु-संस्था और आधुनिकता

हमारे देश के महाकवि कालिदास ने कहा है कि:—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
नवापि नूनं नवमित्यवद्यम् ।।
सन्तः परीक्षान्यतरद् भजन्ते ।
मूढस्तु पर - प्रत्ययनेयबुद्धिः ।।

महाकवि ने उक्त श्लोक में नवीन प्राचीन आदि अपनाने के सम्बन्ध में "विवेक" के उपयोग का निर्देश किया है। यदि प्राचीन अथवा नवीन पद्धति के उपयोग का प्रश्न विवादग्रस्त हो तो "परीक्षा" द्वारा उक्त प्रश्न का निर्णय कर लेना चाहिए। वस्तुतः न तो सब प्राचीन अच्छा ही होता है, न सब नवीन बुरा ही होता है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति परीक्षा द्वारा अपने विवेक का उपयोग करता है जबकि मूढ व्यक्ति अंधानुकरण करता है। यह कहा जाता है कि हमारे साधु मुनिराजों में नवीन प्रवृत्तियों के लिए अधिक अनुराग उत्पन्न हो रहा है, यह भी कहा जाता है कि गत कुछ वर्षों में ध्वनिवर्धक यन्त्र के उपयोग की प्रवृत्ति बढ़ गई है। यह दोनों बातें किसी सीमा तक सत्य हो सकती है जैसा कि मैंने पूर्व में उल्लेख किया है। कोई भी धर्म संस्था काल के प्रभाव से नहीं बच सकती। इसी प्रकार किसी भी धर्म संस्था के नियम, उपनियमों पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि का प्रभाव अवश्य पड़ता है। ऐसी दशा में हमारे साधु-मुनिराज भी उससे अछूते नहीं रह सकते। वास्तव में देखा जावे तो यह एक प्रकार से नवीन प्राचीन के संघर्ष में समाज को काफी विवेकशील रहना पड़ेगा। प्राचीन का अत्यधिक मोह, नवीन विचार वालों में विद्रोह की भावना को जन्म देगा और नवीन का अत्यधिक मोह प्राचीनता के हामियों में घृणा का भाव उत्पन्न करेगा। ऐसी स्थिति में नवीन-प्राचीन का कोई समन्वयात्मक मार्ग खोजना पड़ेगा। प्राचीन तो अनुभव की कसौटी पर किसी समय

उतर चुका था चाहे समय के प्रभाव से उसमें कुछ परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की जा रही हो किन्तु नवीन तो अनुभव की कसौटी पर चढ़ाया ही नहीं गया ऐसी दशा में यदि बिना सोचे नवीनता अपना ली गई तो उसके परिणाम भयंकर भी हो सकते हैं। गत कुछ वर्षों से प्रकाशन-प्रियता के लोभ में हमारे श्रद्धालु श्रावकों द्वारा अपने विशेष स्नेहपात्र मुनिराजों के फोटो समाचार-पत्रों मे प्रकाशित समाचारो के साथ प्रकाशित होते रहते हैं। इन समाचार-पत्रों मे प्रकाशित मुनिराज के चित्रों की इस समय विडम्बना होती है जब कि कोई व्यक्ति उक्त समाचार-पत्र को अवलोकन करके लापरवाही से फेंक देता है। श्रद्धालु श्रावकों द्वारा अपनाई गई मुनिराजों के फोटो लेने की पद्धति कई वर्षों से जारी है। यह सत्य है कि फोटो के नीचे यह निर्देश देकर अपने कर्तव्य की इति श्री मान ली जाती है कि "यह चित्र केवल परिचय के लिये है" किन्तु कभी-कभी केमरा द्वारा फोटो लेने तथा उसके प्रकाशन में हमारे प्रकाशनप्रिय मुनिराज की मौन सम्मति होती है। मेरी यह स्पष्ट मान्यता है कि फोटो की पद्धति से श्रमण संघ के प्रति आदर-भाव घटा ही है। मेरी यह भी स्पष्ट मान्यता है कि अत्यधिक प्रचार से उस वस्तु का आदर, उसका मूल्य कम हो जाता है। जो वस्तु जितनी अधिक सुलभ होगी उसकी प्राप्ति मे उतना ही कम आनन्द होता है। इस सब का यह तात्पर्य नहीं है कि समाज अपना प्रचार न करे? नवीन प्राचीन का समन्वय आज के युग की मांग है ऐसी स्थिति में समाज को प्रचार प्रकाशन के सम्बन्ध में विवेक का उपयोग करना पड़ेगा। समाज के Cause का प्रचार-प्रकाशन उचित है। किन्तु व्यक्ति का प्रचार प्रकाशन यदि अधिक मात्रा मे हुआ तो समाज के अन्य व्यक्तियों में स्पर्द्धा या ईर्ष्या का कारण होगा।

दूसरी बात, जिसकी ओर हमारे अधिकारी मुनिराजों का ध्यान जाना आवश्यक है वह यह है कि हमारे आधुनिकताप्रिय मुनिराजों के निकट सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति के मन पर स्पष्ट छाप गिरती है कि कई साधु मुनिराजों में राजनीतिज्ञों जैसी कूटनीतिकता बढ़ गई है। राजनीतिज्ञों जैसी घुमावदार, द्वयर्थक भाषा का प्रयोग, श्रावकों के द्वारा उनके आपस के पत्र-व्यवहार की भाषा तक संकेत करते हैं। ऐसी दशा में ऐसे साधु मुनिराज के जीवन में "ऋजुता" का कम स्थान रह जाता है। मुझे खेद होता है जब कभी-कभी आधुनिकताप्रिय मुनिराज को अपने विशेष समारोह के भाषण को रेडियो पर Relay कराने, अथवा उसका Tap record कराने के अथवा टेलीफोन पर राजनीतिक सत्ता-सम्पन्न व्यक्तियों से अथवा मंत्रीगण के बंगलों पर भेंट करने को उत्सुक पाता हूं। मैंने एक बार एक जैन साधु (अन्य सम्प्रदाय से सम्बन्धित)

को राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति के मिलिट्री सेक्रेटरी अथवा निजी सचिव के मेज के पास भेंट का समय निश्चित कराने के लिए खड़े हुए पाया है। मैं उस समय स्व० राजेन्द्रबाबू के मिलिट्री सेक्रेटरी स्व० यदुनाथसिंहजी के पास निजी परिचय के कारण कुछ चर्चा में व्यस्त था। मुझे उक्त घटना से बड़ा दुख रहा। आधुनिकता का अत्यधिक मोह, साधु मुनिराज में मानसिक अशान्ति का कारण होगा। आज साधारण जनता में किसी दिन समाचार-पत्रों अथवा रेडियो-न्यूज के अभाव के कारण जो विकलता देखी जाती है वही बेचैनी किसी दिन हमारे साधु मुनिराजों में देखी जा सकेगी। आधुनिकता से सम्बन्धित कई प्रश्न ऐसे हैं जिनका समन्वयात्मक स्पष्ट निर्णय अधिकारी मुनि सम्मेलन को करना है। अन्यथा आधुनिकता का अंधानुकरण हमारी साधु-संस्था को कहाँ ले जायगा नहीं कहा जा सकता।

यह एक निश्चित तथ्य है कि स्थानकवासी जैन साधु-मुनिराजों का आचार शुद्ध 'अहिंसा' पर आधारित है। यह सत्य है कि समय-समय पर 'अहिंसा' की व्याख्या की जाती रही, जिसके कारण अहिंसा का क्षेत्र विकसित होता गया। इस कसौटी पर यदि 'ध्वनिवर्धक यंत्र' के उपयोग के प्रश्न की परीक्षा की जाये तो निश्चित रूप से यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि 'ध्वनिवर्धक यन्त्र, मे सचित्तता है या नही ? ध्वनिवर्धक यंत्र ऐसा यंत्र है जिसके द्वारा वाणी अथवा ध्वनि का विस्तार होकर श्रोतागण के पास पहुँचती है। इस यंत्र के द्वारा कोलाहलपूर्ण स्थान पर भी मनुष्य वक्ता के भाषण को सुन सकता है। ध्वनि के विस्तार के लिए इस यंत्र का उपयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि उसमे विद्युत अथवा बैटरी के द्वारा शक्ति प्रविष्ट की जाय। जब तक उसमें विद्युत अथवा बैटरी द्वारा प्राणसंचार न किया जाये तब तक वह यंत्र निरुपयोगी रहेगा। ध्वनि वर्धक यन्त्र जब वह Wprking order में हो सचित होता है या नहीं ! इस प्रश्न पर अधिकृत रूप से अपनी सम्मति देने के लिए वैज्ञानिक सक्षम होता है किन्तु Common sence से मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त यन्त्र में सचित्तता है। इस दृष्टि से मौलिक रूप से ध्वनिवर्धक यन्त्र का उपयोग शुद्ध अहिंसक नहीं है इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु ध्वनि वर्धक यन्त्र के उपयोग का प्रश्न ऐसा महत्वपूर्ण प्रश्न है कि जिसके सम्बन्ध में श्रमण संघ में तीव्र मतभेद है यदि यह कहा जाय कि इस प्रश्न ने हमारे साधु मुनिराजों के अन्तर्मन को काफी आन्दोलित कर रखा है तो अत्युक्ति न होगी। सोजत में दिनांक १७-१-५२ से ३१-१-५२ के अन्तर्गत आयोजित मंत्री मुनिवर सम्मेलन में सचित्ताचित प्रश्न के निर्णय के

सिलसिले में उक्त यन्त्र के उपयोग के सम्बन्ध में रोक की गई थी उसके पश्चात सन् १९५६ में भीनासर सम्मेलन में उक्त प्रश्न ने अत्यन्त उग्ररूप धारण कर लिया। सन् १९५६ में भीनासर सम्मेलन के समय इस प्रश्न पर अनिश्चितता रही, इसका परिणाम यह हुआ कि श्रमण संघ की स्थिति भयंकर हो गई तथा श्रमण-संघीय आचार व्यवहार मे एक रूपता नही रह सकी। ध्वनिवर्धक यन्त्र के उपयोग में सैद्धांतिक दृष्टि से यत्किंचित हिंसकता होते हुए ही व्यवहारिक दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार करना उचित मालूम होता है।

हमारे देश में पूर्व में जैन साधु संस्था केवल उद्यान मे रहती तथा वहीं पर धर्मोपदेश करती थी। ग्राम तथा नगरों में उनका शुभागमन केवल आहारादिक अनिवार्य वस्तुओं के प्राप्ति हेतु हुआ करता था। उद्यान, आराम (बगीचों) का वातावरण इतना शान्त गम्भीर होता था कि वहाँ पर कोलाहल का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता था। जब से हमारी साधु संस्था ने ग्राम नगरों में अपना आवास प्रारम्भ किया, स्थिति में परिवर्तन हो गया उस पर भी गत कुछ शताब्दियों से शहरीकरण हो रहा है ग्राम मे निवास करने वाली आबादी ने अपनी आजीविका आदि कारणों से शहरों की ओर प्रयास प्रारम्भ कर दिया। गत कुछ वर्षो से हमारे देश में औद्योगीकरण हो रहा है इस स्थिति में यदि कोई यह आशा करे कि ग्राम तथा शहरों का वातावरण शान्त, गम्भीर रहेगा तो यह असम्भव बात होगी। छोटे-छोटे ग्रामों में भी यत्र-तत्र रेडियो गायन होता रहता है। शहरों में बाजारों में सर्वत्र रेडियो गायन-वादन की धूम होती रहती है। हमारे धर्म स्थान ग्राम नगर में भी होते हैं, वहाँ पर अत्यन्त कोलाहलपूर्ण वातावरण रहता है ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि धर्मोपदेश के समय मुनिराजों की अनिच्छा के बावजूद श्रावकगण इसका आग्रह करें कि ध्वनिवर्धक यन्त्र का उपयोग किया जावे ऐसी दशा में मुनिराज के सम्मुख समस्या उत्पन्न हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी स्थिति में सुविधापूर्वक यह तर्क रखा जा सकता है कि यदि श्रावकगण व्याख्यान श्रवण करना चाहते हों तो उन्हें शान्त गम्भीर वातावरण निर्माण करना चाहिये। वास्तविकता यह है कि हमारे मुनिराजगण ने श्रावकगण में क्या ऐसी स्थिति निर्माण कर दी है कि धर्म स्थानकों में ऐसी शान्ति रह सके जैसी की ईसाइयों के गिरजाघरों में रविवार को प्रार्थना के समय रहती है। वास्तव में हम लोगों में धर्म श्रद्धा की कमी है। ऐसी स्थिति जब तक उत्पन्न न हो जावे तब तक हमें इस प्रश्न का भी व्यावहारिक हल खोजना चाहिये। हमारे मुनिराज केवल धर्म प्रचार की दृष्टि से ही तो पुस्तकों, ग्रन्थों की रचना करते हैं तथा उसे मुद्रण कराने की स्पष्ट अथवा मौन स्वीकृति देते हैं यह अज्ञान जनता के प्रति

उनके दयाभाव का सूचक है। आगामी फरवरी में आयोजित सम्मेलन में श्रमण संघीय अधिकारी मुनिराजों को ध्वनिवर्धकयन्त्र के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्णय लेना चाहिये कि श्रमण संघीय मुनिराज किन-किन समारोहों में, धार्मिक पर्व के समय उस यन्त्र का उपयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार व्याख्यान सभा में कितनी उपस्थिति हो तब उक्त यन्त्र का उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार के उपयोग के लिए "आपवादिक नियम" तथा "प्रायश्चित का विधान" निश्चय कर देना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त यन्त्र का उपयोग स्वच्छन्दता के साथ करना अनुचित है जबकि व्याख्यान सभा में उपस्थिति कम हों। कोई कोलाहल न हो, न कोई समारोहात्मक अवसर हो। ऐसी परिस्थिति में उक्त यन्त्र के उपयोग के औचित्य की कभी सिद्धि नही की जा सकती। इसी प्रकार अन्य आधुनिक साधनों का उपयोग साधु मुनिराज किस सीमा तक कब कर सकेंगे और यदि उनका उपयोग सदोष है तो उन्हें क्या प्रायश्चित लेना होगा. आदि प्रश्नों का स्पष्ट निर्णय होना चाहिये।

'ध्वनिवर्धकयन्त्र तथा आधुनिकसाधनों के उपयोगका प्रश्न भी साधु मुनिराज के आचार-व्यवहार का प्रश्न है। साधु मुनिराज के व्यवहार की मर्यादा स्पष्टरूप से निश्चित की जानी चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि मर्यादा समय-समय पर आवश्यकतानुसार संशोधित होती रहती है। जैसा कि मैंने पूर्व में कहा, साधु दिन में केवल एक बार आहार प्राप्ति (गोचरी के लिये) जाया करते थे। उसके पश्चात् दिन मे दो बार जाने की पद्धति प्रारम्भ हो गई। इसी प्रकार वस्त्र सम्बन्धी तथा अन्य विषय के उदाहरण दिये जा सकते हैं। विद्वानों का मत है कि भगवान पार्श्वनाथ का संघ सचेल धर्म-पालन करता था तथा भगवान महावीर का संघ अचैल धर्म-पालन करता था। जैन साहित्य के प्राचीनतम शास्त्र 'आचारांग सूत्र' के निर्देश तथा आज की सचेलावस्था की तुलना करने पर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। भगवान महावीर का अचेलक धर्म किस प्रकार सचैलक हो गया इस स्थिति में शनैः शनैः किस प्रकार परिवर्तन हुआ यह एक इतिहास का प्रश्न है जो स्वतन्त्र लेख का विषय हो सकता है। किन्तु सैद्धान्तिक रूप से इतना निर्विवाद है कि नग्नावस्था अपरिग्रहवाद की चरमसीमा है। मनुष्य के लिए आहार उतना अनिवार्य नहीं है जितना वस्त्र। कोई जब तक पूर्ण रूप से निर्विकारी न हो, नग्न रहने की हिम्मत नहीं कर सकता। यह एक अलग बात है कि समाज ने साधुओं के नगर तथा ग्राम निवास अथवा अन्य कारणों से परिमित वस्त्र परिधान आवश्यक मान लिया हो। तात्पर्य यह है कि साधु मुनिराज के मूल नियम अटल, अचल रहते हुए भी उपनियमों में सदैव आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहता है। जैसा

मैंने पूर्व में उल्लेख किया है। साधु मुनिराज के आचरण की मर्यादा अल्प की जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कम से कम अमुक मर्यादा पालन प्रत्येक साधु मुनिराज के लिए अनिवार्य होगा। अल्प मर्यादा-निश्चय करने के पश्चात् उसके पालन के लिए कड़ा नियंत्रण आवश्यक है। अल्प मर्यादा-निश्चय करने की भावना रहेगी कि मनुष्य मनुष्य है। उसे इसी जीवन में देवता बनाने का प्रयास उसकी स्वेच्छा से ही सफल हो सकता है यदि उसे अनिच्छापूर्वक देवता बनाने का प्रयास किया गया तो मानवीय कमजोरी के कारण उसमें ढोंग प्रवेश करेगा, वह शिथिलाचारी बनेगा।

११

क्या नग्नत्व एकान्त अश्लीलता है ?

हमारे देश का प्रसिद्ध उत्तेजनात्मक सामग्री प्रस्तुत कर्त्ता अंग्रेजी समाचार पत्र " ब्लिट्ज' दिनांक ३-६-६१ के अंक को देखने का मुझे अवसर मिला जिसमे उक्त समाचार पत्र ने अपने पृष्ठ तीन पर Let misguided shanti sanik ledise शीर्षक से अपने Delhi Bureau का Despatch प्रकाशित किया उक्त Despatch में उक्त पत्र ने सर्वोदयी कार्यकर्ताओं (शान्ति सैनिकों) को अप्रत्यक्ष उपदेश देने का प्रयत्न किया है और उनके द्वारा संचालित 'अश्लील' पोस्टर विरोधी आन्दोलन, पर व्यंग करते हुए उसकी निःसारता सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है और इस बात पर भी ध्यान दिलाया है कि अश्लील पोस्टर्स के बजाय देहली में अनेक स्त्रियों द्वारा वंदित 'नग्न साधु' अश्लीलता की साक्षात मूर्ति है।

उक्त Despatch को पढ़ कर यह स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है कि हमारे फिल्म व्यवसायियों की देश सेवाओं से प्रभावित होकर उक्त पत्र के संवाददाता महोदय ने उनकी सेवाओं से वंचित करने वाले इस आन्दोलन के प्रति अपनी 'नाराजगी' जाहिर की है,न केवल इतना ही, अपितु उसने शिकायत की है कि कुछ समाचार पत्रों ने फिल्म व्यवसाइयों के पोस्टर्स प्रकाशित करने से इन्कार कर दिया है। देश के सुशिक्षित वर्ग को यह भली भांति समझ में आ चुका है कि हमारे सामाजिक जीवन में जो कई खराबियां आ गई हैं उसका उत्तरदायित्व सिनेमा फिल्मों पर कम नहीं है, यही कारण है कि कुछ वर्ष पूर्व से देहली की माता, बहिनों ने केन्द्रीय शासन से मांग की थी कि फिल्म्स का भावी नागरिकों (बच्चों) पर कुप्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए अश्लील फिल्म्स पर रोक लगाई जावे। अश्लील पोस्टर्स नही लगाये जाने चाहिये यह निर्विवाद है कि इस आन्दोलन को देश के महान् विचारक तथा सर्वोदय आन्दोलन के प्रणेता युग पुरुष आचार्य विनोबा भावे का आशीर्वाद प्राप्त है। स्वयं

उक्त पत्र अश्लील पोस्टर्स की अनुचितता को इन्कार नहीं करता। यह मतभेद का विषय हो सकता है कि कौनसा पोस्टर 'अश्लील' है। इसमें सन्देह नहीं कि 'अश्लीलता' का भारतीय माप-दण्ड तथा विदेशी म प-दण्ड पृथक-पृथक है। उक्त पत्र यदि विदेशी माप-दण्ड का हामी है तो उसकी नजर में सम्भवत: कोई पोस्टर ही अश्लील न हो बहरहाल उक्त पत्र को अपने विचारों से भिन्न विचार रखने वालों के प्रति इतना अनुदार नही होना चाहिये।

उक्त Despatch मे 'नग्न साधु' का जिक्र आया हैं। उक्त संवाददाता महोदय का 'नग्नता' का मूल्यांकन करने में भ्रम हुआ है कामोत्तेजक दृश्य उपस्थित करने वाले नग्न चित्रों की श्रेणी में ही वीतराग की प्रतिमूर्ति 'साधु' को रखा जाना उपयुक्त है ? 'साधु' दिगम्बर होता है। अर्थात दिग् (दिशाएँ) जिसका अम्बर (वस्त्र) है जैसा, वीतरागी, नग्नता अपरिग्रहवाद की चरम सीमा है। वास्तव में तो पापों को छुपाने के लिये आवरण की आवश्यकता होती है उसी का माध्यम वस्त्र है। जो मनुष्य बच्चो जैसा निष्कपट, निर्विकारी है उसे आवरण वस्त्र की आवश्यकता नही है। जिसके हृदय मे जरा-सा भी विकार विद्यमान है वह नग्न रहने का साहस नही कर सकता। मानव में जो कमजोरियां हैं उनका आवरण करने के लिये वस्त्रों की आवश्यकता अनुभव की गई। एक बार पूज्य विनोबाजी ने कहा था कि लोग अनाज को अनिवार्य मानते हैं मेरे मत में अनाज से भी आवश्यक वस्त्र है। मनुष्य अनाज के बिना एक दो दिवस रह सकता है किन्तु वस्त्र के अभाव में एक क्षण भी नहीं रह सकता, कारण स्पष्ट है कि मनुष्य विकार का पुतला है। उसे अपनी कमजोरियो को छुपाने के लिये 'वस्त्र' परिधान अनिवार्य है किन्तु साधु मुनिराज विकार-रहित जीवन व्यतीत करते हैं वह अपरिग्रही है इस कारण वह बच्चे जैसे निर्विकार जीवन व्यतीत करते हैं, वह नग्न रहते हैं अथवा सीमित वस्त्रों का उपयोग करते हैं वास्तविकता तो यह है कि दिगम्बरत्व साधु जीवन का आदर्श है।

उक्त पत्र के सवाददाता महोदय ने भारतीय हिन्दू धार्मिक समाज के हृदय को गहरी ठेस पहुँचाई है। साधु मुनिराज के जीवन का मूल्य नही समझा है। सच तो यह भौतिकवादी युग में साधु जीवन का रहस्य समझने का प्रयत्न ही उक्त संवाददाता ने नही किया। कदाचित उक्त पत्र के संबाददाता को अपनी बुद्धि से सोचने का अवसर प्राप्त होगा तो उसे अपने Despatch पर खेद होगा।

पत्र के सम्पादक महोदय को भी (जिन्होने ऐसे Despatch को अपने पत्र में स्थान दिया) भारतीय संस्कृति के प्राचीन उदात्त तत्वों के प्रकाश में पुर्ननिरीक्षण करने पर अवश्य ही अपनी भूल अनुभव होगी। वास्तव में पाखंड

और ढोंग ढकोसलों के इस युग में सच्ची दिगम्बरता को परखना और उसके महत्व से जन साधारण को परिचित कराना विवेकशील पत्रकार का ही पावन कर्तव्य है। यदि वही इस प्रकार की मखौल उड़ाने वाली भाषा का औचित्य मानने लगें और 'सब धान बाइस पसेरी' समझ कर निर्विकारिता को भी विकार से ही संश्लिष्ट रूप में चित्रित करने लगे बल्कि इस काल्पनिक आधार पर ही नैतिकता को प्रस्थापित करने वाले सर्वथा सामयिक एवं समुचित आन्दोलन की व्यंगात्मक कटु आलोचना अपने पत्र द्वारा करने लग पड़े तो जन जीवन की उन्नति के लिये यह अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण घटना होगी, स्वयं पत्रकार के लिये तो ऐसा करना लज्जाजनक, अशोभनीय एवं कर्तव्य पराङ्मुखता का द्योतक है ही, यह कहने की आवश्यकता नही।

अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है कि सिनेमा पोस्टरों के विरुद्ध हो रहे इस आन्दोलन के काफी समय पहिले केलेन्डरों आदि में नारी का कामोत्तेजक ढंग से अंकन करने का विरोध होने पर हमारे बड़े-बड़े राष्ट्रीय नेतागण ने व्यवसायी वर्ग की स्वार्थान्धता के कारण होने वाली इस अनैतिक कार्य प्रणाली की कडे शब्दों में निन्दा की थी और उनके पोस्टर के भी अन्य व्यवसायीगण के द्वारा प्रचलित कलेन्डर का ही बृहद् विराट रूप है, जो अश्लीलता कैलेन्डरों पर होने की दशा मे निन्दनीय मानी जाती है वही पोस्टर के रूप में प्रसशनीय किस प्रकार हो सकती है ? सच पूछा जाय तो सिनेमा व्यवसाइयों की कुटिल चातुरी का ही एक प्रमाण है कि उन्होंने ब्लिट्ज जैसे पत्रों को अपने स्वार्थ साधन हेतु अश्लील पोस्टरों के पक्ष में कहने के लिये रहस्यमयी कोशिश द्वारा उद्यत कर लिया है और देहली के जो दो तीन दैनिक पत्र उनके कुप्रभाव में नही आ सके उन बेचारों की भर्त्सना भी ब्लिट्ज ने उसी प्रवाह में कर डाली है। अस्तु, हम कामना करते है कि हमारे सिनेमा व्यवसायियों को राष्ट्रीय चरित्र के प्रति सद्भावना उत्पन्न हो और सभी पत्र (चाहे वे अंग्रेजी, हिन्दी या किसी भी भाषा के हों) भारत के प्राचीन संस्कृति और तदाधारित नैतिकता के पुरस्कर्ता एवं प्रचारक प्रसारक बन सकें।

●

१२

भारतीय जीवन में सन्यास-परम्परा

हमारा भारतवर्ष धर्म प्रधान देश रहा है, उसने मानवजीवन का लक्ष्य केवल लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा तक ही सीमित नही रखा है अपितु उसने मानव जीवन की सफलता आध्यामित्क इकाईयों से नापी है, इसी प्रकार भारतीय धर्मों ने पारलौकिक विचारों को अपनी तत्वविद्या में अधिक स्थान दिया है यह तत्व इससे परे हैं कि विश्व में जितने प्राणी हैं उनमें मानव का स्थान सर्वोपरि है। "नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्" की उद्घोषणा ने मनुष्य की गरिमा का महत्व प्रतिपादन किया है। जैन साहित्य के अनुपम आगम "उत्तराध्यन सूत्र" मे "मनुष्यत्व" की प्राप्ति अति कठिन बताई है। यही नहीं सारा विश्व भगवान महावीर का ऋणी रहेगा। उन्होंने तत्कालीन "देववाद" का निराकरण करते हुए स्पष्टरूप से घोषित किया था कि मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है और किसी भी प्राणी को मानव-शरीर से ही मोक्ष प्राप्ति संभव है, चाहे देव हो उसे भी मोक्ष प्राप्ति के लिये मानव-भव में अवतरित होना पड़ेगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये भारतीय जीवन में सन्यास की परम्परा का आविर्भाव हुआ। यह सत्य है कि जैन साहित्य में यदा-कदा ऐसे उदाहरणों का उल्लेख है कि जिसमें किसी गृहस्थ मनुष्य को भी भावों से अत्यधिक निर्मलता होने पर मोक्ष प्राप्ति हुई है किन्तु ऐसे उदाहरण अधिक नहीं है। तात्पर्य यह है कि केवल जैन साधना प्रणाली में ही सन्यास की परम्परा नहीं है। अपितु भारतीय समस्त धर्मों में बल्कि अधिक स्पष्ट कहा जावे तो विश्व भर के कई धर्मों में सन्यास-परम्परा का महत्व बताया गया तथा उसको जीवन-लक्ष्य पूर्ति का एक महत्व पूर्ण साधन माना गया।

यह सत्य है कि वेद-कालीन ऋषि गृहस्थ होते थे। उनके आश्रम, पत्नी, संतान सब होता था किन्तु यह कहा जाता है कि आद्य शंकराचार्य जी ने वैदिक परम्परा में सन्यस्त जीवन का सूत्र-पात किया और उसका आदर्श "करतल भिक्षा, तरुतलवास" (हाथ में भोजन तथा वृक्ष के नीचे रहना) जैसा प्रकृति आश्रित रखा। जैन परम्परा में तो भगवान ऋषभदेव के काल से ही सन्यास परम्परा चली आ रही है। बौद्ध परम्परा में भी भगवान बुद्ध के काल से ही सन्यास जीवन का सूत्र-पात हो गया, और वह "भिक्षु" कहे जाने लगे। वास्तविकता यह है कि श्रमण परम्परा के विभिन्न पुरस्कर्ताओं ने सन्यास जीवन का महत्व बताकर उसका प्रारम्भ किया जो देश के सामान्य मानव से लेकर प्रतिष्ठित वर्ग तक की श्रद्धा का केन्द्र बना तथा सारे देश में पाद-विहार करते हुए मानव समाज में आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना में योगदान दिया तथा मानव समाज में सात्विक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरणा दी। यदि हम इस्लाम तथा ईसाई संतों, के जीवन की ओर देखें तो उनके यहाँ पर भी सन्तों ने इस दिशा में बहुत सा कार्य किया है। किन्तु इस सबका विस्तृत विवरण यहाँ अपेक्षित नहीं है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैदिक परम्परा में मानव जीवन के चार आश्रम बताकर आयु विचार करके यह निश्चय किया गया कि मानव जीवन के अन्त में चौथा आश्रम सन्यस्त जीवन होगा। किन्तु यह प्रश्न विचारणीय रहा कि यदि किसी व्यक्ति का आध्यात्मिक स्तर इतना ऊँचा हो कि जिसके कारण अपनी पूर्वीय अवस्था में ही सन्यास लेना चाहे तो उसकी आयु बाधा स्वरूप क्यों होनी चाहिए? और फिर अवस्था का क्या भरोसा और इस कारण जैन परम्परा में सन्यास जीवन प्रारम्भ करने के लिये कोई अवस्था निश्चित नहीं की गई। यह सत्य है कि वैदिक परम्परा में भी स्वयं आद्य शंकराचार्य जी तथा उनके पश्चात्वर्ती कई विशिष्ट प्रतिभाओं ने अल्पायु में सन्यास जीवन प्रारम्भ कर दिया और उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर देश के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव डाला। इसी प्रकार जैन सन्यास परम्परा के कई जाज्वल्यमान नक्षत्रों ने अपनी आत्म-साधना के साथ-साथ भारतीय जन जीवन को प्रभावित करके आध्यात्मिकता का रस वर्धन किया। भारतीय जन जीवन में सन्त परम्परा का जो स्थान है वह परमादरणीय है और वह लाखों लोगों के श्रद्धा के केन्द्र हैं।

●

सप्तम आयाम

दर्शन और धर्म

दर्शन

धर्म

१

अहिंसा और अनेकांत

मानव जीवन में धार्मिक पर्वों का विशेष महत्व है। वैसे धार्मिक पर्वों के अतिरिक्त राष्ट्रीय तथा सामाजिक पर्व भी मानव जीवन में महत्व रखते हैं किन्तु मानवजीवन में जो महत्व धार्मिक पर्वों को प्राप्त है, वह महत्व अन्य पर्वों को नहीं। कारण इसका एक ही है कि धर्म मनुष्य को छूता है वह हृदयस्पर्शी होता है जिससे मनुष्य अपने जीवनशुद्धि की बात सोच सकता है और यथाशक्ति उस पर अमल करना प्रारम्भ करता है। धर्म की व्याख्या प्राचीन ग्रन्थों मे जो की गई कि 'यतो अभ्युदय निःश्रेयस् प्राप्तिः स धर्मः,' जिससे आत्मा का अभ्युदय हो, आत्मा श्रेय मार्ग को प्राप्त करें, उसे धर्म कहा जाता है। यही कारण है कि भारतवर्ष में मनुष्य जीवन में जो स्थान धार्मिक पर्वों को प्राप्त है उतना महत्व अन्य पर्वों को प्राप्त नहीं हो सका। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो मनुष्य के जीवन के साथ धर्म का अविभाज्य सम्बन्ध है। इसी बात को दृष्टिगत रखकर जैन धर्म में धर्माराधन के लिए विशेषरूप से पर्युषण पर्व निश्चित किया। जैन समाज में पर्युषण पर्व में पुरुष तथा स्त्री जीवन शुद्धि की भावना को लेकर अत्यन्त उल्लास के साथ मनाते हैं। धार्मिक तथा श्रद्धालु बुद्धि के लोग पर्युषण पर्व में श्रद्धापूर्वक व्रत, नियम आदि का पालन करते तथा विभिन्न प्रकार की तपस्या करते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह पर्व लगभग एक सप्ताह "पर्युषण पर्व" के नाम से मनाया जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में यह पर्व "दशलक्षण पर्व" के नाम से लगभग दस दिनतक मनाया जाता है और अपनी मान्यता के अनुसार प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी इस पर्व के दिनों में धर्माराधन करते हैं। यह सर्वमान्य बात है कि जैसे जैसे समय बीतता जा रहा है कहीं कहीं हमारा यह पर्व भी एक प्रथा का रूप ग्रहण करता जा रहा है। यह भी निश्चित है कि जब किसी प्रथा तथा रूढ़ि के कारण कोई पर्व मनाया जाय

तो इसमें वह तेज नही रह पाता अपितु मनुष्य प्रथा तथा रूढ़ि के नाम पर उसको मनाता है। वास्तव में इस प्रकार के उत्सवों में धर्म की भावना कम रह पाती है रूढ़ि का बाहुल्य होता है। यही कारण है कि हमारे समाज में धार्मिक उदात्त सिद्धान्तों की शिक्षा प्राप्त होने के पश्चात् भी जीवन-शुद्धि का प्रश्न लगभग जैसा का तैसा रह जाता है। वैसे तो यह स्थिति केवल जैन समाज की नहीं अपितु अधिकतर समाज की स्थिति है। आज देश में धर्म के नाम पर धार्मिक भावना का नहीं अपितु रूढ़ियों का प्रचलन है। हम धर्म की आत्मा को नहीं छूते अपितु उसके कलेवर को झकझोरते हैं। धर्म के नाम पर ढोंग-आडम्बर सबका प्रचलन हो रहा है। इसी बात को लक्ष्य करके उर्दू में एक कवि ने कहा था कि---

मस्जिद तो बना दी पल भर में,
ईमां के हरारत वालों ने;
मन वही पुराना पापी रहा,
वर्षों में नमाजी हो न सका।

आवश्यकता इस बात की है कि हम पर्यूषण पर्व में जो प्रेरणा प्राप्त करें उसे वर्ष भर तक निभायें। केवल धर्म स्थान पर नियत समय तक व्रत, नियम का पालन करके कर्तव्य की इतिश्री न समझें अपितु धर्म के सिद्धान्त और उसकी भावना भी अपने जीवन में उतारें। तात्पर्य यह है कि धर्मस्थान पर धर्माराधन करने के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि हम अपने दैनिक जीवन में प्रमाणिक हों और जीवन शुद्धि का ध्यान रखें। यदि हम अपने जीवन में शुद्धि चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम अहिंसा तथा अनेकांतवाद का मार्ग ग्रहण करें। भगवान महावीर ने अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्त को जितना महत्वपूर्ण बताया यदि हम उसकी भावना के साथ अपने जीवन में अहिंसा तथा अनेकान्त को स्थान दें तो निश्चय पूर्व हमारी जीवन शुद्धि हो सकती है।

हमारे जीवन में आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त आ जाय तो निश्चयपूर्वक जीवन-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। दुर्भाग्य से अभी तक की प्रचलित मान्यताओं के कारण समाज में अहिंसा को कायरता का समकक्ष माना जाता रहा है। यदि यह कहा जाय तो अधिक सत्य होगा कि समाज में अहिंसा को वीरतासूचक कहने के साथ-साथ अमल इस प्रकार का रहा कि जो कायरता को प्रश्रय देने वाला था। जबकि जैन धर्म का इतिहास स्पष्ट रूप से बताता है कि अहिंसा कायरता नहीं अपितु वीरतासूचक है। भगवान महावीर ने स्वयं अनेक प्रकार के कष्ट का मुकाबला

करके उस बात को बताया कि जिसमें अपूर्व सहनशक्ति हो वही अहिंसक हो सकता है। उन्होंने परिषहों के समक्ष पलायन वृत्ति नहीं बताई अपितु डटकर परिषहों को सहन किया। महात्मा गांधी ने एक समय स्पष्ट रूप से कहा था कि यदि मुझे हिंसा और कायरता में चुनाव करने के लिये कहा जाय तो मैं हिंसा को पसन्द करुंगा। दूसरी बात यह भी ध्यान में रखने के योग्य है कि अहिंसा का तात्पर्य केवल प्राणहरण न करना अथवा पीड़ा न पहुँचाना नहीं है अपितु यदि हम किसी व्यक्ति का आर्थिक शोषण करते हैं तो यह भी हिंसा ही कही जायगी। आज के इस विकासशील युग में आर्थिक समता तथा सामाजिक समता भी अहिंसा की परिभाषा में आती है और इसी प्रकार यदि अपने से भिन्न विचार वाले के प्रति न्याय करना चाहते हैं तो हमे अनेकान्त का सिद्धान्त अपनाना पड़ेगा। किसी प्रश्न विशेष पर हमारे दृष्टिकोण के अतिरिक्त भिन्न विचार, भिन्न दृष्टिकोण भी हो सकता है। यह एक निश्चित सत्य है और इसी कारण भगवान महावीर ने अनेकान्त, स्याद्वाद-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। इस प्रकार सिद्धान्त के कारण हम परस्पर भिन्न विचारधाराओं का समन्वय कर सकते हैं। किन्तु दुर्भाग्य है कि अनेकान्त तथा स्याद्वाद का हामी जैन समाज अपने आन्तरिक मतभेदों का समन्वय नहीं कर सका। दुर्भाग्य यहीं समाप्त नहीं होता अपितु जैन समाज के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायें भी अपने अन्तर्निहित मतभेदों का समन्वय नहीं कर सकीं। आज जैन समाज के अन्तर्गत किसी भी सम्प्रदाय के इतिहास को लीजिए, उसमें विभिन्न विचारधाराएँ हैं, उपसम्प्रदाय हैं, उनमें एकसूत्रता नही है और यही कारण है कि जैनसमाज की शक्ति इस आपसी मतभेद तथा तज्जनित विषम वातावरण में व्यय होती है। जैन समाज की सर्वांगीण उन्नति की ओर शक्ति लगाने का ध्यान भी नही जाता। अच्छा हो, हम पर्युषण पर्वाधिराज के इस मंगलमय अवसर पर आत्म-निरीक्षण करें, और देखें कि हमारे मन में साम्प्रदायिक अहंकार तो व्याप्त नहीं है। यदि वास्तव में ऐसा है तो हमें अपने आत्मनिरीक्षण के समय इस अहंकार को समाप्त करने के लिये कटिबद्ध होना पड़ेगा।

यदि हम पर्युषण पर्वाधिराज के इस मंगलमय अवसर पर जीवनशुद्धि की दो पांखें 'अहिंसा और अनेकान्त' पर गहरा विचार कर सकें और उनकी आत्मा को किंचितमात्र अपने जीवन में उतार सकें तो हमारा पर्युषण पर्वाराधन सफल होगा, इसमें सन्देह नहीं। आचार्य अमितगति के शब्दों में हमारी भावना यह हो कि:—

सत्वेषु मैत्री, गुणिषुप्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ-भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

२

अहिंसा का क्षात्रतेज

यह एक निर्विवाद सत्य है कि विश्व के प्रत्येक धर्म में 'अहिंसा' को सर्वोपरि स्थान दिया गया है किन्तु फिर भी अहिंसा व्रत के सम्बन्ध मे विस्तार की बातों में न्यूनाधिक भेद है। किसी महापुरुष के मत में अहिंसा-व्रत का पालन केवल मानव जाति तक सीमित रहा, किसी के मत में पशु-पक्षी तक विस्तार पाया किन्तु जैन धर्म जितनी सूक्ष्मता के साथ अहिंसा-व्रत के सम्बन्ध में चिंतन हुआ उतना किसी अन्य धर्म ग्रन्थों मे नही पाया जाता। जैन-धर्म मे अहिंसा केवल प्राणी-जगत तक ही सीमित नहीं है। अपितु जहाँ-जहाँ चैतन्य की संभावना है वहाँ तक उसका विस्तार किया गया। यदि हम दूसरे शब्दों में कहें तो जैन-धर्म का प्राण 'अहिंसा' है। जैन-धर्म के पुरस्कर्ता तीर्थंकरों ने अहिंसा के क्षेत्र में बौद्धिक अहिंसा को भी सम्मिलित कर दिया और अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया इसलिये जैन-धर्म का परिचय देने के लिए एक जैनाचार्य ने कहा था:—

स्यद्वावो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडनं किंचित्, जैनधर्मस्तदुच्यते॥

यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें तो पूर्ण अहिंसक होना या अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करना असंभव है। केवल जैनधर्म ही नहीं, आज का विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि सब में जीव है। यह लोकाकाश जीवयोनि से व्याप्त है, ठसाठस भरा हुआ है। ऐसी दशा मे किसी के लिये (चाहे साधु ही क्यों न हो) पूर्ण रूप से अहिंसक होना असम्भव है। यह पृथक् बात है कि जीवनयापन के लिए जो अनिवार्य हिंसा हो जाती है उसमें साधु का द्वेष नहीं हो तो इस कारण कर्मबंध चाहे न हो किन्तु हिंसा तो है ही। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की हिंसा की नहीं जाती, अपितु हो जाती है। इसलिए भगवान महावीर ने हिंसा के सम्बन्ध में और अधिक गहराई में जाकर श्रमण-वर्ग के जीवनयापन का

तरीका इस प्रकार का निश्चित किया कि जिसमें केवल अनिवार्य हिंसा ही हो सके, शेष समस्त प्राणि-जगत के लिए वह पूर्ण अहिंसक रहे। गृहस्थ के लिए भी कुछ-कुछ प्रावधान किये किन्तु भगवान महावीर तथा उनके पश्चाद्वर्ती समर्थ आचार्यों के पश्चात् कई शताब्दियों से अहिंसा की व्याख्या केवल 'नकारात्मक' करने तथा हिंसा न करने पर व्रत पालन को पर्याप्त मान लिया गया। प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार अहिंसा के सम्बन्ध में केवल नकारात्मक रुख अपना कर सन्तोष कर लेना उचित है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि क्या इस प्रकार अहिंसा का जो विधायक स्वरूप है उसका पालन करना एक अहिंसक के लिये आवश्यक नहीं है। यह एक शंका से परे बात है कि इस प्रकार के नकारात्मक रूप के कारण जैन समाज की अहिंसा प्राणहीन होती जा रही है। उसमें क्षात्रतेज का अभाव है। एक अहिंसक उपरोक्त हत्या, अन्याय-अत्याचार बरदास्त करके संतोष अनुभव कर लेता है कि उसने व्रत पालन कर लिया। यह एक सुनिश्चित सिद्धान्त है कि अन्याय-अत्याचार को बरदाश्त करने वाला भी पापी होता है। आवश्यक है कि वह उसका प्रतिकार (चाहे अहिंसात्मक रूप से ही सही) करें तब ही अहिंसा का क्षात्रतेज प्रगट होगा, वह तेजस्वी होगी। अभी-अभी सितम्बर १९७१ की मासिक पत्रिका "अमर भारती" में भारतीय दर्शनों के अपूर्व व्याख्याकार कविवर श्रद्धेय श्री अमर मुनि का जो एक चिन्तन पूर्ण लेख प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने अहिंसा के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार व्यक्त करते हुए भारतीय समाज का ध्यान आकर्षित किया है कि क्या तात्कालिक समस्या (पूर्व बंगाल) के सम्बन्ध में तथा-कथित धार्मिक उपदेशक मुनिराजों का इस प्रकार तटस्थ दर्शक रहकर 'मौन, साधना' उचित कहा जा सकता है ?

इस परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न विचारणीय तथा हमारे लिए प्रेरणास्पद होगा कि क्या अब समय नहीं आ गया है, जबकि मानव की अहिंसक शक्ति (जो सुप्तावस्था में है) को जाग्रत करके कार्यरत होने के लिये गति दी जावे ? जैन ग्रन्थ इस बात के साक्षी हैं कि भगवान महावीर के युग में जब हिंसा-प्रधान यज्ञों का अत्यधिक प्रचार था उस समय उन्होने 'यज्ञशाला' में मुनियों को भेज कर इस हिंसाप्रधान यज्ञ का विरोध कराया। एक दूसरे मौके पर मुनि को भेजकर जन्मना वर्ण तथा जाति के सिद्धान्त का विरोध कराकर कर्मणा वर्ण एवं जाति के सिद्धान्त की महत्ता बतलाई। तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर के युग में वह इस प्रकार के हिंसाप्रधान यज्ञों के प्रति तटस्थ दर्शक नहीं रहे। इसमें सन्देह नहीं कि मानव यदि केवल दार्शनिक तथा चिन्तक रह जावे तो वह जन सामान्य को प्रभावित नहीं कर सकता जब कि दार्शनिकता तथा चिन्तकता के साथ ही

कर्मयोगत्व हो तो उसका आन्दोलन जन जन तक पहुँच सकता है , हमारे युग के दो महापुरुषों को ही लें। महाकवि टैगोर केवल दार्शनिक थे, चिंतक थे, उनका प्रभाव क्षेत्र बौद्धिक वर्ग रहा, उनका तेज भारत के ७ लाख ग्रामों को नहीं छू सका। महात्मा गांधी जो दार्शनिक चितक के साथ कर्मयोगी थे। अन्याय-अत्याचार को बरदाश्त करके चुप बैठ जाना उनके स्वभाव तथा कार्य प्रणाली के विपरीत था। परिणाम स्पष्ट है कि उन्होंने असहकार तथा अहिंसात्मक प्रतिकार का आविष्कार करके अहिंसा का क्षात्र तेज प्रकट किया और उनका संदेश भारत के कोटि कोटि जन सामान्य तक पहुँचा। भगवान महावीर के २।। हजार वर्ष के पश्चात् महात्मा गांधी जैसा पुण्यशाली महामानव इस देश में पैदा हुआ जिसने केवल व्यक्ति के जीवन में ही अहिंसा का प्रयोग करने में संतोष नहीं माना अपितु देश के तथा विदेशों में सामूहिक प्रश्नों का निराकरण कराने के लिये अहिंसा का प्रयोग किया। अन्याय-अत्याचार का विरोध असहकार तथा अहिंसात्मक प्रतिरोध के द्वारा करने के लिए देश में प्राण फूंके तथा अहिंसक शान्ति का विकास करके उसे संगठित किया। यही कारण है कि विदेशी शासकों द्वारा सत्ता हस्तांतरण के समय जब मानव खून का प्यासा हो रहा था, मानव की सामूहिक हत्या की जा रही थी उसके प्राणों का मूल्य गाजर मूली जैसा हो रहा था तथा स्त्री की अस्मत लूटी जा रही थी ऐसे हिंसक वातावरण में अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए, शांति स्थापना के लिए उन स्थानों पर गये तथा स्वयं भी प्राण की परवाह किये बिना मानव की प्रसुप्त दैवी वृत्ति को जगाने का प्रयत्न किया यह अहिंसा का क्षात्रतेज था।

इसमें संदेह नहीं कि अहिंसा शक्ति का विकास करने के लिये मानव को निर्भयता का पाठ पढ़ाना होगा। महात्मा गाधी ने देश को पहले निर्भयता का पाठ पढ़ाकर महान् शक्तिशाली सशस्त्र विदेशी सरकार के सामने खड़ा कर दिया। यही कारण है कि स्वतंत्रता पूर्व के आन्दोलनों के समय शस्त्रों से सज्जित सेना तथा पुलिस के सम्मुख निहत्थे लोगों के झुंड के झुंड आकर खड़े हो जाते तथा निर्भय होकर डटे रहते थे और विदेशी सत्ता द्वारा चलाये दमन-चक्र का शिकार हो जाते, हसते-हसते प्राण न्योछावर कर देते थे। इस वातावरण ने देश में अहिंसक शक्ति को सगठित होने तथा अन्याय अत्याचार का मुकाबला करने के लिये प्रेरणा दी। किन्तु इस महामानव के महाप्रयाण के पश्चात् अहिंसा का क्षात्र तेज समाप्त होता जा रहा है। ऐसा आभास होने लगता है कि महात्मा गांधी जी की जीवन लीला समाप्त हो जाने के पश्चात् देश में सैकड़ों साम्प्रदायिक वर्ग के दंगे हुए किन्तु श्री गणेशशंकर विद्यार्थी जैसा उदाहरण एक नही निकल सका। अभी-अभी का ताजा उदाहरण है, पूर्व बंगाल की

घटनाओं का। पाकिस्तान के राष्ट्रपति तथा सैनिक तानाशाह याह्या खाँन ने अपने वचनों से मुकर कर जन-प्रतिनिधि बंगबंधु को सत्ता हस्तांरित नहीं की जिसके परिणामस्वरूप पूर्व बंगाल में पाकिस्तान का विरोध हुआ उसका दमन करने के लिये जो अमानवीय कृत्य वहाँ पर पाकिस्तान के सैनिक शासकों तथा सैनिकों ने किये हैं, उसका उदाहरण इतिहास में नहीं मिल सकेगा। किन्तु हमारे इस अहिंसा-प्राण देश में कोई माई का लाल ऐसा तेजस्वी नेता नहीं निकला जो पाकिस्तान की खूंरेजी का अहिंसक प्रतिरोध करने के लिये देश को संगठित करता तथा वहाँ टुकड़ियाँ ले जा कर अहिंसा का क्षात्रतेज प्रगट करता। पाकिस्तान के इस कुकृत्य के कारण लाखों शरणार्थी हमारे देश में आये। इस देश को कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। तब देश की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरागांधी ने रक्षात्मक युद्ध लड़ा और हमें प्रसन्नता है कि इस न्याय युद्ध War of Justice में न्याय पक्ष की विजय हुई। बंगाल देश स्वतंत्र हो गया। वहाँ जन-प्रतिनिधियों की सरकार बन गई।

महात्मा गाधी जी ने एक बार कहा था "कि यदि मुझे कायरता तथा हिंसा के बीच चुनाव करना पड़ता तो मैं हिंसा पसन्द करूंगा।" पूर्वी बंगाल (हमारा पड़ौस) में गत नौ मासका सामूहिक नर-संहार तथा अमानवीय कृत्यों के प्रति भारतीय अहिंसकों की ओर से तटस्थ दर्शक की स्थिति चाहे कायरता न कही जावे किन्तु साहस का अभाव तो निश्चित रूप से दीख रहा है। आज विचारक वर्ग के सामने यह प्रश्न उपस्थित है कि यदि इस प्रकार के नर-संहार या अमानवीय कृत्यों का अहिंसक प्रतिकार न किया गया तो शासन की ओर से हिंसक प्रतिकार अनिवार्य होता है। बंगला देश की घटनाओं ने एक प्रश्न-चिन्ह छोड़ दिया है कि क्या हमारे देश में अहिंसक प्रतिरोध की प्रणाली पुन: स्थापित हो सकेगी? काश, कोई ऐसा तेजस्वी महापुरुष हमारे देश में होगा जो अपने प्राणों के प्रति भी अनासक्त होकर देश में अभय का मंत्र फूंक सके और एक बार पुनः अहिंसक शक्ति का विकास कर सके।

३

स्याद्वाद : बौद्धिक अहिंसा

एक जैनाचार्य ने ठीक ही कहा है—

> **स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते ।**
> **नास्त्यन्यपीडनं किंचित्, जैनधर्मः स उच्यते ।।**

आचार्य ने संक्षिप्त में जैन धर्म का अंतस्तल उक्त श्लोक में व्यक्त कर दिया है। वास्तव में "स्याद्वाद और अहिंसा" जैन धर्म का प्राण है जिस प्रकार किसी प्राणधारी में से प्राण निकल जाने पर वह निष्प्राण हो जाता है, उसका जीवन समाप्त हो जाता है उसी प्रकार '-जैनधर्म" मे से उक्त दोनो महान सिद्धान्त यदि कम (Minus) कर दिये जावें तो उसका अस्तित्वही नहीं रहेगा। वैसे सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होगा कि उक्त सिद्धान्त वास्तव में एक ही है। स्याद्वाद में ही अहिंसा की भावना निहित है और अहिंसा मे स्याद्वाद की। जैन दर्शन में "अहिंसा" का सिद्धान्त सर्वोपरि है जैन दर्शन ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग किया है जैन दार्शनिक विचार-मंथन ने प्राणिमात्र के वध निषेध से अहिंसा की परिपूर्णता नहीं मानी अपितु जैन दर्शन ने यह भी आवश्यक समझा कि मनुष्य में "बौद्धिक अहिंसा" भी जरूरी है। मनुष्य में जब तक विचार करने की क्षमता है उसके दृष्टिकोण में अन्तर रहेगा। उसी प्रकार विश्व में प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है और यह भी स्वाभाविक है कि मनुष्य के सीमित ज्ञान के कारण वस्तु का भिन्न-भिन्न स्वरूप अथवा प्रश्न के समस्त पहलू एक समय ही मनुष्य के मस्तिष्क में नहीं आ सकते। इस कारण मनुष्य का किसी वस्तु अथवा प्रश्न के सम्बन्ध में अभिप्राय आंशिक सत्य ही हो सकता है यदि मनुष्य का आंशिक सत्य परस्पर विवाद करता रहे तथा स्वयं द्वारा अनुभूत सत्य (आंशिक) को ही पूर्ण सत्य होने का दावा करता रहे तो यह सत्य नहीं हो सकता। वास्तव में आंशिक सत्यों को यदि एकत्रित कर लिया जाये तो पूर्ण रूप सत्य का दर्शन

हो सकता है । यही स्थिति विश्व के धर्मों की विभिन्न मान्यताओं के सम्बन्ध में है । विश्व के धर्माचार्यों ने अपनी तात्कालिक परिस्थिति से प्रभावित होकर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था इस कारण यह स्वाभाविक था कि देश काल क्षेत्र की भिन्नता के कारण उन सिद्धान्तों में वैषम्य होता है और वही हुआ भी । किन्तु मनुष्य अपने धर्माचार्यों के प्रति ममता, उसके मन में व्याप्त आग्रह तथा अहंकार ने उसको उस आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मानने के लिए प्रेरित किया, परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने द्वारा स्वीकृत आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य अंतिम सत्य मानता रहा । यहाँ तक भी ठीक था किन्तु उसके आग्रह तथा अहंकार में वृद्धि हुई और उसने स्वयं द्वारा स्वीकृत आंशिक सत्य को दूसरे धर्मानुयायी से पूर्ण सत्य के रूप में मनवाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया परस्पर प्रतिस्पर्धा हुई, उससे कटुता निर्माण हुई और विश्व ने देखा कि "धार्मिक असहिष्णुता" ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराये और धर्म के नाम पर उनको स्वर्ग प्रवेश का साधन बताया ।

विश्व के इतिहास में रुचि रखने वाले सज्जन भली भाँति जानते हैं कि धर्म के नाम पर "धार्मिक असहिष्णुता" के कारण जितने अत्याचार हुए हैं उतने किसी कारण से नही हुए । यह आश्चर्य का विषय है कि "धर्म" मनुष्य को आंतरिक शांति प्रदान कर्त्ता होते हुए भी मनुष्य ने उसका दुरुपयोग क्यों किया ? तो विचार करने पर यही फलित होता है कि मनुष्य में आग्रह, अहंकार तथा तज्जनित बौद्धिक हिंसा काम कर रही थी । धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिंसक कृत्य की हमारे देश में कमी नहीं रही । यूरोप आदि देशों में भी कमी नहीं रही तात्पर्य यह है कि जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर "महात्मा महावीर" के हृदय में इस परिस्थिति के निराकरण के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । पाठक भली भाँति जानते हैं कि महात्मा महावीर के समय में विभिन्न सिद्धान्तों (वादों) को प्रतिपादित करने वाले दार्शनिक तथा धर्माचार्य वर्तमान थे और वह अपने-अपने मतों का प्रचार करते थे । इस कारण यह स्वाभाविक था कि परस्पर जय-पराजय की भावना से वाद-विवाद होता, परस्पर कटुता निर्मित होती और परिणाम स्वरूप धर्म की आत्मा का हनन होता । जैन शास्त्रों से यह स्पष्ट है कि महात्मा महावीर के समय में ३६३ मत प्रचलित थे । बौद्ध साहित्य से भी यह स्पष्ट है कि उस समय ६२ या ६३ मत प्रचलित थे । संख्या का महत्त्व नहीं है किन्तु उस समय जन साधारण में मतिभ्रम था और परस्पर धार्मिक असहिष्णुता विद्यमान थी । महात्मा महावीर ने इस स्थिति पर गम्भीर विचार किया और यह प्रतिपादित किया कि यह

सब आंशिक सत्य प्रतिपादित करते हैं। यदि पूर्ण सत्य का दर्शन करना चाहते हो तो एकांत का आग्रह तज दो। इसी संदर्भ में ३६३ मतों का समन्वय किया। सूक्ष्म विचार करने पर यह भली भांति स्पष्ट होगा कि महात्मा महावीर ने विश्व के प्रत्येक प्रश्न तथा वस्तु के सम्बन्ध में विचार करने की एक नई पद्धति को जन्म दिया जिसे "अनेकान्त विचारधारा" कहा जाता है कि संक्षिप्त में यह कहा जा सकता है कि महात्मा महावीर ने प्रत्येक वस्तु तथा प्रश्न पर ७ नयों की अपेक्षा से विचार करके अपना मत स्थित करने की जिस पद्धति का आविष्कार किया उसे (सातनय के कारण) "सप्तभंगी" अथवा "अनेकान्त विचारपद्धति" कहा गया। उसे वाणी द्वारा स्पष्ट करने को "स्याद्वाद" नाम से अभिहित किया। सत्य यह है कि इस अनेकान्त विचार पद्धति में किसी पक्ष विशेष के प्रति आग्रह नहीं होता "अनाग्रह" होता है। किसी वस्तु अथवा प्रश्न के प्रति एक दृष्टिकोण अपनाने वाला उसी वस्तु तथा प्रश्न के प्रति अन्य दृष्टिकोण अपनाने वाले के प्रति उदार विचार रखता है। यह मानता है कि उसमें भी सच्चाई है। मेरे द्वारा अपनाया दृष्टिकोण जहाँ सत्य है वहाँ अन्य दृष्टिकोण मे भी सत्यता हो सकती है। यह उदारता का लक्षण है। एकांत विचारधारा का व्यक्ति जहाँ अपने द्वारा अपनाये दृष्टिकोण के प्रति "ही" का आग्रह रखता है वहाँ अनेकान्त विचारधारा के "भी" का मत रखता है। वास्तव में महात्मा महावीर ने इस सिद्धान्त का आविष्कार करके विश्व के सम्मुख "धार्मिक सहिष्णुता" "सर्वधर्म समभाव" का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

भगवान महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् का काल साहित्य के दृष्टि से आगम युग कहा जाता है अर्थात् वीर निर्वाण विक्रम पूर्व ४७० से लेकर विक्रम पश्चात् ५ वी शताब्दी का काल "आगम युग" है। उसके पश्चात् ५ वीं शताब्दी से ८ वीं शताब्दी तक का काल साहित्य निर्माण की दृष्टि से "अनेकान्त व्यवस्था युग" कहा जाता है। इस युग में महात्मा महावीर के पश्चात् वर्ती आचार्यों ने अनेकान्त पर साहित्य काफी निर्माण किया। महात्मा महावीर द्वारा प्रतिपादित "स्याद्वाद" सिद्धान्त का ही प्रताप था कि जैनाचार्यों ने जो तार्किक दृष्टिकोण अपनाया उस प्रकार निष्पक्ष तथा उद्धार दृष्टिकोण अन्य के लिए अपनाना सम्भव नहीं था। श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने शिवमन्दिर में निम्न प्रकार की स्तुति की।

भव-बीजांकुरजनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा, विष्णुर्वा, हरो, जिनो वा नमस्तस्मै॥

उक्त श्लोक में आचार्य ने उस महापुरुष को नमस्कार किया है जिसने राग-द्वेष नष्ट करके पुनर्जन्म की सम्भावना समाप्त कर दी हो, चाहे वह ब्रह्मा हो विष्णु हो,हरिहो या जिन हो । इस उदारता का उदाहरण अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है । जैनाचार्यों के तार्किक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में निम्न उद्धरण पर्याप्त होगा जो एक जैनाचार्य ने दृढ़ शब्दों में व्यक्त किया था ।

पक्षपातो न मे वीरे-, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ।।

उक्त आचार्य को न तो महावीर के वचनों के सम्बन्ध में पक्षपात है और न कपिलादि मुनियों के सम्बन्ध में द्वेष है । उनकी केवल एक कसौटी 'तर्क' है वह तर्क युक्त वचनों को प्रमाण मान्य करते हैं इसी प्रकार एक अन्य आचार्य स्वयं महात्मा महावीर के अनुयायी द्वारा अपनाई गई एकान्त विचारधारा के कारण क्षुब्ध होकर स्पष्ट मन्तव्य देते हैं कि:—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे ।
न तत्ववादे न च तर्कवादे ।।
न पक्षसेवाश्रयेण मुक्तिः
कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ।।

उक्त आचार्य ने केवल कषाय से मुक्तता को ही मोक्ष का कारण प्रतिपादन किया है । यदि जैनेतर दृष्टिकोण पर विचार करें तो वहाँ पर भी ऐसे सूत्र वाक्य मिल जाते हैं जिसमें 'स्याद्वाद' अथवा अनेकान्त विचार पद्धति का प्राधान्य है उदाहरण के लिए 'एक सद्विप्रा बहुधा वदंति' एक ही सत्य को विप्रगण अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं । वास्तव में विश्व में ही भिन्नता का मूल है उसमें भिन्नत्व का आग्रह उचित नहीं है ।

हो भिन्न सब, भिन्नत्व तो, संसार का है नियम ही ।
पर भिन्न होना नहीं किसी से बुद्धिमत्ता है यही ।।

जैनाचार्यों ने इस सिद्धान्त का जन साधारण को सरलता से बोध कराने के लिए कई उदाहरण अपने साहित्य में प्रस्तुत किये हैं । स्याद्वाद के सम्बन्ध में कुछ अजैन विद्वानों ने भ्रांति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है, कुछ विद्वान इसे सशंयवाद (ढिलमिल यकीनी) बताते हैं । यह भी कहा जाता है कि इसमें जब मनुष्य अपने से भिन्न दृष्टि को सत्य होने का विचार करता है तब वह अपने द्वारा अपनाये हुए दृष्टिकोण को असत्य मानता है इसीप्रकार किसी समय एक दृष्टिकोण को सत्य मानता है किसी समय अन्य को । यही ढिलमिल यकीनी तथा संशयवाद कहा जाता है

किन्तु जैनाचार्यों ने दधिमन्थन का उदाहरण देकर इसको निराकृत किया है यूरोपीय विद्वान ने 'सापेक्षवाद Principle of relativity का आविष्कार करके उक्त सिद्धान्त की उपयोगिता मानी है। एक विद्वान का कहना है कि यह सिद्धान्त अत्यन्त सरल तथा तर्कपूर्ण है यदि एक लकीर स्लेट पर खींच कर तलाश किया जाये कि यह बड़ी है या छोटी तो निश्चित रूप से उसके दोनों उत्तर होंगे। अन्य लकीर (जो उससे छोटी हो) खींचकर इसे बड़ी कहा जा सकता है अथवा अन्य (जो उससे बड़ी हो) खींचकर इसे छोटी कहा जा सकता है, यही तो सापेक्षवाद है।

स्याद्वाद सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में जो भावना काम करती है वही भावना प्रजातंत्रीय पद्धति में कार्य करती है। लोकतंत्रात्मक राज्य में पार्लियामेंट में 'विरोधी दल' का बड़ा महत्व है उसमें भी यही भावना काम करती है। सत्तारूढ दल अपने द्वारा अपनाई गई नीति मे आलोचना की गुन्जायश स्वीकार करता है। सत्तारूढ़ दल अपने द्वारा अपनाई नीति तथा कार्यक्रम में विश्वास रखते हुए भी इस बात की गुन्जायश स्वीकार करता है कि अन्य नीति तथा कार्यक्रम देश हित के लिए अपनाया जाना उचित हो सकता है। उक्त आलोचना को सुनकर वह लाभ उठाता है। हम इसे'राजनीतिक स्याद्वाद' के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है 'स्याद्वाद' एक अंग है 'अहिंसा का'। स्याद्वाद वास्तव में 'बौद्धिक अहिंसा' ही है। ऊपर यह भी बतलाया जा चुका है कि जैन दर्शन में 'अहिंसा' सर्वोपरि है। यदि यह कहा जावे कि 'अहिंसा जैन दर्शन का पर्यायवाची नाम है तो भी अतिउक्ति न होगी। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा था कि जो तीर्थंकर पूर्व में हुए वर्तमान में है, तथा भविष्य में होंगे उन सबने अहिंसा का प्रतिपादन किया है। अहिंसा ही ध्रुव तथा शाश्वत धर्म है इससे जैन दर्शन में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि पाया जाता है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित 'अहिंसा' के सम्बन्ध में देश में काफी भ्रम रहा। किसी ने उसे अव्यवहार्य बताया, किसी ने उसे वैयक्तिक बताकर सामाजिक राजकीय प्रश्नों के लिए अनुपयोगी बताया। इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न करने वालों ने जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित 'अहिंसा' का पूर्ण अध्ययन किये बिना ही उसकी आलोचना की है। जो जैन दर्शन मनुष्य अथवा प्राणधारी के जीवन की प्रत्येक क्रिया में 'हिंसा' का आभास पाता है और कहता है कि विश्व में किसी भी प्राणधारी को पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति तथा

सजीवों की हिंसा से विरत रहना चाहिए उसी जैन दर्शन के व्याख्याता आचार्यों ने यह भी प्रतिपादित किया कि :—

जयं चरे, जयं चिट्ठें, जयमासे, जयं सये।
जयं भुजंतो, भासंतो, पावकम्मं न बंधई ॥

तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन यह मानता है कि किसी भी प्राणधारी का जीवन सर्वथा अहिंसक होना असम्भव है कारण कि प्राणधारी से जीवित रहने के लिए वायु काय आदि के जीवों का संहार अकारण (बिना इच्छा) के ही हो जाता है। इसी कारण उपरोक्त व्याख्याकार ने यत्नपूर्वक जीवन यापन में पापकर्म के बंधन न होने का प्रतिपादन किया है। हमारे देश के जीवन में अहिंसा की जो छाप दृष्टिगोचर होती है वह जैनधर्म की देन है। सामूहिक प्रश्नों के निराकरण के लिए अहिंसा का प्रयोग हमारे देश में काफी सफल रहा। जैन दर्शन में मनुष्य को केवल वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने का ही विधान नहीं किया है। अपितु सामूहिक जीवन में उसके कर्तव्य भी बतलाये हैं। जैन शास्त्र 'स्थानांग सूत्र' में ग्राम धर्म, नगर धर्म राष्ट्रधर्म आदि का उल्लेख करके मनुष्य को सामूहिक जीवन के कर्तव्यों का बोध कराया गया है हमारे देश में विदेशी सत्ता के विरुद्ध महात्मागांधी जी के नेतृत्व में 'अहिंसक युद्ध' ही लड़ा गया। जिसके परिणाम स्वरूप देश स्वतंत्र हुआ और आज हम स्वतंत्रता के फल भोग रहे हैं। वास्तव में यह प्रयोग एक अभूतपूर्व प्रयोग था। हमारे इतिहास में शायद ही अहिंसा के सामूहिक प्रयोग का उदाहरण उपलब्ध हो सके। प्राचीन ग्रन्थों में 'हार तथा हाथी' के लिए स्वजनों का युद्ध एक प्रसिद्ध घटना है, रामायण काल में रावण को सत्यपथ पर लाने के लिए श्री रामचन्द्र ने युद्ध का ही आश्रय लिया। महाभारत में भी भ्रातृजनों में व्याप्त कलह के कारण युद्ध को अनिवार्य माना गया। महाभारत युद्ध के एक पात्र के द्वारा निम्न वाक्य कहलाये गये जो तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालते हैं और जिसमें युद्ध की अनिवार्यता स्पष्ट होती है।

"सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव !"

वास्तव में अहिंसा के प्रयोग में गांधी युग ने एक नई दिशा का श्रीगणेश किया था किन्तु गांधी युग के उक्त श्रीगणेश को आज विश्व में अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। आज पूज्य गान्धी जी के स्वर्गवास को २६ वर्ष हो गये। उनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व के अभाव के कारण अहिंसा का विचार गति नहीं पारहा है, विश्व के राजनीतिज्ञ अपने प्रश्नों को निपटाने के लिए अहिंसा का माध्यम स्वीकार नहीं करते अपितु 'हिंसक युद्ध' को माध्यम

मानते हैं। यही कारण है कि कुछ समय पूर्व चीन ने 'सीमा विवाद' के नाम पर भारत पर हिंसक आक्रमण किया और शांतिप्रेमी भारत को अपने रक्षण के हेतु शस्त्रों का उपयोग करना पड़ा। दुर्भाग्य से हमारे बीच अहिंसा का अपूर्व व्याख्याकार, अहिंसा का अपूर्व हामी पूज्य गांधी जी जैसा प्रभावशाली व्यक्तित्व नही है, इसी कारण अहिंसा के तत्व दर्शन को हमारे जीवन में जो स्थान मिलना चाहिए था वह नहीं मिल पा रहा है। काश! समाज कोई ऐसा नर रत्न पैदा कर सके।

विश्व समन्वय अनेकान्त पथ
सर्वोदय का प्रतिपल गान ॥
मैत्री, करुणा सब जीवों पर।
विश्वधर्म जग ज्योति महान ॥

●

४

अनेकान्तवाद और साम्प्रदायिक सहिष्णुता

एक प्रसिद्ध जैनाचार्य ने कहा है कि—

> **जेण विणा वि लोगस्स, ववहारो सव्वहा न निव्वहई ।**
> **तस्स भुवणेक्क गुरुणो, णमो अणेगंत-वायस्स ।।**

उक्त जैनाचार्य ने अनेकान्त वाद का महत्व संक्षिप्त में उपरोक्त गाथा में स्पष्ट किया है, वह वस्तुतः सत्य है । अनेकान्त-वाद के आधार पर सारा विश्व का कार्य भार चल रहा है । इसी अनेकान्त-वाद को त्रिभुवन गुरु होने की संज्ञा दी गई है । हमारे प्राचीन जैनशास्त्रों, ग्रन्थों में अनेकान्त-वाद के विचार बीज रूप में विद्यमान थे । प्राचीन आचार्यों ने उन बीज रूपी विचारों को लेकर विपुल साहित्य का सृजन किया । अनेकान्त-वाद वास्तव में तीर्थंकरों की देन है । भगवान महावीर ने देश में विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले "वाद" विद्यमान देखे तथा यह भी देखा कि उनमें से प्रत्येक के पास आंशिक सत्य है, उनकी विचार शैली एकांगी है । यदि यह विचारक अनेकान्त-मार्ग का अवलोकन करें तो उन्हें 'सत्य' का साक्षात्कार हो सकता है । भगवान महावीर ने बड़े कष्ट से यह भी अनुभव किया कि इस प्रकार एकांगी विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति परस्पर वाद-विवाद करते हैं तथा धार्मिक असहिष्णुता के कारण अशान्ति उत्पन्न करते हैं । विभिन्न वादों के परस्पर संघर्ष ने केवल देश में नहीं अपितु सारे संसार में इस प्रकार का वातावरण निर्माण किया है । इस कारण कोई व्यक्ति अपने से भिन्न विचारधारा के प्रति न्याय करना चाहता है तो उसे अनेकान्त विचार पद्धति से काम लेना होगा । अनेकान्त विचारपद्धतिमें वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता का ध्यान रखा जाता है । यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु के सम्बन्ध में विश्लेषण करे तो वह वस्तु का समग्र चित्र नहीं हो सकता । यदि हम उसी वस्तु के विभिन्न पहलुओं को एकत्रित कर लें तो वस्तु का समग्र चित्र सन्मुख आ सकता है । अनेकान्त विचार-पद्धति से

उत्पन्न (उद्भूत) दृष्टिकोण को जैनाचार्यों ने 'स्याद्वाद' संज्ञा से अभिहित किया था। इस विचार पद्धति को जिस भाषा में व्यक्त किया जाता है वह स्याद्वाद है। कई जैनाचार्यों ने वर्गीकरण के लिये इसे सप्तभंगी न्याय, सप्त नय आदि में विभाजित करने का प्रयत्न किया किंतु वास्तविकता यह है कि वस्तु में जब अनन्त धर्मात्मकता है तो सत्य को भी वर्गीकरण के द्वारा सीमा में नही बाँधा जा सकता है। सत्य के लिये भौगोलिक अथवा अन्य कोई भी सीमा नही होती। अतएव मोटे रूप से जैनाचार्यों ने 'नय' को केवल दो भागों में विभक्त किया (१) निश्चय नय (२) व्यवहार नय, किन्तु विशालता की दृष्टि से नय की संख्या भी उतनी ही है कि जितनी विचार पद्धति।

वास्तव में उपरोक्त दृष्टिकोण से विचार करने पर सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकेगा कि सत्य का इजारा किसी मत, पन्थ या वाद के पास नहीं हो सकता। विभिन्न मतों, धर्मों, वादों को समन्वय की दृष्टि से विचारा जावे तो उनमें एकता परिलक्षित होगी। विश्व में धार्मिक असहिष्णुता को नाम-शेष करने के लिये 'समन्वय' की आवश्यकता है। यह "सर्व धर्म समभाव" को जन्म देगी। इस युग के महान विचारक संत महात्मा गांधी ने सर्व धर्म समभाव को अपने द्वारा निर्दिष्ट ११ व्रतों मे स्थान दिया है। गांधी जी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी विनोबा जी ने उसे 'अनाग्रही विचार' कहा। एक प्राचीन जैनाचार्य ने भारतीय षड्दर्शन मे विभिन्न नयों (दृष्टिकोणों) के माध्यम से सत्य का दर्शन किया। चाहे तत्त्व की दृष्टि से, चाहे वाद की दृष्टि से संसार का कार्य 'अनेकान्त विचार पद्धति' के बिना नहीं चल सकता। यही नहीं विश्व में विभिन्नता का राज्य है किन्तु भिन्नता में ही एकता का दर्शन पाना जीवन के कलाकार का काम है। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, कौटुम्बिक आदि क्षेत्र में यदि अनेकान्त विचार पद्धति से काम न लिया जावे तो सघर्ष अवश्यम्भावी है। और उसका परिणाम है "अशान्ति"। मानव जाति अपनी अशान्ति, दुःख के कारणों के नाश के लिये "धर्म" की शरण में जाती है वहां पर भी अशान्ति ही प्राप्त होगी। इस स्थिति में भी "जल में आग" लग जावेगी--इसमें सन्देह नहीं है।

यदि हम सूक्ष्मता से अध्ययन करें तो "अनेकान्त पद्धति" का जन्म अहिंसा के विचार से ही हुआ है। अपने से भिन्न विचार रखने वालों के प्रति न्याय करने के लिये उसके विचार मे भी सत्यता का अंश विद्यमान होने के विचार को मानव जाति के उद्धारक तीर्थंकरों ने जन्म दिया। कहा जाता है तीर्थंकरों द्वारा उपदेशित मार्ग में (चाहे उसे निर्ग्रन्थ धर्म के नाम से पहचाना जावे चाहे जैन धर्म के नाम से) अहिंसा मुख्य है। यह सत्य है कि अनेकान्त

विचार-पद्धति अथवा स्याद्वाद बौद्धिक अहिंसा है। इस विचार पद्धति से हम जीवन के किसी भी क्षेत्र में समन्वयात्मक दृष्टिकोण ले सकते हैं—राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातांत्रिक विचार इसी ओर ले जाते हैं। हमारे देश में आज (पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी) संसदीय प्रजातांत्रिक परम्परा चल रही है। इस परम्परा में बहुमत दल द्वारा गठित सरकार, अल्प मत दल को अपने विचार प्रदर्शन का अधिकार मान्य करती है। उससे यथासम्भव लाभ उठाती है यह 'राजनीतिक स्याद्वाद' है। इसी प्रकार कौटुम्बिक क्षेत्र में भी इस पद्धति का योगदान परस्पर कुटुम्बों में, कुटुम्ब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण करेगा—इसमें सन्देह नहीं। तात्पर्य यह है कि जैनाचार्यों ने अनेकान्त-वाद को संसार गुरु की जो उपमा दी है वह सत्य है, अनूठी है तथा संसार को सच्चा मार्ग देने वाली है।

हम प्राचीन जैन आचार्यों के अनुपम विचारों को प्राचीन ग्रन्थों में जब अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि उनमें कितनी उदार भावनाएं विद्यमान थीं। अनेकान्त विचार पद्धति के अनुयायी जैनाचार्यों ने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि—

भवबीजांकुरजनना, रागाद्या, क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु र्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, हरि जिन सब को नमस्कार किया है बशर्ते कि उनके पुनर्भव के बीच राग,द्वेष आदि क्षय हो चुके हों। कितनी उदार भावना काम कर रही थी, कितना अनाग्रही विचार उनका था। यहीं नहीं उन्होंने भारतीय दर्शनों में आंशिक सत्य की अनुभूति की। चूँकि विभिन्न दर्शन आंशिक सत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं इस कारण उनमें पाखण्ड है किन्तु उन्होंने यह उद्‌घोष करने में भी हिचक नहीं की कि 'जैनदर्शन' पाखण्डों का समूह है। कारण कि जैन दर्शन में सब दर्शनों के आंशिक सत्य का समन्वय करके पूर्ण सत्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। उन्होंने यह भी घोषणा की कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यःपरिग्रहः॥

उन्होंने भगवान महावीर के वचनों के प्रति पक्षपात तथा कपिल आदि मुनियों के वचनों के प्रति द्वेष न होना प्रगट किया था उन्होंने केवल युक्ति-पुरस्सर वचनों को अंगीकार करने का निश्चय किया—

प्राचीन ग्रन्थ इस बात के साक्षी हैं कि भगवान महावीर के समय में भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रमण विद्यमान थे और दोनों परम्परा के

प्रतिनिधित्व करने वाले श्रमण वर्ग के विचार तथा आचार में कुछ भिन्नता थी। श्वेताम्बर परम्परा के एक उपदेशप्रद शास्त्र "उत्तराध्ययन" के २३वें अध्ययन में दोनों परम्परा के प्रतिनिधि मुनि केशी मुनि तथा गौतम स्वामी के मिलन का वर्णन है। कितना सुन्दर, भव्य दृश्य था दोनों का शुभ मिलन, परम्परा भेद में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाने का था। दोनों सफल हो गए और उन्होंने देश में 'अहिंसा धर्म' का प्रचार, प्रसार किया। भगवान महावीर के समय मे भी श्रमण वर्ग में वस्त्रधारी तथा नग्न दोनों प्रकार के श्रमण विद्यमान थे। चाहे उनको वर्गीकरण के नाम पर 'जिनकल्पी, स्थविरकल्पी' बताया गया हो किन्तु यह तथ्य है कि दोनों प्रकार के श्रमण भगवान महावीर द्वारा उपदेशित 'अहिंसा धर्म को देश भर में फैलाने के भागीरथ प्रयत्न में जुटे हुए थे। भगवान महावीर के कुछ सौ वर्ष पश्चात् तक आचार्य परम्परा एक ही रही। कहा जाता है कि भगवान महावीर के पश्चात् बारह वर्षीय दुष्काल में कुछ श्रमण दक्षिण दिशा मे चले गए तथा कुछ उत्तर में रह गए। दुष्काल समाप्ति के पश्चात् उत्तर-दक्षिण का मिलन हुआ तो सचेल, अचेल का प्रश्न महत्वपूर्ण बन गया। परिणामस्वरूप विश्व की प्रत्येक समस्या का हल 'अनेकान्त विचार-पद्धति" से कर देने वाले जैन दर्शन के अनुयायी स्वयं श्वेताम्बर, दिगम्बर परम्परा में विभाजित हो गए। यह एक आश्चर्य का विषय रहेगा कि इस प्रकार के उदार विचारमना जैनाचार्य परस्पर के इस सचेलत्व तथा अचेलत्व के विचार का समन्वय क्यों नहीं कर पाये ? मेरी यह निश्चित मान्यता है कि यदि इस विचार-भेद का समन्वय तत्कालीन जैनाचार्य कर पाते तो उनके द्वारा 'जैन दर्शन' की अधिक सेवा हुई होती।

जैन दर्शन के रहस्यविद्, शान्तिप्रिय जैनाचार्यों ने समय-समय पर दोनों परम्परा मे शान्ति स्थापनार्थ यह उद्घोष किया कि--

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे,
न तत्ववादे न च तर्कवादे।
न पक्ष सेवाऽऽश्रयेण मुक्तिः,
कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥

उन्होंने मुक्ति श्वेताम्बर अथवा दिगम्बरत्व में नहीं मानी न तत्ववाद में न तर्कवाद में। उन्होंने यह भी कहा कि पक्षपाती दृष्टिकोण से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। मुक्ति तो केवल कषाय मुक्तता से ही प्राप्त होती है। मैं नहीं जानता कि हमारे प्राचीन जैनचार्यों ने जैन समाज के दोनों अंग श्वेताम्बर, दिगम्बर समाज में परस्पर स्वयं, सौहार्द स्थापनार्थ क्या-क्या प्रयत्न किये। मेरी यह निश्चित मान्यता है कि कई ऐसे जैनाचार्य हुए हैं जिन्होंने शान्ति

स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया किन्तु यह भी एक तथ्य है कि आज दो सहस्र वर्ष से अधिक के काल में दोनों परम्परा के पृथक् हो जाने के कारण अत्यन्त हानि हुई है। यह एक तथ्य है कि इन दोनों परम्परा में आपस में कितना कलह, कितना वैमनस्य हुआ। परिणामस्वरूप तीर्थ, मन्दिरों अन्य कई धार्मिक स्थानों के सम्बन्ध में कितनी मुकद्दमेबाजी हुई। जिसमें समाज की शक्ति, धन का विपुल परिमाण में अपव्यय हुआ। मेरी यह निश्चित मान्यता है कि यदि हमारे तत्कालीन जैनचार्यों ने इस पृथकता के विचार को प्रारम्भ से ही न पनपने दिया होता, कोई माध्यम, समन्वयात्मक मार्ग निकाला होता तो आज जैन समाज अधिक संगठित, बलशाली होता, उसकी वाणी अधिक प्रभावशाली होती। किन्तु दुर्भाग्य से ऐसा नही हो पाया। दो सहस्र वर्ष से अधिक इस लम्बे काल मे दोनों परम्पराओं के मतवैभिन्य के कारण जैन धर्म का अनुयायी जैन समाज को हम छिन्न-भिन्न अवस्था मे पाते हैं तो हृदय को बड़ी ठेस लगती है।

आज इसकी बड़ी आवश्यकता है कि हम संगठित होकर जैन धर्म के व्यापक प्रचार, प्रसार के लिये प्रयत्न करें। सब कोई जानते हैं कि आज जैन धर्म, श्रमण संस्कृति के प्राण 'अहिंसा' के विचार को देश में कितना कम महत्व दिया जाता है। भारतीय शासन अहिंसा 'तत्व' की कितनी उपेक्षा करता है किन्तु हम अपनी पृथकता के कारण सामान्य प्रश्नों पर भी एक नहीं हो पाते, न सम्मिलित प्रयत्न कर पाते हैं। मैं इसी आशा, विश्वास को अपने हृदय में संजोये हुए हूँ कि समाज में कोई ऐसा महाभाग उत्पन्न हो जो जैन धर्म की इन दो परम्पराओं को एक सूत्र में आबद्ध कर सके।

काश ! यह स्वप्न साकार हो तथा हम संगठित अखिल जैन समाज का निर्माण करके श्रमणसंस्कृति के प्रचार, प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान कर सकें ताकि देश में अहिंसात्मक विचार, आचार की प्रतिष्ठा हो और देश पुनः एक बार 'जिओ और जीने दो' का मंत्र उद्‌घोष करते हुए इसे अपने आचार में उतार सकें।

●

५

स्याद्वाद सिद्धान्त और हम

एक संस्कृत के कवि ने कहा है कि—

> **स्याद्वादो वर्तते यस्मिन् पक्षपातो न विद्यते ।**
> **नास्त्यन्यपीडनं किंचित् जैनधर्मः स उच्यते ।**

उक्त श्लोक मे कवि ने जैनधर्म की सूक्ष्म परिभाषा बतलाई हे । कवि ने बतलाया है कि जैनधर्म उसे कहते हैं जिसमें स्याद्वाद वर्तमान हो, पक्षपात किंचित न हो, और किसी अन्य को पीड़ा न पहुँचाने का सिद्धान्त वर्तमान हो। इससे विदित है कि पहली दो बातें सैद्धान्तिक है और अन्तिम तीसरी बात व्यवहारिक है । पहली दो बातें वास्तव में एक हैं जब हम स्याद्वाद के वास्तविक अनुयायी होंगे हममें पक्षपात हो नही सकता । देखना यह है कि स्याद्वाद आखिर क्या है और हमने उसे अपने जीवन मे कितना उतारा है; यही इस लेख का विषय है । 'स्याद्वाद'' प्रत्येक वस्तु को एक खास दृष्टिकोण से देखता है। यह खास दृष्टिकोण सात प्रकार से है जिसे सप्तभंगी भी कहते हैं । सात दृष्टिकोण से जो वस्तु देखी जायगी और उससे देखने का जो नतीजा मनुष्य निकालेगा वह गलत नहीं हो सकता । वह सात दृष्टिकोण कौन से है, वह लिख कर इस लेख का कलेवर बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह तो अधिकांश जैन जनता जानती ही है । मनुष्य आज किसी वस्तु को केवल एक दृष्टिकोण से देखता है और उससे जो नतीजा निकलता है वही सत्य है, इस पर हठ करता है और दूसरा मनुष्य उसी वस्तु को भिन्न दृष्टिकोण से देखता है और उसका जो मजमुई नतीजा होता है उसे संसारके सामने रखता है । इन दोनों नतीजों में कितना अन्तर होना चाहिये यह समझने की बात है । इसमें कोई शंका नहीं हो सकती कि अंतिम मनुष्य की बात ही पूर्ण सत्य होगी । हमारे यहां पर एक हाथी को अन्धे मनुष्यों को देखने की बात प्रसिद्ध ही है

जिनमें से एक एक ने भिन्न-भिन्न अवयव देखे। नतीजा यह हुआ कि प्रत्येक अन्धे मनुष्य ने हाथी के सम्बन्ध में अपनी जो धारणा बताई वह अपूर्ण रही। इन चारों मनुष्यों की बात यदि मिलाकर के एक बात समझी जावे तो वह हाथी के सम्बन्ध में सत्य धारणा कही जा सकती है। यही कथा दुनिया भर के प्रत्येक धर्म की है। दुनिया के प्रत्येक धर्म ने संसार की प्रत्येक वस्तु को अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा। नतीजा यह हुआ कि उनका निर्णय अलहृदा-अलहृदा असत्य तथा अपूर्ण रहा। जैन धर्म को इस बात का दावा है कि उसने प्रत्येक वस्तु को सप्तभंगी न्याय से देखा और उसका निर्णय सत्य तथा पूर्ण है। इस तरीके पर दुनियां के प्रत्येक धर्म को यदि पाखण्ड कहा जा सकता है और कहा ही जाना चाहिये क्योंकि उसका निर्णय एकांगी होने से असत्य तथा अपूर्ण है। जो जैनधर्म 'पाखण्डों का समूह' है क्योंकि प्रत्येक धर्म ने जो बात अलहृदा-अलहृदा कही वही बात जैनधर्म सामूहिक रूप से कहता है। वह कहता है अमुक धर्म जो बात कहता है। वह भी सच है और उससे विपरीत दूसरा धर्म जो बात कहता है वह भी सच है वह यह नहीं कहता और न इस पर इसरार करता है कि अमुक बात ही सच है। यदि जैन धर्म इस तरह कहना शुरू कर दे तो वह एकांतिक होगा जबकि जैनधर्म का दावा उपरोक्त रीति से अनेकान्तवाद का है। इस तरह जैनधर्म ने तीन सौ तिरेसठ पाखंडों का समन्वय किया है यही कारण है कि जैन धर्म की नींव इतनी गहरी है कि अतीत के अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में भी भारतवर्ष में अचल रहा जबकि बौद्ध धर्म विपरीत परिस्थितियों को सहन न कर सकने के कारण भारतवर्ष से पलायन कर गया। एक अजैन विद्वान ने कहा है कि 'स्याद्वाद एक ऐसा अभेद्य किला है, जिसके अन्दर शत्रु के गोला बारूद कार्य नहीं कर सकते' किन्तु शोक के साथ कहना पड़ता है हमारे पूर्वजों ने जिस खूबी के साथ सैद्धान्तिक दृष्टि अथवा व्यवहारिक दृष्टि से स्याद्वाद सिद्धान्त का उपयोग किया हम उसका उपयोग धार्मिक मतभेदों के सम्बन्ध में सर्वथा भूल गये। व्यवहारिक जीवन में अनजान में हम चाहे उसका उपयोग कर लेवें किन्तु धार्मिक जीवन में हम उसका उपयोग सर्वथा नहीं करते। आज हमारी जैन समाज में कितनी सम्प्रदायें है? दिगम्बर तथा श्वेताम्बर—मूर्तिपूजक सम्प्रदाय तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय के धार्मिक मतभेद कितने हैं किन्तु इन तीनों सम्प्रदायों में कोई ऐसा स्याद्वाद सिद्धान्त का सच्चा भक्त नहीं निकला जो इन मतभेदों का समन्वय कर सकता बल्कि मतभेदों की लिस्ट दिन व दिन बढ़ती जाती है। दूर क्यों जाइये, हमको अपना घर देखना चाहिये। हमारी एक सम्प्रदाय के अन्दर कितनी उप-सम्प्रदाय हैं और उनमें आपस में कितने मतभेद हैं। जब हम अपनी

उप-सम्प्रदायों का मत भेद ही दूर न कर सके तो अखिल जैन समाज के मतभेद दूर करने की बात तो समय से पूर्व होगी। कहां तो हमारे पूर्वज ३६३ मतों का समन्वय करने की सामर्थ्य रखते थे कहां हम हमारी उप-सम्प्रदाय के हास्यास्पद छोटे-छोटे मतभेद तथा इतर सम्प्रदायों के मूर्ति और मुंहपत्ति के मतभेदों का समन्वय तक नहीं कर सकते हैं। ऐसी दशा में हम कैसे आशा कर सकते हैं कि हम दुनियाँ भर के तमाम धर्मों का समन्वय करके जैन धर्म को विश्वधर्म बना सकेंगे। भगवान हमें शक्ति दो कि हम क्रमश: अपने घर के, उसके पश्चात् अपनी समाज के मतभेदों का समन्वय करके एक संगठित जैन समाज दुनियां के सामने पेश कर सकें और उसके पश्चात् दुनियां के तमाम धर्मों का समन्वय करके जैन धर्म को विश्व धर्म बना सकें।

●

६

श्रद्धा बनाम तर्क

केवल भारतवर्ष ही नहीं अपितु विश्व की दृष्टि से सन् १९६९ का वर्ष महत्त्वपूर्ण रहा है। सन् १९६९ में मानव जाति के अदम्य साहसी व्यक्तियों ने चन्द्रतल पर अपने चरण रखे यह घटना अभूतपूर्व थी। सहस्राब्दियों से जो चन्द्रमा मानव जाति के लिये रहस्य पूर्ण था। मानव केवल धर्म शास्त्रों के ग्रन्थों से उसका चमत्कार पूर्ण वर्णन पढ़ या समझकर संतोष करता था अथवा कवियों द्वारा वर्णित उपमाओं से मनोरंजन कर लेता था। उसी चन्द्रमा का रहस्य मानव जाति के इन सपूतों ने उद्घाटित कर दिया। इस घटना से जैन तथा जैनेत्तर श्रद्धाशील समाज में यह प्रश्न विचारणीय हो गया कि धर्मग्रन्थों में चन्द्रमा के सम्बन्ध में जो वर्णन हम पढ़ते आ रहे थे वह आलंकारिक था या अतिशयोक्तिपूर्ण था या काल्पनिक ? जैन समाज के उद्भट विद्वान, कवि श्री अमरचन्द्र जी के प्रवचन के आधार पर, "अमरभारती" मासिक के फरवरी १९६९ के अंक में "क्या शास्त्रों को चुनौती दी जा सकती है ? शीर्षक से एक लेख-प्रकाशित हुआ था। उक्तप्रवचन लेख अत्यन्त सार गर्भित, तार्किक दृष्टि सम्पन्न संतुलित विचारधारा पूर्ण था। जिसमें यह मत प्रतिपादित किया गया था कि जिन जैन ग्रन्थों में सूर्य, चन्द्र सम्बन्धी वर्णन है, वह ग्रन्थ हैं—उनको शास्त्र नहीं कहा जा सकता। उसमें आध्यात्मिकता नहीं है। शास्त्रों को चुनौती नहीं दी जा सकती। इस प्रवचन लेख से समाज के स्थिति-पालक सज्जनों में खलबली मच गई और विभिन्न प्रकार की अनुकूल प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। मैंने उक्त प्रवचन लेख तथा अनुकूल प्रतिकूल प्रतिक्रिया को सूक्ष्म रीति से अवलोकन किया। उसके पश्चात् कविजी का एक लेख "अमरभारती" के सितम्बर ६९ के अंक में "पर्युषण पर्व और केश लोच" शीर्षक से प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने सप्रमाण यह मान्यता प्रस्थापित की कि पर्युषण कब किया

जाना चाहिये तथा क्या विशेष स्थिति में भी केशलोच अनिवार्य है ? आदि। उसके कुछ समय पश्चात् "अमरभारती" के नवम्बर ६६ अंक में 'क्या विद्युत में अग्नि है ? शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ। जिसमें बहुचर्चित ध्वनि वर्धक यंत्र के उपयोग के प्रश्न पर भी प्रकाश डाला गया। इन उपरोक्त लेखों ने समाज को झकझोर दिया। एक क्षेत्र में कवि जी के उपरोक्त विचारों की कटु आलोचना हुई, उन पर वह आरोप लगा कि वह समाज में धर्मशास्त्रों के प्रति-अश्रद्धा फैला रहे हैं। दूसरे क्षेत्र में यह प्रतिक्रिया भी व्यक्त की गई कि कवि जी के विचारों की छानबीन होकर उसका मूल्यांकन होना चाहिए। मुझे स्मरण आता है 'यूरोप में ईसाई पादरियों की मान्यता के विरुद्ध जब वैज्ञानिकों ने सूर्य और पृथ्वी के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये थे उस समय उनको राज्य तक का कोप भाजन होना पड़ा था। क्योंकि राज्य पर ईसाई पादरियों का प्रभाव था, ऐसी दशा में कवि जी के सम्बन्ध में विपरीत प्रतिक्रिया होती है तो आश्चर्य की बात नहीं है। मेरे अपने विचार में जिस प्रकार आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व जैन धर्मान्तर्गत गुजरात के सद्गृहस्थ लोकाशाह ने तत्कालीन प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध मुख्यतः आचारक्रान्ति की थी। उसी प्रकार कविजी के द्वारा प्रचलित मान्यताओं के सम्बन्ध में विचार तथा आचार क्रान्ति का सूत्रपात हुआ है और इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही है। इसमें सन्देह नहीं है कि समाज का जो वर्ग निहित स्वार्थ का हामी है, अत्यन्त श्रद्धा शील है। वह इस स्थिति से अत्यधिक बैचैन होते हैं उनकी मान्यता है कि महापुरुषों के वचनों का जो तात्पर्य भूतकाल में समझा जाता रहा है वही शाश्वत सत्य है। उसकी व्याख्या (जो उसके हार्द के निकट ही क्यूं न हो) करने से धार्मिक मान्यताएँ तहस-नहस हो जावेंगी। उन्होंने मनुष्य के हृदय का, मस्तिष्क का सामन्जस्य करने का प्रयत्न नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं है कि मनुष्य जीवन में श्रद्धा का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु श्रद्धा का तात्पर्य अन्धश्रद्धा या अन्ध-विश्वास कदापि नहीं है। श्रद्धा जो पर्याप्त छान बीन के पश्चात् मनुष्य के हृदय में स्थान पावे वही सच्ची श्रद्धा है। इसलिये 'सद्धा परमदुल्लहा' जैसे वाक्य का निर्माण हुआ। श्रद्धापरमदुल्लभं इसलिये है कि वह छान बीन करके प्राप्त की जाती है। छान बीन से मेहनत मशक्कत पड़ती है। केवल यह कह देने से काम नहीं चलेगा कि 'संशयात्मा विनश्यति' अथवा सम्यकत्व नष्ट हो जाने का हव्वा खड़ा कर देने, पापभीरू व्यक्ति को परलोक बिगड़ने का भय बता देने से आज का जिज्ञासु भयग्रस्त नहीं होगा। जैसा कि एक विद्वान ने कहा था (धर्मस्य मूलं जिज्ञासा-धर्म का मूल जिज्ञासा है।) वास्तव में श्रमण संस्कृति (जिसमें जैन-बौद्ध दोनों सम्मिलित है) में सम्यक् शब्द

बड़ा महत्वपूर्ण है, मेरी अल्पमति में सम्यक् शब्द से तात्पर्य जैसे का तैसा, दर्पणवत् है। यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को दर्पण में देखना चाहता है तो दर्पण कोई पक्षपात नहीं करेगा। इसी प्रकार शुद्ध निष्कपट, निष्पक्ष दृष्टि की अपेक्षा है। सम्यक् दृष्टि का महत्व बताते हुए एक जैनाचार्य ने ठीक ही कहा था 'मिथ्यादृष्टि परिग्रहित्वा सम्यक् श्रुतमपि मिथ्याश्रुतं भवति' तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपनी प्रज्ञा का उपयोग करते रहना चाहिए। यह वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसी कारण जैनाचार्य ने यहाँ तक कहा कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

मनुष्य को दर्पण में किसी वस्तु का आकार प्रकार देखने के लिये चक्षु की आवश्यकता होती है वही मनुष्य की प्रज्ञा है। यदि चक्षु नहीं है तो मनुष्य वास्तविक तात्पर्य से वंचित रहेगा।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिस्यति॥

शास्त्रकारों ने भी मनुष्य से अपेक्षा की थी कि—

पन्ना समिक्खए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छयं।

इस पृष्ठभूमि में हम यह अनुभव करेंगे कि हमारे शास्त्रों के वचनों के नाम पर जो मान्यताएँ समाज में, श्रमण वर्ग में प्रचलित हैं, उनमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता है?

वास्तविकता यह है कि सत्य एक अखंड, अनादि, अनन्त तत्व है। उसके दर्शन इस विश्व में होने वाले महापुरुषों को होते हैं चाहे उसे अवतार, तीर्थंकर पैगम्बर कुछ भी कहा जावे। जो महापुरुष जिस देश में उत्पन्न होता है उस देश की पूर्व स्थिति, इतिहास आदि सबका प्रभाव उसके मन मस्तिष्क पर होता है। परिणामस्वरूप उसके उपदेश, उसके विचार भी उस स्थिति से प्रभावित होते हैं। इस कारण जिस महापुरुष के वचनों, उपदेश की व्याख्या उस का तात्पर्य समझना हो तो उस देश की स्थिति, इतिहास को भी ध्यान में रखना होगा। इसी स्थिति को जैन पारिभाषिक शब्दों में द्रव्य,क्षेत्र, काल, भाव कहा जाता है, इस सब के अतिरिक्त शाश्वत सत्य भी होता है जिस पर द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव का कोई प्रभाव नहीं होता। महापुरुषों के उपदेशों व उनकी व्याख्या पर काल के कारण विकृति भी आ जाती है। जिस भावना से महापुरुषों ने उक्त उपदेश दिया था वह भावना काल-यापन के साथ समाप्त हो

जाती है, या उसमें विकृति आ जाती है। इसी कारण श्रमण संस्कृति में शास्त्र वचन के स्थान पर उसके Essense का अधिक महत्व है, तीर्थंकरों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि :—

अत्थं भासई अरहा, सुत्तं गुत्थंति गणहरा निऊणा।

यदि हम सहस्राब्दि पूर्व महापुरुषों के कहे हुए वचनों का जो तात्पर्य विकृति के कारण हमारी पुरानी या वर्तमान पीढ़ी समझ रही है। यदि उस विकृति को दूर न करें, या युगानुकूल व्याख्या न करें, या उस उद्देश्य के हार्द को ध्यान में न रखकर केवल शब्दों का मोह रखें तो हम उस महापुरुष के साथ न्याय न कर सकेंगे। यदि कोई मकान ६ मास तक बन्द रखा जावे तो उसमें गर्द, गुबार ही इकट्ठा हो जावेगा। इसलिये यह महापुरुषों की इस धरोहर पर वैचारिक मन्थन सदैव होते रहना चाहिये।

भारतवर्ष में आज जो साहित्य उपलब्ध है उसमें प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद है। यह तथ्य भी सर्वविदित है कि ब्राह्मण-संस्कृति के अनन्य पोषक वैदिक साहित्य है। वेद कालीन साहित्य अथवा ब्राह्मण संस्कृति में यज्ञ-याग कर्मकांड तथा जन्मना वर्ण का प्राबल्य रहा है। यज्ञ में पशुओं को होम दिया जाना एक साधारण घटना थी। इसके लिये यज्ञ कर्ता राजा द्वारा देश में कृषि योग्य पशुओं तक को पकड़ लिया जाता तथा इस प्रकार कृषक वर्ग त्राहि-त्राहि कर रहा था। जन्मना वर्ण के नाम पर ब्राह्मण जाति का सर्वस्व शिखर पर था। ब्राह्मण उस काल में एक Privileged Caste थी। इस स्थिति में वैचारिक क्रान्ति महर्षि दयानन्द ने की जो आज की पीढ़ी के अधिक निकट थे। उन्होंने तत्कालीन ब्राह्मण जाति तथा रुढ़िग्रस्त समाज का घोर विरोध सहन करके भी यज्ञ-याग की व्याख्या 'अनाज परक' की तथा इस प्रकार अहिंसा की बात को पुष्ट किया। इसी प्रकार जन्मना जाति के आधार पर कर्मणा जाति के विचार को महत्व दिया। हालांकि इसके पूर्व भी उपनिषद् काल में भी इस प्रकार की वैचारिक क्रान्ति की गई। स्वयं महाभारत तथा गीता (जिसे उपनिषदों का सार कहा जाता है) में भी इस प्रकार के विचार पल्लवित हुए हैं। किन्तु जिस तीव्रता के साथ महर्षि ने अपने विचार देश के सम्मुख रखे तथा उन विचारों के प्रचार, प्रसार तथा तदनुकूल आचरण के लिये समाज की स्थापना की उसके कारण महर्षि एक प्रकार से सक्रिय वैचारिक क्रान्ति के जन्मदाता सिद्ध हुए।

ब्राह्मण संस्कृति के विभिन्न कर्मकांड, यज्ञ, याग का महाभारत तथा श्री भगवत्गीता में आत्मलक्षी अर्थ करके अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त किया

गया। यही नहीं अपितु जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर तथा उसके पूर्ववर्ती २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ ने भी यज्ञ-याग का आत्मलक्षी अर्थ करके जहाँ अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त किया वहीं वैचारिक क्रान्ति का भी सूत्रपात किया। यह सब भलीभांति जानते हैं कि भगवान पार्श्वनाथ के शासन काल में चातुर्याम धर्म था जिसका तात्पर्य यह है कि चतुर्थ महाव्रत का स्वतंत्र अस्तित्व नही था। सम्भवतः स्त्री भी एक प्रकार से पुरुष की सम्पत्ति मानली गई थी। या समाज में इस प्रकार की मान्यता थी कि स्त्री एक सम्पत्ति है और इस प्रकार चतुर्थव्रत का समावेश पंचम महाव्रत अपरिग्रह व्रत में कर लिया जाता था। आज की इस २०वीं शताब्दि के युग में चाहे यह विचार प्रतिगामी तथा दकयानूसी लगें किन्तु यह एक तथ्य था कि भगवान महावीर ने स्त्री के स्वाभिमान की रक्षा की और इस अमानवीय विचार को तिलांजलि देकर उसके पृथक, स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया, तथा पंच महाव्रत का विधान किया। भगवान महावीर ने अपने संघ में स्त्री को समान दर्जा देकर महिला समाज के प्रति जो सम्मान प्रदर्शित किया है वह उनकी वैचारिक क्रान्ति का अपूर्व उदाहरण है। तत्कालीन सामाजिक मान्यता, तत्कालीन धर्म प्रचारिका महात्मा गौतम बुद्ध की स्त्री के प्रति आशंका का भाव, इस सब विपरीत स्थिति के बाद भी भगवान महावीर का यह कदम साहसपूर्ण था। तात्पर्य यह कि वैचारिक क्रान्ति की प्रक्रिया शताब्दियों से हमारे इस देश में चल रही है।

अन्त में इस वैज्ञानिक तर्क-प्रधान युग में आज इस बात की बडी आवश्यकता है कि धार्मिक क्षेत्र मे प्रचलित अन्धश्रद्धा, अन्ध विश्वास तथा तज्जनित अविचार पूर्ण मान्यताओं पर विचारक, शास्त्रज्ञ विद्वद्वर्ग पुनर्विचार करें तथा समाज को मार्गदर्शन दें, ताकि समाज में व्याप्त वैचारिक जड़ता, अनुदार, संकुचित वृत्ति का अंत हो सके और सारा देश निम्न विचारों का हामी हो सके।

विश्वसमन्वय अनेकान्तपथ, सर्वोदय का प्रतिपलगान।
मैत्री करुणा सब जीवों पर, जैनधर्म जग ज्योति महान्॥

७

धर्म और विज्ञान

इस अखिल विश्व में यदि कोई शाश्वत तत्व अनादि, अनन्त है तो वह सत्य ही है।। इस अनादि अनन्त विश्व में मानव सदैव सत्य का अन्वेषक रहा है और उसने सत्य की खोज में पीढ़ियां व्यतीत कर दी, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि सत्य की खोज समाप्त हो चुकी अथवा सत्य अन्तिम रूप से मनुष्य पा चुका है। वास्तव में बात यह है कि सत्य भी एक अनत्त तत्व है। मनुष्य को भगवान् सत्य का साक्षात्कार उसकी अपनी बुद्धि-प्रज्ञा की ग्रहण शक्ति के अनुरूप होता है। इसी कारण जब मनुष्य अपने अनुभूत सत्य को विश्व के सन्मुख प्रक शित करता है तो वह अपनी सीमित अनुभूति की बात कहता है। इसी का परिणाम यह हुआ कि इस प्रकार के वचनों में विभिन्नता हुई। विश्व के महापुरुषों ने अपने-अपने समय में जिस सत्य का साक्षात्कार किया वही उन्होंने मनुष्य जाति को भेंट किया। बहुत अधिक सीमा तक वह आंशिक सत्य था और विशिष्ट दृष्टिकोण पर आश्रित था। बिरले महापुरुष हुए उन्होंने इस आंशिक सत्य को अपूर्णता बताकर समन्वय का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

वास्तव में सत्य व्यक्ति, समाज, देश निरपेक्ष होता है। उसकी साधना, उनका प्रयोग, एक तपस्या है। यदि हम गहराई से विचार करें, तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि सत्य ही धर्म की जड़ है। विश्व में धर्म-संस्था सत्य को रक्षण देने के लिए ही हुई है। महाभारत में एक प्रसंग में एक शिष्य के प्रश्न के उत्तर में कहा गया है:—

> सत्येनोत्पद्यते धर्मः, दया - दानेन वर्धते।
> क्षमया च स्थाप्यते धर्मः, क्रोध-लोभाद् विनश्यति।।

सत्य से ही धर्म की उत्पत्ति होती है और दया दान से उसकी वृद्धि होती है। क्षमा से उसमें स्थायित्व आता है और क्रोध,लोभ से उसका नाश हो जाता

है। ऐसे महान तत्व सत्य की उपासना, उसका आग्रह, जिन-जिन महापुरुषों ने किया है, वह हमारे प्राचीन तथा अर्वाचीन युग की विभूति है।

प्राचीन पौराणिक ग्रन्थों में प्रह्लाद का एक प्रसंग है। जिसमें उसने पिता की अनुचित, धर्म-विरुद्ध आज्ञा की अवमानना करके सत्य की उपासना की थी। अर्वाचीन युग में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने विदेशी शासन से देश को मुक्त कराने, अन्याय, अत्याचार का मुकाबला सत्याग्रह के द्वारा किया। पूज्य बापू ने सत्य की अनुभूति की और उसका आचरण किया। अन्याय का प्रतिकार प्रेमपूर्वक किया। विज्ञान स्वयं सत्य की ही उपासना है, सत्य की खोज है। विज्ञान की खोज ने विश्व के रहस्यों को उद्घाटित किया है तथा मानव-समाज के सन्मुख समृद्धि का भण्डार खोल दिया है।

सत्य, सत्य की खोज, सत्याग्रह यह सब धर्म के अंग है। धर्म और दर्शन जहाँ मानव की अन्तश्चेतना को जाग्रत करता है, अन्तर में सद्-असद् विवेक बुद्धि जागृत रखता है वहाँ विज्ञान दृश्यमान जगत के रहस्य को उद्घाटित करता है। यदि हम गहराई से देखें तो पता चलेगा कि धर्म तथा विज्ञान में कोई विरोध नही है, अपितु वे एक दूसरे के पूरक हैं। इस दृष्टिकोण से मेरा यह मत है कि नया मानव जहाँ सत्याग्रही तथा वैज्ञानिक होगा, वहाँ पहले धार्मिक होगा। इसमें सन्देह नहीं है। जब मैं धर्म की बात करता हूँ, तो मेरा तात्पर्य किसी विशिष्ट नाम अथवा रूढ़िग्रस्त धर्म से नहीं है अपितु मेरा तात्पर्य ऐसे सार्वभौम धर्म से है, जो शाश्वत है। द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि का कोई प्रभाव जिस पर नहीं है। वास्तव में आज धर्म के नाम पर बाह्य कर्मकाण्ड ही प्रचलित है। इसी कारण धर्म जहाँ मानव का उद्धारकर्ता था वहीं आज मानव में संकुचित भावना उत्पन्न करने वाला बन गया है। विभिन्न धार्मिक मान्यतायें मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई उत्पन्न करने का काम करती हैं, जबकि धर्म का काम मनुष्य के हृदय की पवित्रता स्थापित करना था। मन्दिर,मस्जिद, गिरजा आदि सब साधन थे, साध्य नही थे, किन्तु मनुष्य ने उनको साध्य मानकर उसके लिये अपने साथी मनुष्य का गला दबाने में भी परहेज नहीं किया।

आज मानव जाति धर्म, धार्मिक-भावना से रिक्त है। खलील जिब्रान के शब्दों में—

"उस कौम पर तरस खाओ जो विश्वासों से भरी है किन्तु धर्म से खाली है।"

यदि आज की वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि आज का युग राजनीति-प्रधान हो गया है। धर्म संस्था विज्ञान सब उसके

गुलाम बन गये हैं। महाभारत के प्रसंग के अनुसार आदर्श राज्य की कल्पना यह थी कि—

न राज्यं न राज्यासीनं न दण्डो न दाण्डिकः
धर्ममेव प्रजा सर्वः रक्षंतु स्व-परस्परम् ॥

धर्म, धार्मिक आदर्श के द्वारा मनुष्य के अन्तर को इतना जागृत कर देने का सङ्कल्प था कि उसके परस्पर के सब व्यवहार धर्म के आधार पर स्वतः प्रेरित चलते रहें। राज्य, दण्डिक, दण्ड की आवश्यकता न हो। किन्तु राज-नीति प्रधान इस युग ने परिस्थिति में आमूल परिवर्तन कर दिया है। धर्म, जो मनुष्य के अन्तर तक को जागृत करके स्वयं पर स्वयंप्रेषित नियन्त्रण करके समाज का संचालन करना चाहता था। वही राज्य द्वारा आश्रित बनता जा रहा है। यूरोपीय देशों में धर्म संस्था एक प्रकार से राज्याश्रित बन गई थी। अनुभव यह बताता है कि जो धर्म राज्याश्रयी बना उसका पतन भी वहाँ से प्रारम्भ हो गया। विज्ञान, जो मानव जाति के सुख समृद्धि, विश्व-रहस्य को प्रगट करने की सद्भावना लेकर आया, राज्याश्रित हो गया। फलतः विज्ञान कई अंशो मे वरदान के बजाय अभिशाप बना। नरसंहार को उसने सुगम कर दिया। यदि सच पूछा जावे तो राजनीतिज्ञ politician इस विश्व को संहार के रास्ते पर ले जाने का श्रेय प्राप्त कर रहे हैं। उन्होंने एक ऐसा आशियाना बनाया है जो कमजोर वृक्ष की कमजोर टहनी पर टिका है।

यदि हम स्वतन्त्रयोत्तर काल तथा उसकी घटनाओं पर सूक्ष्मता से अव-लोकन करें तो राजनीतिकों ने जहाँ उनके हाथ में सत्ता थी सत्याग्रह रूपी धर्म को प्रजातन्त्र में अनुपयुक्त प्रतिपादित किया, जहाँ उनके हाथ में सत्ता नहीं थी वहाँ उक्त धर्म की पवित्रता नष्ट की। वास्तविकता यह थी कि गांधी-युग में साध्य की पवित्रता के साथ साधन की पवित्रता की अनिवार्य शर्त थी, वह स्वातन्त्र्योत्तर काल मे लुप्त होती गई। आवश्यकता इस बात की है कि सत्याग्रह की उपयोगिता और विज्ञान के दार्शनिक तथा मानवीय पक्ष का उचित मूल्यांकन कर उसे जीवन का आधार बनाने का प्रयत्न किया जाय।

८

जैन-दर्शन में ईश्वर

जैन दर्शन मे 'ईश्वर' का कोई स्थान है या नहीं ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है किन्तु इस प्रश्न पर कोई मत प्रतिपादित करने के पूर्व यह आवश्यक है कि 'ईश्वर' शब्द से क्या तात्पर्य है ? इसका विश्लेषण किया जाय। वास्तव में ईश्वर, भगवान परमेश्वर आदि पर्यायवाची शब्द है। एक संस्कृत के कवि ने 'भगवान' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा था कि--

> **ऐश्वर्यस्य, समग्रस्य, धर्मस्य, यशसः श्रियः।**
> **ज्ञानवैराग्ययोश्चैव, षण्णां 'भग' इतिस्मृतः ॥**

तात्पर्य यह है कि 'भग' शब्द में ऐश्वर्य, समग्रता, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य इनका समावेश होता है। इस प्रकार इन छः ऐश्वर्यों से युक्त को 'भगवान' कहा जा सकता है। यही भाव 'ईश्वर' शब्द से है। ऐश्वर्यवान् (साहबे औसाफ) को ईश्वर कहा जाता है। जिस प्रकार भौतिक ऐश्वर्य से युक्त को ईश्वर कहा जाता है। जिस प्रकार भौतिक ऐश्वर्य से सम्पन्न को 'साहबे जायदाद' कहा जाता है इसी प्रकार आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक ऐश्वर्य से युक्त को ईश्वर (साहबे औसाफ) कहा जा सकता है। विश्व मे प्रचलित धर्मों में ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं का यदि हम विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होगा कि कुछ धर्मों मे ईश्वर को रचयिता, नियामक माना जाता है कुछ में उसे प्राणियों के भले-बुरे कर्मों का निर्णायक मानकर दण्डदाता या पुरस्कारदाता के रूप में माना जाता है या उसे दयालु मानकर क्षमादात के रूप में चित्रित किया जाता है। कुछ में ईश्वर केवल साक्षीरूप माना जाता है। यदि हम वैदिकयुग की मान्यता पर दृष्टिपात करें तो यह ज्ञात होगा कि उस काल में विश्व की अज्ञात प्राकृतिक शक्तियों (मानव समुदाय का उपकार करने वाली, सहायता प्रदान करने वाली या भयानक, सभी शक्तियों) मे मानव

ने 'देवत्व' का आरोपण करके बहु-देववाद की स्थापना की। हम देखते हैं कि उस काल में मानव को दैवी-आपत्तियों का सामना करना पड़ता था, वैज्ञानिक आविष्कार नहीं हुए थे, प्रकृति के रहस्यों से वह वाकिफ नहीं था। इस कारण इस प्रकार की शक्ति में देवत्व की कल्पना मानव-समाज की सहज स्फुरण भावना का प्रतीक है। जैसे-जैसे मानव का वैचारिक स्तर उन्नत हुआ वैसे-वैसे उसने एक ब्रह्म की कल्पना की। उसी को जगत् का मूलाधार माना। समस्त प्राणिजगत् उसी ब्रह्म का प्रतिरूप है। तात्पर्य यह है कि वैदिक परम्परा में द्वैतवाद तथा अद्वैतवाद के निरूपण के साथ ब्रह्म और जीवन के पृथकत्व तथा एकत्व की मान्यता प्रचलित हुई। अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य शंकर ब्रह्म को निर्गुण तथा द्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य रामनुज ब्रह्म को सगुण मानते हैं।

यह एक संयोग की बात है कि विश्व के लगभग सभी धर्माचार्य एशिया में हुए जिनमे कुछ एकेश्वरवाद के हामी तथा कुछ बहुदेववाद के हामी थे। कुछ के निकट ईश्वर का स्वरूप निराकार तथा कुछ के निकट साकार स्वरूप था। जो धर्माचार्य ईश्वर अथवा भगवान के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे उनके मत मे भी समष्टि को नियमित करने वाली किसी शक्ति का अस्तित्व अवश्य था, चाहे उनको 'दैवी शक्ति' (Spirit) के नाम से पहचाना जाये या किसी और नाम से यह प्रश्न गौण था। वैदिक परम्परा के अतिरिक्त इस्लाम एकेश्वरवाद का हामी था। इस्लाम का पवित्र कलमा 'ला इलाहा इलिाह मुहम्मुर्दसुलिल्लाह' है जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर केवल एक है और हजरत मुहम्मद उसके रसूल है पैगम्बर हैं, उसके सन्देशवाहक हैं। इस्लाम में ईश्वर के अतिरिक्त किसी और शक्ति की मान्यता 'शिरकत' कहलाती है। और इस मान्यता का जबरदस्त विरोध है। सूफी मत के सन्त ईश्वर तथा सांसारिक जीवों के मध्य 'द्वैत' का एक पर्दा मानते है जहाँ वह पर्दा (आवरण) हटा कि सासारिक जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। कहा गया है कि---

महबूब मेरा मुझ में है, मुझको खबर नहीं
ऐसा छिपा है पर्दे में, जो कि आता नजर नहीं।
शौक है दीदार का तो नजर पैदा कर।।

इसके अतिरिक्त सूफी संत, मानव के अंतरतम में ही ईश्वरीय प्रकाश (जलवा) का अस्तित्व मानते थे—

दिल के आईने में है तस्वीरे यार।
जब जरा गरदन झुकाई, देख ली।।

साथ ही ईश्वर को सर्वव्यापी मानते थे तथा वेदान्त की अद्वैत परम्परा के अनुसार अनलहक (अहं ब्रह्मास्मि) का नाद करते हुए ईश्वरीय प्रेम में मस्त रहते थे ।

जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है ।

और

आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं ।
लेकिन खुदा के नूर से, आदम जुदा नहीं ।।

एक प्रसिद्ध सूफी संत सरमद का वाक़आ बहुत प्रसिद्ध है जो अपनी ईश्वरीय प्रेम में मस्त जिन्दगी व्यतीत करता-करता दिल्ली पहुँचा । उस काल में दिल्ली के तख्त पर एक धर्मान्ध बादशाह औरंगजेब का शासन था । सरमद अपनी मस्ती में 'अनलहक' की आवाज लगाता घूम रहा था । बादशाह ने उसे कई बार चेतावनी दी थी कि वह इस तरीके से बाज आजाय । बादशाह के निकट यह कुफ्र था किन्तु संत अपनी मस्ती में उतना तल्लीन था कि उसकी इस बात पर ध्यान देने का समय ही नही था । अंततोगत्वा बादशाह ने संत को मृत्यु दण्ड दिया उस समय के उसके वाक्य, उसकी मस्ती, तल्लीनता का स्पष्ट दिग्दर्शन करते हैं :—

वजूमे इश्क तो अम भी कुशंद मोंगा अस्त ।
तो नीज़ वस्सरे बाम, आंकि खुद तमा रास्त ।।

मुझे तेरे इश्क में मारा जारहा है । जरा अटारी पर चढ़कर देख, कैसा तमाशा हो रहा है ।

इसके अतिरिक्त निर्गुणी सन्तों में कबीर का स्थान सर्वोच्च है जिसने ईश्वरीय प्रेम में अपने को आपाद मस्तक गर्क कर लिया था और उसी मस्ती में उसने 'अनहदनाद' सुना था और उसी मस्ती मे मुल्ला, मौलवी, पंडित जैसी धर्मोन्मादी संस्थाओं पर तीखे व्यंग करके उनकी निःसारता प्रगट की थी । इसी प्रकार के एक मस्त विचारक ने कहा था :–

किसी का राम काशी में, किसी का है मदीने में ।
किसी का जन, जमी, जर में, किसी का खाने पीने में ।
कोई कहता गया में है किसी का योरोशलम में है ।
'प्रेमानन्द' राम अपना था तो हरजा है या सीने में है ।

वास्तविक रूप में मनुष्य स्वयं परमात्मस्वरूप है उसका स्थान मनुष्य का हृदय है वह सर्वव्यापी है । किन्तु जहाँ इस्लाम अपनी मान्यता पर इतना दृढ़

था कि ईश्वर (अल्लाह) को लाशरीक कहता था उसी में कई ऐसे शायर हुए कि जिन्होंने ईश्वर की दयालुता का वर्णन करते हुए उसको चाटुकारिता के समकक्ष माना। उदाहरणस्वरूप :---

तेरे करम के भरोसे पर हश्र में या रब
गुनाह लाया हूँ और बे-हिसाब लाया हूँ।

और

गया शैतान मारा एक सिजदे के न करने पर
दोजख सही पै सर का झुकाना नहीं अच्छा।

और इसी कारण शायर ने सख्त मजाक करते हुए लिखा था :

हुआ है चार सिजदों पर यह दावा जाहिदो तुमको।
खुदा ने क्या तुम्हारे हाथ जन्नत बेच डाली है।।

इस भूमिका के परिप्रेक्ष्य में यदि हम जैन दर्शन के तत्वज्ञान पर दृष्टिपात करते हैं तो यह स्पष्ट जाहिर है कि उपरोक्त किसी भी रूप में ईश्वर की मान्यता यहाँ पर नही है। जहाँ तक सृष्टि कर्ता तथा कर्मफलप्रदाता का रूप है, जैन धर्म स्पष्ट रूप से इन्कार करके बताता है कि यह सारा विश्व कार्य-कारण के आधार पर अनादिकाल से चला आ रहा है तथा अंतहीन है (Beginningless and endless) विश्व मे कभी प्रलय नही हो सकती। जो सत् है वह कभी असत् नही हो सकता। यह पृथक बात कि द्रव्य से पर्याय में रूपान्तर हो जाय। कहा गया है :—

नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः ।।

केवल जैन धर्म ही नही, वैदिक परम्परा मे भी कई ग्रन्थों में ईश्वर को विश्व का नियन्ता या कर्मफलदाता नही मानते हुए 'स्वभाव' के कारण ही इसका अस्तित्व माना है जैसा कि श्रीमद्भागवत गीता में कहा गया :—

न कर्तव्यं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु।
न कर्मफलसंयोगः स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।
नादत्ते कस्य चित्पापे न कस्य सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः ।।

जैन दर्शन का विश्वास है कि प्राणी स्वयं अपने कर्म करने में स्वतंत्र है तथा भले बुरे कर्मों के कारण वह पुन्य-पाप का बंध करता है। वास्तव में ईश्वर नाम की कोई शक्ति न तो न्यायदाता (जज) का कार्य करती है न उसकी दयालुता किसी को भले-बुरे कर्मों से क्षमा प्रदान कर सकती है न किसी

ईश्वर में यह शक्ति है कि वह उसके नाम-स्मरण या नाम-जप से प्रसन्न होकर उसे क्षमा प्रदान कर सके। तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन की समष्टि निर्माण, कर्मफल की मान्यता अत्यन्त तर्कपुरस्सर है और आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि समष्टि का निर्माण कार्य-कारण Law of causes and effect के आधार पर ही हुआ है। वास्तव में जैन धर्म में ईश्वर के किसी अवतार धारण करके विश्व में अवतरित होने की मान्यता का स्थान नहीं है। वह ईश्वर का मानवीय रूप Personalised godhood स्वीकार नहीं करता। उसके निकट मौलिक रूप में विश्व का समस्त प्राणि जगत् शुद्ध-बुद्ध है। उसकी क्षमता है कि वह आत्मिक गुण या आध्यात्मिक या आधिदैविक ऐश्वर्य से महात्मा अथवा परमात्मा पद तक पहुँच सके। जैसा कि कहा गया है कि निश्चय नय की दृष्टि से प्रत्येक जीवात्मा में यह शक्ति है कि वह वास्तविक रूप से परमात्मत्व अपने मे आरोपित कर सके। अधिक उपयुक्त यह है कि "ईश्वर" शब्द के स्थान पर "परमात्मा"शब्द का प्रयोग करें। जीवात्मा अपनी आत्मिक उन्नति करते-करते महान आत्मा हो सकती है और जब सारे घातिक कर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय) क्षय करके शुद्ध-बुद्ध हो जाती है तो उसे "केवल्य प्राप्ति" हो जाती है और जब अघातिया ४ कर्म (नाम, गोत्र, वेदनीय, आयुष्य) क्षय हो जाते हैं तो वही सिद्ध है और कृतकृत्य हो जाता है। सती मदालसा का एक वाक्य प्रसिद्ध है जो वह अपने गर्भस्थ शिशु या नव-जात शिशु को अच्छे संस्कार डालने के लिए कहा करती थी --

शुद्धो ऽसि बुद्धो ऽसि, निरंजनो ऽसि

अथा अन्य दर्शनों में भी कहा गया है—

न मृत्युर्न शंका न मे जातिभेदः
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बंधु र्न मित्रं, गुरुर्नैव शिष्यं
चिदानंदरूपो शिवोऽहं शिवोऽहं।
न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्
न मंत्रं न तीर्थं न वेदार्न यज्ञा।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानंदरूपो शिवोऽहं शिवोऽहंः।

जैन धर्म में आत्मिक ऐश्वर्य या आत्मा की शुद्ध स्थिति के प्रगटीकरण के लिये जिन १४ गुण स्थानों का क्रम स्वीकार किया गया है वह अत्यन्त वैज्ञानिक

विचारसरणी है उससे जीवात्मा जो यद्यपि कर्म मल से लिप्त है वह शनैः शनैः उन्नत अवस्था को प्राप्त करती हुई अपने शिव स्वरूप को प्राप्त कर सकती है। यही ईश्वरत्व है, परमात्मत्व है। तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन में उपरोक्त अर्थों में ईश्वर का स्थान नहीं है किन्तु ईश्वरत्व का स्थान अवश्य है और Law of causes and effect Inopololised godhood. नही है अपितु प्रत्येक आत्मा निश्चय नय से शिवस्वरूप है और अपने राग-द्वेषोंसे मुक्त होकर अपने शिवत्व को प्रकट कर सकती है। जीवात्मा मे शिवत्व उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे—

यथा जलं जले क्षिप्तं, क्षीरे क्षीरं घृते घृतम्।
अविशेषो भवेतद्वद् जीवात्मपरमात्मनः॥

हमारे देश मे गत शताब्दियों में ईश्वर-सबंधी मान्यता भ्रामक हो गई और मनुष्य अपने को ईश्वराधीन मानने लगा। 'हरेरिच्छा बलीयसी' के वाक्य ने मानव को केवल नियतिवादी बना दिया। उद्यम, साहस, पराक्रम पुरुषार्थ से उनका सम्बन्ध नही रहा। ईश्वर की मर्यादा बढ़ती रही और आत्मा की घटती रही। मानव के चिन्तन में 'अमृतस्य पुत्राः' के स्थान पर 'पापो है पाप कर्मा' 'पापात्मा, पापसंम्मतः' का नाद गूँज उठा जिसने उसके आत्म-गौरव का नाश कर दिया। यह बिडम्बना रही किन्तु जैन दर्शन ने सबसे बड़ी देन यह दी थी कि उसने मानव के आत्म-गौरव की स्थापना की, देव की गुलामी से मुक्त किया 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतहरं हिं किंचित्' जैसे वाक्यों की सही-सही स्थापना की। इसी सन्दर्भ में मुझे वैशेषिक दर्शन के एक विद्वान की रोचक घटना स्मरण आती है जो जगन्नाथपुरी में दर्शन करने गया था, किन्तु असमय होने के कारण कपाट बन्द मिले तब उसने कपाट खोलने का आग्रह करते हुए कहा था :—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तते।
उपस्थितेषु बौद्धेषु, मदधीना तवस्थितिः।

—उदयनाचार्य

संभवतः इस प्रकार के उद्गार उस विचारसरणि के परिणाम थे जो जैन धर्म ने प्रवाहित की थी। मानव ने अपने आत्म-सम्मान को ध्यान में रखकर यह श्लोक कहा होगा। जैन धर्म ने स्पष्ट रूप से बताया कि मनुष्य-जन्म देवत्व से भी बढ़कर है। मानव शुद्ध, शिवत्व प्रगट कर सकता है जबकि देव को भी मोक्ष तभी मिल सकेगा जबकि वह मनुष्य जन्म ले। मनुष्य कर्म में स्वतन्त्र है किसी देव, ईश्वर की गुलामी या उसकी खुशामद की उसे आवश्यकता नहीं है।

वास्तविक रूप से देखा जाय तो एशिया ही नहीं सारे विश्व के धर्माचार्य एक प्रकार से उस दैवी सन्देश के वाहक थे। चाहे वह राम हों, कृष्ण हों, महावीर हों, ईशा, मुहम्मद, जरथुस्त्र हों। इन सबने मानव को भला बनाने, उसे उन्नत बनाने तथा अपने शुद्ध रूप में शिवत्व प्रगट करने का मार्ग बताया था। जैसाकि एक जैन अध्यात्मयोगी सन्त ने अपना मन्तव्य प्रगट करके कहा था :—

राम कहो, रहमान कहो, कोई कान्ह कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।
भोजन भेद कहावत नाना, एक मृतिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड स्वरूप री।
निजपद रमे सो राम कहिये, रहीम करे रहमान री।
करे करम कान्ह सो कहिये, महादेव निर्माण री।
परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्मरी।
इस विधि साधो, आप आनंदघन चेतन भया निकलंक री।

१

अनास्था से आस्था की ओर

मनुष्य के पास बुद्धि तथा हृदय दोनों हैं। तर्क से बुद्धि को सन्तोष होता है, जबकि श्रद्धा से हृदय को। यदि मनुष्य के पास केवल बुद्धि होती तो उसको तर्क से ही संतोष हो जाता। किन्तु प्रकृति को यह आवश्यक जान पड़ा कि वह मनुष्य जाति को बुद्धि तथा हृदय दोनों प्रदान करें और यही कारण है कि तर्क तथा श्रद्धा दोनों का ही समान महत्व है। तार्किक मनुष्य शुष्क होता है। उसके हृदय में भावना नही होती। इसी प्रकार श्रद्धालु व्यक्ति कई समय अन्ध विश्वासी होता है। मेरे निजी मत में मनुष्य को तर्क तथा श्रद्धा दोनों पर अपना आधार रखकर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपना निर्णय करना चाहिए। यह प्रश्न विवादास्पद हो सकता है कि मनुष्य किस अंश तक जीवन में तर्क को स्थान दे तथा किस अंश तक श्रद्धा को। कुछ लोग ५० प्रतिशत का आधार उचित मानते हैं। यद्यपि इस लेख मे तर्क तथा श्रद्धा के अंश का प्रतिशत निश्चित करना मेरा उद्देश्य नहीं है। तथापि मेरा यह निश्चित मत है कि मनुष्य जीवन के लिये दोनों ही अनिवार्य वस्तु है। आज विशेष कर हमारा युवक वर्ग अत्यधिक तर्क-प्रधान हो रहा है। और इस कारण समाज मे अनास्था, अश्रद्धा व अनिष्ठा का राज्य है।

किसी-किसी समय जब तर्क पर अधिक जोर दिया जाता है तो वह कुतर्क हो जाती है।

आज हमारा युवक धर्म पर अनास्था करता है उसका तर्क यह है कि हमारे धार्मिक ग्रन्थों मे कई ऐसी बातों का उल्लेख किया गया है कि जो आज के वैज्ञानिक युग में तर्क सम्मत नहीं हो सकती है अर्थात् कई असम्भव बातों का उल्लेख किया गया है। यह सत्य है कि हमारे धर्म ग्रन्थों मे भूगोल, खगोल, ज्योतिष, गणित आदि कई बिषयों का समावेश किया गया है हम इस विवाद में पड़ना नहीं चाहते कि धार्मिक ग्रन्थों में धार्मिक नियमों तथा आत्मा को

उन्नत करने के मार्ग के अतिरिक्त कोई और विषय पर उल्लेख करना आवश्यक था या नहीं। किन्तु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि धर्म सदाचार के उच्चतम नैतिक सिद्धान्तों का नाम है। धार्मिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दो मत नही हो सकते। धर्म के अलावा दर्शन अथवा दार्शनिक प्रश्न विवादास्पद होते हैं।

हमारे इस देश में प्राचीन काल में विभिन्न धर्मों की मान्यताओं के भेद का कारण दार्शनिक प्रश्न ही थे, धार्मिक नियम नहीं। ईश्वर का अस्तित्व तथा अनस्तित्व अथवा अन्य किसीप्रकार के प्रश्न शुद्ध दार्शनिक प्रश्न हैं। ईश्वर के अस्तित्व का हामी एक पुरुष यदि हिंसा, असत्य का आश्रय लेता है तो उसे कदापि धार्मिक नहीं कहा जा सकता। इसीप्रकार कोई ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करने वाला व्यक्ति धार्मिक नियमों का हृदय से पूर्णरूपेण अमल करता हो तो उसे अधार्मिक नहीं कहा जा सकता। किन्तु इससे भी बढ़कर धार्मिक ग्रन्थों में अन्य कई ऐसे विषय भी सम्मिलित कर दिये गए हैं, जिनका धार्मिक नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि हमारे धर्म ग्रन्थों में भूगोल, खगोल और ज्योतिष से सम्बन्धित किसी ऐसी बात का उल्लेख है जो आज के विज्ञान के दृष्टिकोण से सत्य ज्ञात नहीं होती तो भी धर्मग्रन्थों पर अनास्था का प्रश्न नहीं होना चाहिए। मैं तो युवक वर्ग से यही कहना चाहता हूँ कि विज्ञान की किसी मान्यता के कारण धर्म ग्रन्थों में उल्लेखित बात को असत्य करार देना, शीघ्रता का सूचक है। विज्ञान स्वयं अपूर्ण तथा शोध के स्टेज की वस्तु है। जो बात आज से पचास वर्ष पूर्व असम्भव मानी जाती थी वही आज प्रत्यक्ष सत्य नजर आ रही है।

वायुयान की ही बात को लीजिये। आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व गगन-बिहार की कल्पना नही की जाती थी। जैन शास्त्रों में वर्णित जंघाचारी, विद्याचारी मुनियों की कथा अथवा तुलसीकृत रामायण मे पुष्पक विमान की कथा में आकाश में उड़ने की बात कही गई थी। मनुष्य उस पर विश्वास नहीं करता था। किन्तु इन ४०-४५ वर्षों में गगन-बिहार प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। इसके अतिरिक्त प्राचीन शास्त्रों में वर्णित बातों में जो संख्या बताई गई है, उसके सत्य या असत्य होने का निर्णय करते समय हमें इस बात का भी विश्वास करना पड़ेगा कि क्या उस समय की परिभाषा वर्तमान की परिभाषा के समान थी? यह बात बुद्धि को नहीं जंचती है। मेरे मत में समय के प्रभाव से यह भिन्नता अवश्य रही है। आज ३६५ दिनों का एक वर्ष माना जाता है। सम्भव है कि कई हजार वर्ष पूर्व एक वर्ष में इससे कम दिन की गणना की जाती हो।

इसी प्रकार आज का युवक प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित कथा साहित्य को असम्भव, मानकर असत्य बताता है। जैन शास्त्रों में मनुष्य की आयु, शरीर प्रमाण आदि, जिन बातों का उल्लेख किया गया है आज का युवक उसे असम्भव बताता है और इस कारण उसे धर्म शास्त्रों पर श्रद्धा नहीं है जैसा कि इसी लेख मे अन्यत्र उल्लेख किया गया है कि सम्भव असम्भव का निर्णय मनुष्य वर्तमान काल के मानव समाज की मान्यताओं के आधार पर करता है। आगामी काल मे कभी-कभी ऐसी मान्यतायें असत्य सिद्ध हुई हैं। मेरे निजी मत मे इस प्रकार के कथा साहित्य को ऐतिहासिक सत्य की कसौटी पर जांचने की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत उस कथा के पीछे जो भावना निहित है, उस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। अधिकतः कथा साहित्य में मनुष्य को भला बनाने की भावना निहित है। यदि उस कथानायक की आयु, शरीर प्रमाण किसी व्यक्ति को ठीक प्रतीत नहीं होती हो, फिर भी उसे विस्तार की बातो पर ध्यान न देकर उस भावना को सत्य मानना चाहिए ताकि उस कथा का असली उद्देश्य पूर्ण हो सके। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्व काल मे धर्म शास्त्रों के निर्माण में अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। यदि अधिक स्पष्टता से कहा जाय तो वास्तविकता यह है कि विभिन्न धर्म शास्त्रों में अतिशयोक्ति की स्पर्धा थी। सम्भव है हमारे कथानायक के जीवन को अधिक आकर्षक व चमत्कारी बताने के लिए अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया हो। जिस समय पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में पौराणिक कथा सम्मिलित की जाती थी उस समय का यह अनुभव है कि उन कथाओं को पढ़कर बालक पर अच्छा प्रभाव पड़ता था। वह कुकर्म से भय खाता था तथा उसकी यह मान्यता बन जाती थी कि कुकर्म से दुर्गति होगी। जैन शास्त्रों में स्वर्ग का जो लुभावना तथा नरक का बीभत्स वर्णन किया गया है, उसको पढ़कर मानव समाज अच्छे कार्यों के प्रति आकर्षित होता है और कुकर्म से डरता है। यदि कोई इस पर आग्रह करे कि स्वर्ग, नर्क के अस्तित्व का निश्चय किया जावे तो हमारे मत में यह उचित नहीं होगा। जनहित की दृष्टि से तथा मानव कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि रहस्य, रहस्य ही रहे। प्रत्येक वस्तु की ऐतिहासिकता जांचने तथा सत्यासत्य का निर्णय करने पर जिद् की गई तो सम्भवतः हम किसी निश्चय पर नहीं पहुँचेंगे और हानि यह होगी कि मानव कुकर्म के प्रति भय रहित हो जावेगा। जिस मनुष्य को ज्ञानदान दिया जावे उसकी पात्रता देखना भी आवश्यक है। यदि किसी मूढ़ या दुष्ट व्यक्ति को यह विश्वास करा दिया जाय कि स्वर्ग नर्क, केवल कल्पना की वस्तु है, तो निश्चय रूप से वह कुकर्म के प्रति प्रेरित होगा तथा भय-रहित होकर अधार्मिक कृत्य करेगा। हमारे

धर्माचार्यों ने पूर्वकाल में किसी विशेष कारण से कुछ रहस्यों को रहस्य ही रहने दिया। उसमें जन कल्याण की भावना निहित थी। आज मानव समाज रहस्य का पर्दाफास कराकर उच्छृंखल होना चाहता है। हम किसी बड़े व्यक्ति के सम्बन्ध में कोई अनुचित बात सुनकर उस पर सहसा विश्वास करते हैं तथा सम्बन्धित व्यक्ति के प्रति अनास्था प्रकट करते हैं। हृदय में सुप्त बुराई-प्रियता इसका कारण है। आवश्यक है कि हम अनास्था के स्थान पर आस्था का राज्य स्थापित करें। हम मोक्ष मार्ग के त्रिरत्नों में से सम्यक् दर्शन पर अत्यधिक बल देकर श्रद्धा व आस्था का वातावरण प्रस्थापित करने में सहायक हों ? क्योंकि मेरा यह नम्र किन्तु निश्चित मत है कि आज का युवक समाज जिस द्रुत गति से अनास्था की ओर बढ़ता जा रहा है यदि यही स्थिति कायम रही तो मानव समाज की प्रगति अवरुद्ध हो जावेगी। श्रद्धा व आस्था का वातावरण स्थापित करने से मेरा तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि तर्क को विदा करके अन्ध-विश्वास का वातावरण स्थापित किया जावे अपितु मेरा मन्तव्य तो यह है कि तर्क और श्रद्धा का सम्मिश्रण होना अति आवश्यक है। और मानव समाज मे इस प्रकार का तर्क एवं श्रद्धा का सम्मिश्रित वातावरण स्थापित होने पर ही मानव समाज के कल्याण की आशा की जा सकती है।

●

२

सच्ची पूजा

संसार में जितने महापुरुष हुए हैं। उन सब ने मानव समाज की उन्नति एवं कल्याण के लिये अनेक कार्य किये हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने मानवता को ऊँचा उठाने और सुसंस्कृत बनाने के लिये भी अनेकानेक प्रयत्न किए हैं। वास्तव मे मानव समाज को उन महापुरुषों का आभारी होना चाहिये। उन्हें महामानव, महात्मा, ईश्वर आदि नाम से सम्बोधित करके कृतज्ञता ज्ञापन ही किया गया है फिर भी उपकारों को देखते हुए यह अतिस्वल्प है।

महापुरुषों ने मनुष्य की आत्मा को उच्चस्तर पर लाने के लिये जो मन्त्र दिया उसको 'धर्म' शब्द की संज्ञा दी जाती है। यह सिलसिला अनादि अनन्त है, अर्थात् मानव को ऊँचा उठाने का प्रयत्न ऐसे काल से चला आ रहा है जिसका आदि नहीं है, और ऐसे काल तक जारी रहेगा जिसका अन्त नहीं है। वास्तव में इसी कारण 'धर्म' भी अनादि अनन्त है। प्रत्येक प्राण धारी आत्मा के साथ 'धर्म' का सम्बन्ध है। 'धर्म' आत्मा का स्वभाव है **'वत्थु सहावो धम्मो'**। जिस प्रकार अग्नि का काम जलाना होता है उसी प्रकार आत्मा का धर्म ऊँचा उठाना होता है **"धारणात् धर्ममित्याहुः धारयतीति धर्मः"** जो आत्मा को धारण करके, उसे ऊँचा उठावे उसे धर्म कहा जाता है। यदि वास्तविकता देखी जावे तो सदाचार के उच्चतम नैतिक सिद्धान्तों को धर्म कहा जा सकता है और यह भी स्पष्ट है कि सदाचार के नियम निर्विवाद होते है। विश्व में कोई भी अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, आदि नियमों का तथ्यतः विरोध नहीं कर सकता है अथवा उसे मानव-समाज की अवनति का कारण नहीं मान सकता।

जैन परम्परा के अनुसार इस अनादि अनन्त विश्व में इसी प्रकार के महा-पुरुष अनन्त हो गये हैं जिन्होंने मानव-समाज को अपने-अपने समय में धर्म का उपदेश दिया। एक उत्सर्पिणी काल में २४ तीर्थंकर होते हैं, और वह

अपने-अपने समय में धर्म का प्रतिपादन करते हैं। इसी कड़ी में अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए हैं। इन सब ने शाश्वत धर्म का रहस्य मानव समाज को बताकर धर्म का उपदेश दिया था अथवा दूसरे शब्दों में कहा जावे तो अनादि अनन्त शाश्वत धर्म की व्याख्या इन महापुरुषों ने अपने-अपने समय में अपने जीवनादर्श एवम् अपने प्रवचनों से की थी।

संसार में यह नियम है, किसी वस्तु का स्वरूप अधिक समय बीतने पर विकृत हो जाता है। महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट धर्म का स्वरूप भी इस नियम का अपवाद नहीं रह सका है और उसमें कालान्तर में विकार उत्पन्न हुए। यह कारण है कि पश्चात् के महापुरुषों ने उनको परिष्कृत करके संसार के सन्मुख रखा, इस विकृति को ही रूढ़ि कहा जात है। इसी कारण जनसाधारण धर्म की असली भावना को भुलाकर उसके कंकाल मात्र को धर्म समझने लगता है और धर्म के नाम पर अनेक अनर्थ कर बैठता है। इस शोचनीय परिस्थिति को मिटाने के लिये उस विकृति के उपरान्त प्रादुर्भूत होने वाले महापुरुष धर्म की पुरातन व्याख्या पर पुनरपि प्रचुर प्रकाश डालकर भ्रान्ति के अन्धकार को दूर करते हैं, और उही मूलभूत तत्वों को नए सांचे में प्रस्तुत करते हैं। देश, काल, भाव, क्षेत्र आदि का यथोचित विचार करके यह महानुभाव अपने मत का प्रवर्तन करते हैं, इन सब में मानव हित की भावना विद्यमान होती है। बल्कि "वसुधैव कुटुम्बकम्" की गौरवमयी कल्पना साकार करते हुए वे प्राणी मात्र को कल्याण के हेतु अपने सद्-प्रयत्न स्वान्तः सुखाय के रूप में स्वभाव से सिद्ध कर जाते हैं और अमर कीर्ति छोड़ जाते हैं।

इस कारण सहज है कि मानव उन महापुरुषों का कृतज्ञ हो और उनकी पूजा करें। 'पूजा' शब्द का अर्थ आदर होता है, वास्तव में यही माना जाना भी चाहिये, किन्तु समय के प्रभाव तथा भ्रमों के दयनीय प्रसार से 'पूजा, शब्द का अर्थ अत्यन्त संकुचित कर दिया गया है। यहां तक कि कहीं-कहीं तो वास्तविकता से कहीं दूर जा गिरा है। सम्प्रति 'पूजा' शब्द से तात्पर्य यही माना जाता है कि किसी मन्दिर में प्रतिष्ठित महापुरुष की मूर्ति के सम्मुख विविध प्रकार के द्रव्य भेंट किये जावें, उसको बहुमूल्य वस्त्र,आभूषण आदि से अलंकृत किया जावे। वास्तव में यह पूजा की विडम्बना है।

हम यहां इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते हैं कि किसी महापुरुष का स्मरण करने के लिये किसी मूर्ति की आवश्यकता है या नहीं। जैसे किसी अल्प-आयु बालक को अक्षर ज्ञान द्वारा वस्तु बोध कराना सरल नहीं है यदि उस बालक को चित्र से उस वस्तु का बोध कराया जावे तो वह सरल होता है। इस तर्क के आधार पर महापुरुषों के स्मरण करने के लिये उनके अथवा

उनके नाम पर निर्मित शास्त्र-ग्रन्थ आदि को सहायक मानते हुए भी उनकी मूर्ति को अधिक सहायक माना जा सकता है। यहां इस विवाद में पड़ना इष्ट नहीं है कि इस प्रकार का आलम्बन मनुष्य की प्रारंभिक अवस्था में ही उपयोगी है अथवा आजीवन।

मनुष्य जब ज्ञान की दृष्टि से कुछ ऊँचा उठ जाय तब उसको शास्त्र तथा ग्रन्थों का अवलम्बन ही अधिक उपयोगी होता है। अल्पायु बालक ही प्रारम्भिक अवस्था से वस्तु का बोध चित्र द्वारा प्राप्त करता है, अधिक समझदार होने पर पुस्तक द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त करता है। अपने उक्त विचारों के बावजूद यह मानने मे लेखक को कोई आपत्ति नहीं है कि इस अवलम्बन को यदि कोई मनुष्य आजीवन आवश्यकता मानता है तो अवश्य माने, किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हम महापुरुषों की 'पूजा' किस प्रकार करें तथा क्या यह पूजा की विडम्बना नहीं है कि एक तो जहाँ हम किसी श्रद्धेय महापुरुष की बड़े समारम्भ और सजधज के साथ (षोड्शोपचार जैसी) अर्चना प्रदर्शित करें वहीं दूसरी ओर उन्हीं महामनुज द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों व उपदेशों की सदैव हत्या करते हैं ? ऐसे महापुरुष जिन्होंने अपने जीवन-काल में पूर्णरूपेण अपरिग्रहवाद को अपनाया सर्दी गर्मी व वर्षा ऋतु में भी विपरीत जलवायु के प्रभाव से अपने शरीर को बचाने के लिये भी वस्त्रों का उपयोग कभी नहीं किया,यही नहीं, बल्कि दीक्षित होने के समय इन्द्र ने जो देवदूष्य वस्त्र कन्धे पर डाल दिया था उसकी भी कोई चिन्ता नही की और निर्लिप्त भाव से यत्र-तत्र विहार करते रहे। उन्हीं की मूर्ति को पूजा के नाम पर लोगों ने रेशमी वस्त्र पहिना डाले। जिन श्रद्धेयों ने आजीवन स्वर्ण-रजत आदि का स्पर्श तक नहीं किया, उन्ही की मूर्तियों को आभूषण पहिनाने मे भक्त नामधारियों ने अपने कर्तव्य की पूर्ति मान ली।

ऐसा प्रतीत होता है कि—मानो अनुयायीजन अज्ञानवश उन महापुरुषों की अतृप्त इच्छाओं को पूरा कर रहे हों। यद्यपि वस्तुतः उन आप्त महानुभावों की तो कोई इच्छा ही नहीं होती और न वह इच्छाओं के गुलाम होते है, तो उनकी तृप्ति-अतृप्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, तथापि उन्हें कोई सात्विक अभिलाषा रहती है तो वह किसी ऐहिक नश्वर पदार्थ के लिए न रहकर उदात्त दैवी भावना से अनुप्राणित रहती है। उदाहरणस्वरूप –

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्।

क्या ही अच्छा होता कि उनके पूजक उनकी इस आदर्श इच्छा को अतृप्त मान कर उसकी समुचित पूर्ति में प्रयत्नशील होते ? तथा कथित पूजकों ने उनकी पवित्र भावनाओं को भुलाकर महापुरुषों के नाम पर ही

उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की और अपनी इच्छाओं के अनुरूप उन आदरणीय महापुरुषों के उपदेशों को तोड़ा-मरोड़ा, यह अत्यन्त ही कटु एवं कष्टकर तथ्य है।

आज मानव समाज के सम्मुख महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि मनुष्य उन आदर्श दिव्य पुरुषों के सिद्धान्तों की स्पष्ट अवहेलना करके उनकी उक्तरूपेण पूजा करे अथवा उनके उपदेशामृत से अपने जीवन को सिंचित करके उसका यथोचित आदर अर्थात् वास्तविक पूजा करे। विवेकपूर्ण दृष्टि से देखने पर यही अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। दूसरी बात ही अधिक श्रेयस्कर है और यही सच्ची पूजा कही जायेगी। अँग्रेजी के विद्वान कवि लांगफेलो ने कहा था।

Live of all great-man all re`find us
We can make our lives sublime
And departing leave hehind us
Foot prints of the sand of the time

जैन मान्यता के अनुसार मनुष्य ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। साधारणत: भी मनुष्य धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करके अपनी आत्मा को उन्नत तो कर सकता है। आत्मा निर्मल, निष्पाप होते ही परमात्मत्व प्राप्त करती है। इसी को वैष्णव परम्परा में "नर से नारायण" होना कहा जाता है महापुरुषों का यह उपदेश था कि उनके द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों का पालन करके मनुष्य अपनी आत्मा को उन्नत करे। और जब उन्नत करते-करते आत्मा पूर्णरूपेण निर्विकार बना ले तो उसे परमात्मपद की प्राप्ति हो जावे। दूसरे शब्दों में कहा जावे तो महापुरुषों का उपदेश मूलतः यही था—मनुष्य स्वयम् महत्ता को धारण करे, किन्तु ऐसा करना तभी संभव है कि मानव समाज ऊपर लिखे अनुसार पूजित महापुरुषों के जीवन के अनुरूप अपना जीवन बनाने का प्रयत्न करे और उनकी सच्ची पूजा करे किन्तु आज पूजने वालों द्वारा पावन पुरुषों के सिद्धान्तों की आत्मा की हत्या की जा रही है। आडम्बर बहुत है परन्तु उनके सिद्धान्तों की भव्य भावना और संजीवनात्मकता सर्वथा लुप्त हो चुकी है। उनकी अन्तरात्मा मृतप्राय हो रही। पूजक वर्ग मानो उच्च आदर्शों के शरीर मात्र को झकझोर रहा है। इतना ही नहीं उस निष्प्राण से अस्थिरपिंजर को (जो सिद्धान्तों के सजीव शरीर का भग्नावशेष मात्र रहने दिया गया है) भाँति-भाँति की सज्जा-सामग्रियों से विभूषित करने में ही इतिश्री एवं पूजा की परिसमाप्ति समझी जा रही है, यह दयनीय दशा है।

महापुरुषों के वाक्यों का अर्थ निकालने के लिए वास्तव में उस भावना

को सामने रखने की आवश्यकता थी जिसको लक्ष्य में रखकर उन्होंने अपने सुधोपम सन्देश का उद्घोष किया। प्रत्येक कर्मयोगी, जिन्होंने इसी प्रकार का श्रेयस्कर व्यहार किया है भगवान राम तथा कृष्ण क्रमशः तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत तथा श्री नेमीनाथ के समय में हुए हैं। इन दोनों महापुरुषों का जीवनचरित्र जैन शास्त्र तथा ग्रन्थों में वर्णित है। भगवान राम तथा कृष्ण की पूजा भी इस प्रकार की जा रही है। उनके द्वारा प्रचारित सिद्धान्त तथा उनके द्वारा स्थापित उदाहरणों की ओर हम कतई ध्यान नहीं देते। राम भक्त होने का दावा करने वाले मनुष्य राम का नाम लेते हैं किन्तु कार्य रावण जैसा करते हैं और दुर्भाग्य से, यह कि इसके उपरान्त भी वे अपनी रामभक्ति के पाखण्ड पर लज्जित होने के स्थान पर गौरव का अनुभव करने मे संकोच नहीं करते। भगवान राम ने अपने जीवन में एक-पत्नीव्रत, पिता-भक्ति, भ्रातृभाव आदि उच्च सिद्धान्तों का सक्रिय प्रतिपादन किया तथा संसार के सम्मुख ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया, जिसके कारण उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम माना गया। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में अन्याय का प्रतिकार करके न्याय का राज्य स्थापित करने में अनवरत परिश्रम किया, किन्तु आज उनके पूजकों की स्थिति बड़ी विषम है।

न्याय का पक्ष लेने के बजाय सबल का पक्ष लेना ही अच्छा समझा जाता है चाहे उसका पक्ष कितना ही अन्यायपूर्ण क्यों न हो। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट बताया है कि अनीति का प्रतिरोध करने में यदि मनुष्य को अपने स्वजन -परिजन का विरोध भी करना पड़े तो चिन्ता नहीं, अपितु वह अनिवार्य रूपेण वांछनीय तथा इष्ट है क्योंकि संसार में शान्ति स्थापित करने और बनाए रखने के लिये न्याय की विजय होना और चिरस्थायी रहना आवश्यक है।

संसार में आज सबल का प्रश्न प्रबल है। सबल निर्बल को दबाने की टोह मे है। यह बात केवल मनुष्य की ही नहीं बल्कि राष्ट्रों की भी यही स्थिति है, क्योंकि वह भी तो मानवगण का ही तो वर्गीकृत समूह है। सबल राष्ट्र न्याय-अन्याय की परवाह किये बिना निर्बल को दबोचने की घात में है। अन्तराष्ट्रीय रंगमंच पर यह नाटक सबल राष्ट्र खेल रहे हैं। आज इसके विरुद्ध जनमत जाग्रत होने की आवश्यकता है और वह तभी सम्भव है जबकि मानव-समाज सच्चे अर्थों में पूजा के महत्व को समझे, महापुरुषों के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों का आदर करे और इस प्रकार उनकी सच्ची पूजा अपने व्यवहार से करे। यदि मानव ने महापुरुषों की ऐसी सच्ची पूजा प्रारम्भ की तो निश्चय रूप से एक दिन ऐसा आवेगा कि विश्व स्वर्ग बन जायेगा और मानव में देवत्व आवेगा और वह एक दिन वास्तव में स्वर्णिम होगा।

३

सम्प्रदाय और धर्म में अन्तर

भारतवर्ष धार्मिक वृत्तिवाला देश है, तथापि जनसाधारण में धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट नही है। यहीं नही अपितु जनसाधारण सम्प्रदाय को ही धर्म मानता रहता है। देश के विद्वद्‍वर्ग में धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट हो सकता था किन्तु अनाग्रही विचारणा के अभाव के कारण यह वर्ग भी स्पष्ट नहीं कर पाता। वास्तव में धर्म तथा सम्प्रदाय में महान अन्तर है। धर्म उदार तथा विशाल दृष्टिकोण अपनाता है जबकि सम्प्रदाय अथवा पंथ संकुचित दृष्टिकोण। सम्प्रदायवादी या पंथवादी मनुष्य केवल उस सम्प्रदाय अथवा पंथ के अनुयायी को ही स्वर्ग तथा मोक्ष में प्रवेश का अधिकारी मानता है जब कि धार्मिक मनोवृत्ति के निकट प्रत्येक सज्जन, साधुमना व्यक्ति के लिये स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार खुला है। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् जब संघ शासन ने 'धर्मनिरपेक्ष नीति' की घोषणा की तब से यह प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र में भी बहुचर्चित रहा है। धर्म निरपेक्ष नीति की व्याख्या इस गलत तरीके पर हुई है है कि जनसाधारण में यह भ्रान्त धारणा गहराई से बैठ गई है कि भारतीय शासन अधार्मिक राज्य है अथवा उसका धर्म या धार्मिक सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह तात्पर्य नहीं था। धर्मनिरपेक्ष नीति का उद्देश्य केवल यह था कि शासन किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय नहीं देगा। न उसका प्रचार करेगा। वास्तविक रूप मे नीति का नाम यदि 'सम्प्रदाय निरपेक्ष नीति' रखा जाता तो अधिक उपयुक्त रहता। विश्व में सम्प्रदायों के नाम पर जो रक्तपात पूर्वकाल में हुआ है वह इस नीति के निर्माता गण की दृष्टि मे था। किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय देने का अर्थ यह होता है कि शासन उक्त सम्प्रदाय विशेष का हामी है। इस कारण इस नीति को अपनाना उचित था। जैसा ऊपर निर्देश किया गया है, धर्म तथा सम्प्रदाय में आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय शासन का धार्मिक सिद्धान्तो से कोई

विरोध नहीं हो सकता । आखिर धर्म क्या है ? मेरे मत में जिन सिद्धान्तों से मनुष्य का जीवन उदार, उन्नत सामाजिक जीवन बन सके, नैतिकता के उन उच्चतम नियमों का नाम 'धर्म' है । किन्तु धर्मनिरपेक्ष नीति के कारण उत्पन्न भ्रान्त धारणा ने केवल २० वर्ष के अल्पकाल में ही भारतीय जनजीवन में नैतिकता, सदाचार का जो अवमूल्यन किया है वह विचारक वर्ग के लिये अत्यंत विचारणीय प्रश्न है । भारतीय जनजीवन में आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकतावादी विचारो का प्रभाव स्पष्ट है । गत आम चुनाव के पूर्व तथा पश्चात् दो वर्ष में जो घटनाएँ देश में, लोकसभा एवं विधानसभाओं में घटी उनको दृष्टिगत रखते हुए यह सोचने को विवश होना पड़ता है कि क्या भारतीयों में सार्वजनिक प्रश्नों और समस्याओं को हल कराने का यही एक तरीका शेष रह गया है हमारे पास ? जन-जीवन में चाहे व्यक्तिगत प्रश्न हो, चाहे सार्वजनिक प्रश्न हो, सहनशीलता की कमी, सात्विकता की कमी होती जा रही है । इस पृष्ठभूमि में यह आवश्यक है कि हम सम्प्रदाय तथा धर्म का भेद स्पष्ट समझें तथा यह भी निश्चय करें कि जैन धर्म एक सम्प्रदाय अथवा धर्म है ?

विशाल जैन साहित्य के महत्वपूर्ण तथा प्राचीनतम ग्रन्थ आचारांग सूत्र में भगवान महावीर ने यह उद्घोषणा की है कि :

से बेमि-जे अईया, जे य पडुप्पण्णा, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंतो, ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णविंति, एवं परूविंति-सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, । एस धम्मे सुद्धे निइए सासए, समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइयं तंजहा-उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा, अणुवट्ठिएसु वा, उवरयदंडेसु वा, अणुवरयदंडेसु वा, सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा, संजोगरएसु वा असंजोगएसु वा, चेयं, तहा चेयं अस्सिं चेयं पवुच्चई ।

अर्थात् भूतकालीन, वर्तमान कालीन तथा भावी तीर्थंकर यही प्रतिपादित करते हैं कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव, सभी सत्व को दण्डादि से नहीं मारना चाहिये, उन पर आज्ञा नहीं चलाना चाहिए उनको दास की भाँति अपने अधिकार में नहीं रखना चाहिये, उन्हें शारीरिक, मानसिक संताप नहीं देना चाहिये और उन्हें प्राणों से रहित नहीं करना चाहिये । यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है । संसार के दुःखों को जानकर जगत-हितकारी भगवान ने संयम में तत्पर अथवा अतत्पर, उपस्थित, अनुपस्थित, मुनि, गृहस्थ, रागी, त्यागी, योगी, भोगी को समान भाव से यह उपदेश दिया है, यह सत्य है, तथारूप है और ऐसा धर्म जिनप्रवचन में कहा गया है ।

इस प्रकार से प्राणी मात्र को अभयदाता, आश्रयदाता धर्म किसी भी दृष्टिकोण से सम्प्रदाय नहीं हो सकता। वह धर्म शब्द में निहित उच्च तथा महान् विचारों से समन्वित होने के कारण 'धर्म' है। यह सर्वविदित है कि 'धर्म' शब्द अनेकार्थी है। विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थ का द्योतक है। यहाँ जिस अर्थ का संदर्भ है वह कर्तव्य अथवा आचार संहिता का द्योतक है। एक प्राचीन आचार्य ने जैन धर्म की व्याख्या निम्न श्लोक में अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण की है।

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडनं किंचित् जैनधर्मः स उच्यते॥

४

भारतीय दर्शनों में वैराग्य का स्थान

भारतीय दर्शन का लक्ष्य मनुष्य को आधिभौतिकता से हटाकर आध्यात्मिकता की ओर ले जाकर मोक्ष प्राप्ति का रहा है। भारतीय प्राचीन साहित्य विशेष कर जैन साहित्य का कथाभाग का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा देता है। आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ स्व-पर के विवेक से होता है। जब मनुष्य स्व तथा पर में आत्मा तथा शरीर मे चेतन तथा जड़ में भेद अनुभव कर लेता है, तब उसके जीवन का क्रम इस प्रकार हो जाता है कि जिसमें उसको स्व के प्रति राग तथा पर के प्रति द्वेष नही रहता वास्तव मे देखा जावे तो यही वैराग्य है। मनुष्य का हृदय जब वीतरागत्व के विचारो से ओतप्रोत हो जाता है तो उसको समग्र ससार, प्राणीमात्र के प्रति कोई राग-द्वेष नहीं रह पाता। उसी को वीतराग अथवा जिन कहा जाता है। किन्तु यह मनुष्य की सर्वोच्च अवस्था है। मनुष्य का हृदय इतना शुद्ध तथा परिष्कृत हो जावे कि उसमें राग तथा द्वेष का अश मात्र भी न रहे। तब ही वह 'वीतराग' अथवा 'जिन' कहलाता है। यही आत्मा की परमात्मत्व दशा है जैसा कि एक जैनाचार्य ने कहा कि—

> **भवबीजांकुरजनना, रागद्या क्षयमुपागता यस्य।**
> **ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥**

उक्त आचार्य ने भव भ्रमण के मूल राग द्वेष को बताकर यह प्रतिपादित किया है उसका नाश जिसने कर लिया हो उसको नमस्कार करता हूँ। चाहे वह महान आत्मा ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो, चाहे जिन हो। प्रश्न यह है कि वैराग्य का आविर्भाव किस प्रकार हो? मनुष्य के शरीर 'मन' इतना शक्तिशाली होता है कि उसको इच्छाओं पर काबू पाना बहुत मुश्किल कार्य है। मनुष्य शरीर में जिन पांच इन्द्रियों की विद्यमानता है, उन सब का

विषय सीमित है। प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है। किन्तु छठा "मन" इतना विशाल होता है कि वह प्रत्येक विषय को ग्रहण कर सकता है। इस लिए उसे "सर्वग्राही" भी कहा जाता है। 'मन' का जब तक नियंत्रण न हो तब तक "वैराग्य" असम्भव है। 'मन' की चचल वृत्ति पर श्री कृष्ण ने अर्जुन को सबोधन करते हुए श्रीमत् भगवद्गीता में कहा है कि—

असंशयं हि महाबाहो, मनो दुर्निग्रहः चलम्।
अभ्यासेण च कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते॥

तात्पर्य यह है कि 'मन' की चंचल वृत्ति पर काबू पाना है उसको नियंत्रित करना है तो अभ्यास डालिये तो निश्चित ही वैराग्य का आविर्भाव होगा और उस पर नियंत्रण हो जावेगा।

भारतीय दर्शनों से सम्बन्धित साहित्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने इस प्रकार के वैराग्य पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये 'सन्यासी' संस्था की व्यवस्था की। जैन धर्म तो श्रमण संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। ब्राह्मण संस्कृति मे भी एक विशेष समय पर सन्यास जीवन की आवश्यकता स्वीकार करके उसका विधान किया गया। सन्यासी जीवन के नियम बनाए गए। यह दूसरी बात है कि सन्यासी संस्था मे काल क्षेप के कारण कुछ खराबियां आ गई वह अपने मूल उद्देश्य से कुछ सीमा तक पथ भ्रष्ट हो गई। यह प्रसन्नता की बात है कि श्रमणसंस्कृति के जैन साधु समुदाय आज भी बहुत सीमा तक मूल उद्देश्य की पूर्ति करने वाला जीवन व्यतीत करता है हालांकि कालक्षेप के कारण उसमें भी बहुत सी खराबियां आ गई किन्तु मूल गुणों की विराधना बहुत कम है और यदि ऐसी घटना प्रगट हो जाती है तो श्रावक समुदाय उसे बरदास्त नहीं करता है। जैन समाज से सम्बन्धित सम्प्रदाय, परम्पराओं में अधिकतर दीक्षित होने के पूर्व अभ्यास के रूप में 'साधु जीवन' की मर्यादा सहित जीवन व्यतीत कराया जाता है। यही कारण है जब आज बुद्धिवादी वर्ग के निकट साधुओं की उपयोगिता विवादास्पद है वहां आज भी जैन श्रमण बहुत सीमा तक आदर का पात्र है। यह एक तथ्य है कि ब्राह्मण संस्कृति तथा श्रमण संस्कृति में वैराग्य पूर्ण जीवन के लिए यह आवश्यक शर्त नहीं है कि वह परम्परागत सन्यासी अथवा श्रमण दीक्षा ग्रहण करे। दोनों संस्कृति में इस प्रकार के कई उदाहरण भरे पड़े हैं कि जिनमें गृहस्थावस्था में भी कई महान् आत्माओं ने जल में कमलवत् जीवन व्यतीत करके कर्मों से निर्जरा प्राप्त कर ली। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है कि वैराग्य के लिए आत्मा शरीर चेतन जड़ का भेद अनुभव होना तथा राग द्वेष पूरित भावना का नाश होना आवश्यक है। मनुष्य के लिये यह आवश्यक है

कि वह 'स्व' से भिन्न चाहे वह 'पर' हो, शरीर हो,जड़ हो उसे 'विरागी' रखे। पुद्गल के प्रति ममत्व भाव का नाश वैराग्य का मूल है। राजा जनक का उदाहरण स्पष्ट संकेत करता है कि राज धर्म निर्वाह करते हुए भी आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते थे। इसी प्रकार के कई उदाहरण श्रमण संस्कृति में भी विद्यमान हैं।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मनुष्य का जीवन तथा रूप नश्वर है किसी समय भी उसका नाश सम्भव है, विद्युत जैसा चंचल है इसीलिये जैन-साहित्य के एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'उत्तराध्ययन सूत्र' के १८ में अध्याय में एक मुनि द्वारा कम्पिलपुर के राजा संजय को उद्‌बोधन करने का जिक्र निम्न शब्दों में किया गया है -

जीवियं चेव रूवं च विज्जुसंपात चंचलम्।
जत्थ तं मुज्झसी रायं, पेच्चत्थं नावबुज्झसि ॥

हे राजन्! मनुष्य जीवन तथा रूप विद्युत के समान चंचल है। इस पर भी तुम इसी में मुग्ध हो? परलोक को क्यों नहीं सिधारते? बात वास्तव में यह है कि इस विशाल विश्व में जीवन दुःख तथा सुख रूप है। वैराग्यशील मनुष्य जिसे स्व-पर का विवेक जाग्रत हो गया है, वह दुःख को भी सुख बना सकता है। उसको पीड़ा का अनुभव होने नहीं देता। कर्म की गति समझकर सहन-शीलता से बरदास्त कर लेता है जबकि संसार को ही सब कुछ समझने वाला पर-पदार्थ मे जीवन का सर्वस्व समझने वाला ऐसी विषम-स्थिति में दुख अनुभव करके अधिक दुखी होता है। सत्य यह है कि संसार में प्रत्येक बात में भय ही भय है। 'वैराग्य' ही अभयदाता है जैसाकि भर्तृहरि शतक के वैराग्य शतक में उल्लेख किया गया है।

भोगे रोगं भयं, कुले च्युतिभयं, वित्ते नृपालाद्भयं।
मौने दैन्यभयं, बले रिपुभयं, रूपे जराया भयम्॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खल भयम्, काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

५

प्रार्थना और सामायिक

हमारे देश में ही नहीं, अपितु विश्व में अनादिकाल से प्रार्थना का महत्व रहा है। भारतवर्ष की दृष्टि से विचार करें तो हम वेद काल में वैदिक ऋषियों को मंत्रों के माध्यम से प्रार्थना करते हुए पाते हैं। यही स्थिति उपनिषद् काल तथा श्रमण संस्कृति काल में रही। ऐसा कोई युग नहीं कि जिसमें मानव जाति ने प्रार्थना को महत्व न दिया हो। साधारणतया-प्रार्थना शब्द से ईश्वर के प्रति-उनके स्तुति गान का तात्पर्य लिया जाता है। भारतीय आस्तिक दर्शन मानव जाति को प्रार्थना द्वारा ईश्वर के ही स्तुति गान करने का निर्देश दिया। उनके मत में भगवान, भगवान रहा और भक्त सदैव भक्त। जैन दर्शन ने उक्त विचार धारा को अमान्य करके मानव जाति की आशा का संकेत दिया, तथा यह बताया कि ईश्वरत्व पर किसी जाति, कुल अथवा व्यक्ति विशेष का एकाधिकार नहीं है। किन्तु आत्मा का विकास होते-होते वह महात्मा हो जाते हैं। जब उस महात्मा के पाप, पुण्य क्षय हो जाते हैं उनमें राग द्वेष नहीं रहता तब इस संसार में आवागमन का प्रश्न समाप्त हो जाता है, वह परमात्मा हो जाता है। केवल मानव जाति ही नहीं समस्त प्राणधारी का यही चरम लक्ष्य है। जैन दर्शन ने बताया कि हमारी प्रार्थना परमात्मा से अपने किसी अभाव की पूर्ति के लिये नहीं होगी और न स्वर्ग प्राप्ति के लिये होगी। हम तो परमात्मा का गुण गान करेंगे ताकि शनैः शनैः उस मार्ग पर चल कर मुक्तात्मा परमात्मा बन जावे। यदि हम वेदकालीन प्रार्थना के स्वरूप पर ध्यान दें तो हमें ज्ञात होगा कि उस काल में भी वैदिक ऋषि अधिकतर अपने अभाव की पूर्ति के लिये प्रार्थना करते थे। बात वास्तव में यह थी कि उस समय मानव जाति को प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता था उसे प्रकृति के रहस्यों का पता न था। उपनिषद्काल में तत्कालीन ऋषियों को स्वर्ग का विचार उत्पन्न हुआ उन्होंने स्वर्ग प्राप्ति के लिये प्रार्थना की, श्रमण संस्कृति के काल में तीर्थंकरों ने मानव

जाति का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति प्ररूपित किया और यह भी बताया कि मुक्ति (मोक्ष) किसी से भिक्षा याचना करने पर प्राप्त नहीं हो सकती अपितु मनुष्य को अपने पराक्रम से अपने शुभ अशुभ कर्मों का नाश करने ने लिये युद्ध घोष करना पड़ेगा तब आत्मा कर्म रहित विशुद्ध हो जावेगी जो कि आत्मा का मूल स्वरूप है। यह सच है कि इसप्रकार का मार्ग ग्रहण करने के लिये पूर्व के उदाहरण के रूप मे आदर्श निर्माण करना पड़ेगा। इस लक्ष्य को रखकर जैन दर्शन में भी प्रार्थनाओ का महत्व बताया गया। जैन धर्म की समस्त परम्पराओं में णमुक्कारमन्त्र का अत्यधिक महत्व है। उसमे पान्च पदों में अरहत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय तथा लोक के सब साधुओं को नमस्कार किया गया है। इन पांच पदों में प्रथम अरहत भगवान के चार घनघाती कर्म क्षय हो चुके हैं। सिद्ध भगवन्त के आठों कर्म क्षय हो चुके हैं वह मुक्तात्मा है। सिद्ध अनन्त हो चुके है अनन्त होंगे। जैन दर्शन मे अनन्त शब्द पारिभाषिक शब्द है जिसका तात्पर्य अंत रहित Endless है। मुझे अपने प्रारम्भिक जीवन के दिनो में, जब जैन साहित्य का यदा-कदा अवलोकन करता तो अनन्त शब्द गणित के सर्व मान्य सिद्धान्तो के सर्वथा प्रतिकूल लगता। मैं अल्प बुद्धि से सोचता था कि गणित के सिद्धान्त के अनुसार २ मे स १ ऋण करने पर १ ही रहेगा २ नहीं रह सकते। इसी प्रकार अनन्त जीव राशि में से अनन्त जीवों को मुक्ति प्राप्त होने पर अनन्त कोष कैसे रह जावेंगे, जब मैंने उपनिषद् के निम्न श्लोक को—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पढ़ा तो मुझे बड़ा समाधान हुआ।

जैन दर्शन मे सिद्ध भगवन्त को अनन्त शक्तिमान माना जाता है वास्तव मे आत्मा अपने मूलस्वरूप मे आ गया, शुद्ध, बुद्ध, चिदानन्द हो गया तो उसे अनन्त शक्तिमान' कहना उचित ही है। इस प्रकार जैन दर्शन में प्रार्थना का उद्देश्य अभाव पूर्ति, स्वर्ग प्राप्ति की याचना के लिये नहीं है और न ईश्वर, परमात्मा, परमेश्वर का गुणगान केवल स्तुति मात्र के लियेहै अपितु उसका उद्देश्य यह है कि हम उस आदर्श के अनुरूप स्वय अपनी आत्मा को शुद्ध, बुद्ध बना सकें। एक जैनाचार्य ने अरहन्त भगवान को लक्ष्य करके स्पष्ट शब्दों में कहा था कि :-

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥

वास्तव मे जैन धर्मानुयायी परमात्मा की प्रार्थना करता है तो उसका उद्देश्य नर से नारायण' बनने का रहता है, उसके भगवान की गुलामी भी

पसन्द नहीं है कि वह सदैव भक्त ही बना रहे और प्रार्थना करता रहे। वह अपने आदर्श को जीवन में ढाल कर अपने मूलस्वरूप-शुद्ध, बुद्ध, चिदानन्द रूप, बनना चाहता है और इसी उद्देश्य को लेकर प्रार्थना करता है।

यदि हम जैनधर्मानुसार, मानव जाति के आदर्श पर विचार करें तो इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि वे सब 'समता' को जीवन में उतार कर, समदृष्टि प्राप्त करने से ही उस स्थिति को पहुँचे थे। यदि मानव जाति-समता प्राप्त करले तो उसे निश्चित रूप से समदृष्टि प्राप्त होगी। मनुष्य को जब तक समदृष्टि प्राप्त न हो, उसकी दृष्टि सम्यक् न हो वह किसी समस्या पर विवेकपूर्ण सत्यासत्य का निर्णय नही कर सकता। जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के तीन उपाय में सर्वप्रथम सम्यक्ज्ञान आवश्यक है। भगवान उमास्वाति ने कहा है कि:—सम्यक्ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि मोक्षमार्गः।

किन्तु सम्यक्ज्ञान, दर्शन तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि सम्यक्दृष्टि न हो। नीर, क्षीर, विवेक बुद्धि मनुष्य को सम्यक्दृष्टि प्रदान करती है। वस्तु का यथातथ्य मूल्यांकन तब तक नही हो सकता, नीर, क्षीर, विवेक-बुद्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक आत्मा में समता का विचार दृढ़ नहीं होता, जब तक कि उसके विचारों में किसी के प्रति राग, पक्षपात, द्वेष, घृणा कायम रहेगी। आत्मा के इन सर्व दुर्गुणों से दूर रहने का अभ्यास-सामायिक व्रत है। सामायिक व्रत श्रावक के १२ व्रतों में ९ वां शिक्षा व्रत है। मनुष्य ४८ मिनट के काल में समस्त जीव, अजीव, पदार्थों पर समता भाव लाने का प्रयत्न करता है। श्रमण वर्ग का जीवन तो पूर्णरूपेण समतामय होना चाहिये। यह एक तथ्य है कि श्रमण वर्ग, दीक्षित होने के समय जिस प्रतिज्ञा को जीवन भर के लिये ग्रहण करता है वह सामायिक व्रत ही है। इसी से सामायिक व्रत का महत्व प्रगट होता है कि जैन धर्म का सार समता-मय भावना में विद्यमान है। मानव सामायिक व्रत जितना शुद्ध रीति से पालन करेगा उसकी आत्मा उतनी ही अधिक शुद्धता के निकट पहुँचेगी। किन्तु आज समाज में सामायिक व्रत भी रूढ़ि का पालन बनता जा रहा है यह एक निश्चित तथ्य है। कि धर्म का आभ्यन्तर स्वरूप सामायिक व्रत का शुद्ध रीति से पालन है। मनको अभ्यास के द्वारा ही अनुचित विचारों से रोक कर वैराग्य की ओर ले जाया जा सकता है। मानव के भीतर का मन, उसके अध्यवसाय की गति इतनी तीव्र होती है कि उसको किसी की आज्ञा द्वारा निश्चित दिशा में ले जा सकना सम्भव नहीं है। मानव आत्मा उसे अभ्यास से द्वारा ही उस पर काबू पा सकती है। श्रीमद् भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से बताया गया कि :—

असंशयं हि महाबाहो, मनोदुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन च कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ।।

हे अर्जुन ! मन का निग्रह बहुत मुश्किल है उसको अभ्यास द्वारा ही वैराग्य की ओर ले जाया जा सकता है । कारण कि :—

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः ।

हमारे सामायिक व्रत में हम जितनी आभ्यन्तर स्थिति की शुद्धता का ध्यान रखेंगे उतने ही समता के निकट होंगे । इसमें संख्या का महत्व नहीं है, समता भाव का सूचक विचार भगवान अमित गति के शब्दो में—

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देवः ।

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि समाज में प्रार्थना तथा सामायिक के विचार को अपनाने पर बल दिया जा रहा है । सामायिक में मनुष्य को स्वाध्याय करने का अवसर भी मिल जाता है । इसके लिये स्थविर पद विभूषित मुनि श्री पन्नालाल जी, तथा उपाध्याय श्री हस्तीमल जी मुनिद्वय, अत्यन्त प्रयत्नशील हैं यह सौभाग्य की बात है ।

६
तपस्या तथा उसका महत्व

जैनधर्म के समग्र तत्वज्ञान पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा तत्व ज्ञान का केन्द्र बिन्दु आत्मा, कर्म, मोक्ष रहा है इस कारण किसी भी प्रश्न पर विचार करते समय इन तीनों बातों पर मनुष्य को अपना ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार सृष्टि का आदि, अन्त नहीं है इसी प्रकार आत्मा, कर्म, मोक्ष जैसे प्रश्नों का भी आदि अन्त नहीं है। यह सच है कि जैन धर्म में सृष्टि के मौलिक प्रश्नों पर अनुपम रूप से विचार करके उनकी समस्या का हल निकाला गया है इस कारण यह स्वाभाविक था उसमें आत्मा, उसका कर्म के साथ सम्बन्ध तथा उससे मुक्ति जैसे प्रश्नों पर गहन रूप से विचार किया जावे, यह भी सच है कि जिसे हम आज जैन धर्म के नाम से अभिहित करते हैं, इसका प्राचीन नाम कुछ और था यदि यह कहा जावे कि वह आत्मधर्म ही था तो अधिक सत्य होगा। इस आत्मधर्म का जैनधर्म के रूप में नामकरण तो बहुत अर्वाचीन है। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार आत्मा शुद्ध, बुद्ध है किन्तु उसका अनादि अनन्तकाल से कर्म मल के साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण संसार भ्रमण कर रही है, जैनधर्म की यह भी मान्यता है कि कर्म मल का नाश करके आत्मा अपनी शुद्ध बुद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकती है, इसे मोक्ष, मुक्ति निर्वाण कहा जाता है, आत्मा अपने कर्म मल से मुक्ति किस प्रकार प्राप्त कर सकती है इसको भगवान उमास्वाति ने अपने तत्वार्थसूत्र के प्रथम श्लोक में ही सूत्र रूप में विहित किया है --

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि-मोक्षमार्गः। १।

उक्त सूत्र में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र को मोक्ष मार्ग बताया गया है। प्रश्न यह रहा है कि इस त्रिविध मार्ग (रत्नत्रय) से आत्मा का भावी कर्म बंध रुक सकता है किन्तु उसको संचित कर्म से मुक्ति किस

प्रकार मिल सकेगी। संचित कर्म से मुक्ति के दो ही मार्ग थे या तो उसे भोग लिया जावे या किसी अन्य प्रकार से उसका नाश किया जावे। तात्पर्य यह कि नवीन कर्म बंध की रोक तो "संवर" के द्वारा हो सकती थी किन्तु संचित कर्म से मुक्ति "निर्जरा" के द्वारा हो सकती थी। इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से किया गया कि संचित कर्म से निर्जरा का मार्ग केवल "तपस्या" है। इसी कारण दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन का आरम्भ ही निम्न गाथा से होता है:—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा, संजमो, तवो॥
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

उक्त गाथा में धर्म को सब मंगलों में उत्कृष्ट बताया है वह धर्म त्रिविध अहिंसा, संयम तप रूप प्ररूपित किया गया है। इस प्रकार धर्म मय जिसका जीवन हो, जिसका धर्म में ही आत्मरमण होता है। वह देवताओं का भी वंदनीय है।

यदि हम भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होगा कि भगवान पार्श्वनाथ के समय कई प्रकार के "तापस" विद्यमान थे जो विचित्र प्रकार से उद्देश्यहीन तपस्या करते थे। वास्तव में वह तपस्यायें एक प्रकार से केवल देहदमन या कायाक्लेश की थी जिससे आत्मिक शांति बनी रहना संभव नहीं था। भगवान पार्श्वनाथ ने इस प्रकार की तपस्याओं का विरोध किया, भगवान पार्श्वनाथ के जीवन की घटना जैन साहित्य में प्रसिद्ध है। उन्होंने एक तापस को जो लकड़ी जला कर, तप कर रहा था, चेतावनी दी थी कि उसकी लकड़ियों में एक नाग, नागिन जल रहे हैं, भगवान पार्श्वनाथ ने इस प्रकार हिंसायुक्त तपस्याओं का विरोध करके संयम युक्त, सात्विक तप का उपदेश दिया है। भगवान महावीर के साधना काल के जीवन पर दृष्टि डाली जावे तो उन्होंने अपने साधना काल में अत्यन्त उग्र तपस्यायें की। कहा जाता है कि भ० महावीर के संचित कर्म अत्यधिक थे, इसी कारण उन्होंने साधना काल में अत्यन्त उग्र तपस्यायें। की जैन साहित्य के प्राचीनतम आगम साहित्य में श्रीमद् 'आचारांग सूत्र' का महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा शास्त्रियों ने उक्त शास्त्र के प्रथम श्रुत स्कंध को अत्यन्त प्राचीन माना है। 'श्रीमद् आचारांग सूत्र' अंग साहित्य का प्रथम पुष्प है। उक्त सूत्र के ९वें अध्ययन में भगवान महावीर स्वामी की अत्यधिक संयम युक्त तपस्याओं का वर्णन है। उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर ने बाह्य, आभ्यंतर कई प्रकार की तपस्याएं की, किन्तु अपनी शक्ति का ध्यान रखा। शारीरिक शक्ति के अनुसार तपस्या करने से आत्मिक शान्ति कायम रहती है। ऐसी तपस्या, जिससे अपनी शक्ति का ध्यान रखे

बिना केवल देहदमन या कायक्लेश किया जाता हो, से मनुष्य को शांति प्राप्त नहीं हो सकती। भगवान महावीर के समकालीन भगवान बुद्ध ने अपनी शक्ति का ध्यान न रखकर पहले उग्र तपस्यायें की। परिणाम स्वरूप आत्मिक शान्ति कायम नहीं रह सकी। उन्होंने यह नतीजा निकाला कि इससे बोधि-लाभ नहीं हो सकेगा। वास्तव में भगवान बुद्ध ने तपस्यायें सम्भवत: अपनी शक्ति का ध्यान रखे बिना की थीं। भगवान महावीर ने अपने कृति तथा उप-देशों में तपस्या को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। उन्होंने बारह प्रकार की तपस्या विधान करके 'बाह्य तथा आभ्यन्तर' इस प्रकार का वर्गीकरण किया। वर्गीकरण से यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि आभ्यन्तर तप का अधिक महत्व है। उन्होंने अज्ञान तप को निरर्थक बताया। श्रीमद् उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट घोषणा है:—

मासे मासे य जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजई।
न सो सुअक्खायधम्मस्स, कलं अग्घई सोलसिं॥

—अ० ९ गा० ४४

वास्तव में 'तप' एक प्रकार का साधन है जिससे संसारी जीव अपने संचित कर्मों का नाश करके आत्मा की शुद्ध बुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है। भगवान महावीर की उग्र तपस्या का ही यह प्रभाव कहा जा सकता है कि लगभग २५०० वर्ष से जैन जन-जीवन पर 'अहिंसा' के सार्वभौम सिद्धान्त के अतिरिक्त यदि किसी की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है तो वह "तपस्या" की है। सारे देश में जैन समाज की तपोनिष्ठा प्रसिद्ध है। चतुर्विध संघ में साध्वी, साधु, श्रावक-श्राविका अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार वर्ष में सुविधा तथा इच्छानुसार तपस्या करते हैं। विशेष बात यह है कि उक्त तपस्या करना ऐच्छिक है, अनिवार्य नहीं है। भगवान महावीर ने सदैव मनुष्य को यह स्वतन्त्रता दी है कि वह अपनी शक्ति के अनुसार जिस प्रकार चाहे तप करे। उस महाभाग के श्रीमुख से सदैव 'जहा सुहं देवाणुप्पिया' देव वल्लभ, जिस प्रकार सुखी हों वैसा आचरण करो। यही कारण है कि जैन समाज मे अन्य किसी बात में विकृति हुई हो, किन्तु तपस्या की विशुद्धता बहुत अंश में कायम रही। मेरी यह स्पष्ट धारणा है कि भगवान महावीर ने श्रीसंघ या उसके किसी सदस्य पर तपस्या अनिवार्य करार दे दिया होता तो तपस्या की विशुद्धता नहीं रह पाती। अनिवार्यता में ढोंग होने की सम्भावना होती है जिससे विकृति आती है। फिर भी यह बात स्वीकार की जानी चाहिये कि जैन समाज के जन जीवन में आभ्यन्तर तप उतना घुल-मिल नहीं सकता जितना बाह्य तप। यही कारण है कि समाज में स्वाध्याय आदि

जो आभ्यन्तर तप के भाग हैं, का प्रचलन अधिक नहीं हो पाया। जैन समाज के साधारण सदस्य को बाह्य तप की चकाचौंध में आभ्यन्तर तप का महत्व ज्ञात नहीं हो सका। तपस्याओं (बाह्य) की विशुद्धता के बावजूद तप के सम्बन्ध में समाज में कुछ रूढ़िया- प्रदर्शन अनुचित रूप से प्रचलित हो गई हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, उपवास के प्रत्याख्यान के समय "चउत्थ भत्तं" के त्याग कराये जाते हैं। किन्तु हम केवल उपवास के दिन दोनों समय का भोजन ही छोड़ते है। धार्मिक मान्यता के अनुसार उपवास के पूर्व (धारणा) विशेष रूप से विशेष प्रकार का दुष्पाच्य भोजन ग्रहण करना अथवा उपवास के पश्चात (पारणा) इसी प्रकार का विशिष्ट भोजन ग्रहण करना अनुचित समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार विशेष स्थानों पर लम्बे उपवास की समाप्ति पर आयोजन, समारोह, प्रदर्शन का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैन समाज को इन सारी समस्याओं पर गम्भीर विचारणा करके कोई सात्विक मार्ग निकालना चाहिए।

"तपस्या" का साधारण अर्थ आहार त्याग माना जाता है। मनुष्य शरीर के जीवन निर्वाह के लिये "वायु भक्षण" भी करना पड़ता है किन्तु भगवान महावीर ने उपवास में केवल चारों प्रकार के आहार के त्याग का विधान बताया है। एक प्राचीन जैन आचार्य ने उपवास तथा लंघन का भेद बताते हुए निम्न श्लोक में अपूर्व उद्‌गार प्रगट किये थे:—

कषाय-विषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयं, शेषं लंघनकं विदुः॥

यदि हम गहराई से विचार करें तो हमको यह स्पष्ट भान होगा कि 'लंघन' तथा 'उपवास' मे मौलिक भेद है। लंघन 'फाका' में विवशता है, उपवास में स्वेच्छा। आंग्ल भाषा में उपवास के लिये भी Fast शब्द का उपयोग किया जाता है। वास्तव में Fast शब्द 'उपवास' के गर्भित अर्थ को व्यक्त नहीं करता। उक्त आचार्य ने उपवास के लिये कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ तथा विषय पंचेन्द्रियों की अनुकूल इच्छाओं) का त्याग आवश्यक माना है। उसी को वह उपवास बताते हैं शेष तो 'लंघन है। वास्तव में 'उपवास' में क्रोध आदि कषायों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। उपवास आत्मा को निर्मल-शुद्ध बनाने का एक नम्र प्रयत्न है। एक अन्य आचार्य ने 'तप' की व्याख्या सूत्र (संक्षिप्त) रूप में बड़ी महत्वपूर्ण की है। शब्दो की दृष्टि से सूत्र रूप में होते हुये भी अधिक व्यापक व्याख्या कही जा सकती है उन्होंने 'इच्छा-निरोध को तप कहा है (इच्छानिरोधस्तपः) वास्तव में मनुष्य अपनी इच्छाओं का गुलाम है। अपनी

इच्छाओं के नियंत्रण का नाम 'संयम' अथवा 'तप' है। जैनधर्म में प्रत्याख्यान प्रणाली महत्वपूर्ण मानी जाती है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी अनियंत्रित इच्छाओं पर नियंत्रण 'काबू' करने का प्रयत्न करता है। जैन शास्त्रकारों ने इच्छाओं को आकाश के समान अनन्त बताया है। मनुष्य प्रत्याख्यान के द्वारा इच्छा नियंत्रण का अभ्यास करता है। शनैः शनैः नियंत्रण को कठोर किया जा सकता है। यह कठोर सत्य है कि आज समाज में प्रत्याख्यान प्रणाली में भी कुछ विकृति आती जारही है। हम देखते हैं कि वनस्पति 'हरी सब्जी' के त्याग को निर्वहन करने के लिये पूर्व से ही सुखाकर उपयोग किया जा सकता है। यदि हरी सब्जी का त्याग आवश्यक है तो उसको सुखाकर उपयोग करना प्रत्याख्यान की विडम्बना ही है। वास्तव में हरी सब्जी के त्याग का महत्व इच्छा नियंत्रण की दृष्टि से है किन्तु हम अपनी इच्छा पूर्ति का दूसरा रास्ता Back door बना लेते हैं। इस प्रकार के व्यवहार से समाज, अन्य समाज तथा विचारक वर्ग की नजर में हँसी का पात्र होता है।

जैन समाज के सम्मुख एक ज्वलंत प्रश्न है कि समाज के युवकों, किशोरों में जैन संस्कार किस प्रकार प्रविष्ट हो। मुझे स्वयं इस बात की चिन्ता है कि समाज के भावी सदस्यों-कर्णधारों में जैनसंस्कार की प्रविष्टि होना किस प्रकार शक्य होगा। यह कटु सत्य हमें स्वीकार करना होगा कि समाज के बच्चों के हृदय में संस्कार की छाप के अभाव का कारण माता-पिता अथवा कुटुम्ब के अन्य सदस्यों का दुर्लक्ष-उपेक्षा है। कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि माता-पिता अथवा कुटुम्ब के वरिष्ठ सदस्यों में ही जैन-संस्कार नाम मात्र का है—इस सारी स्थिति में तपस्या, उसका बाह्य-आभ्यन्तर रूप अथवा प्रत्याख्यान की पद्धति यह प्रश्न गौण हो जाते हैं। मुख्य प्रश्न, जिसे आज प्राथमिकता दी जानी चाहिये वह यह है कि जैन-आचार-पद्धति के प्रति समाज के बच्चों, किशोरों, युवकों के मन में आस्था, उत्पन्न की जावे। हमें जैन-आचार-पद्धति की विशिष्टता वैज्ञानिक आधारपर सिद्ध करनी होगी, जहां जैन श्रावक प्रातः काल उठकर नित्य नियम, स्वाध्याय, सामायिक, १४ नियम की बात सोचता था वहां आज जैन श्रावक का बच्चा, पाश्चात्य जीवन की नकल करता हुआ जिसे आज पाश्चात्य-प्रियता के कारण भारतीयों ने भी कुछ अंश में अपना लिया है। जिस प्रकार प्रातःकाल का कार्यक्रम सम्पन्न करता है उसका दिग्दर्शन हिन्दी के एक कवि ने बहुत सुन्दर शब्दों में किया है :—

दिन चढ़ आया, खुली नींद जब, पीने लगे 'बेड टी' सेट ।
हाथों में अखबार आ गया, मुंह में सुलग रही सिगरेट ।।
काफी, चाय, सिगार दोस्त को, वे फिर आप बनाते बात ।
पाखाने के साथ क्रम में, जहां महा हो रहे निहाल ।।

कवि का उक्त मतलब सम्भवत: साधारण जैन कुटुम्ब पर पूरे तौर पर लागू न होता हो किन्तु ऐसे जैनकुटुम्ब पर अवश्य लागू होता है कि जो धनिक, पाश्चात्य जीवन पद्धति के अनुगामी हैं, शिक्षित हैं। आज जैन-आचार पद्धति का अनिवार्य नियम 'रात्रि भोजन त्याग' का पालन जैन कुटुम्बों में यदा कदा ही देखने को मिलता है। हालांकि उक्त नियम अत्यन्त वैज्ञानिक स्वरूप का होकर स्वस्थ रहने की औषध है, किन्तु शिक्षित समुदाय में उसकी खिल्ली उड़ती हुई कई मरतबा देखी जा सकती है। यदि कोई मनुष्य उक्त नियम का पालन परिस्थितिवश मुश्किल मानता है तो वह विवशता बता दे यह समझ में आने जैसी बात है किन्तु नियम की खिल्ली मनुष्य की अनास्था का प्रतीक है। एक समय मुझे एक कालेज के छात्रावास में भाषण के लिये निमन्त्रित किया गया। मैंने अन्य बातों के अतिरिक्त रात्रि भोजन त्याग को धार्मिक, सामाजिक, कौटुम्बिक, शारीरिक सब दृष्टि से उपादेय बताया किन्तु छात्रावास के बच्चों को गले न उतर सकी। जब मैंने उनको पाश्चात्य जीवन पद्धति के Break fast शब्द की व्याख्या करते हुये बताया कि इस शब्द के आविष्कर्ता की दृष्टि से यही अभिप्राय था कि मनुष्य रात्री को Fast फाका करे तब प्रातः काल उसे break करें। फास्ट की ब्रेक करने का नाम ब्रेक फास्ट है। जब तक आप रात्री (पूरी रात भर या कुछ घण्टों का) को फाका नहीं करते तब तक प्रातःकाल 'नाश्ता' लेने के अधिकारी कैसे होंगे? इस व्याख्या से छात्रों के मन में इस नियम के प्रति आस्था का प्रादुर्भाव हुआ ऐसी मेरी धारणा है। समाज के चिन्तक, विचारक वर्ग को सामाजिक जीवन पद्धति के बारे में ऊहापोह करके कोई मार्ग निकालना चाहिये जिससे हमारी भावी पीढ़ी धार्मिक संस्कारों से शून्य न रहे, अन्यथा एक कवि के शब्दों में जन-साधारण की भांति जैन का परिचय भी निम्न प्रकार का होगा :—

मिट्टी का तन, मस्ती का मन।
क्षण भर, जीवन मेरा परिचय॥

७

णमोक्कार मंत्र

यह जन सामान्य तक भली-भाँति जानता है कि जैनधर्म के अन्तर्गत सम्प्रदाय तथा सम्प्रदायातीत पद्धति से विचार करने वाले सब कोई 'णमोक्कार मंत्र' को अत्यन्त पवित्र तथा महत्वपूर्ण मानते हैं। इसे जन साधारण अधिकतर 'नवकार मंत्र' कहते हैं जबकि भाषा की शुद्धता की दृष्टि से यह 'णमोक्कार मंत्र' है जिसका अर्थ है नमस्कार, इस णमोक्कार मंत्र में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, तथा लोक के समस्त साधु जनों को अपना नमस्कार निवेदन किया गया है। इस णमोक्कार मंत्र के अन्त में कई लोग इसका महत्व बताने वाली एक गाथा भी कहते हैं—

एसो पंच णमुक्कारो, सव्व पाव प्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलम्॥

जैन समाज का साधारण व्यक्ति भी णमोक्कार मंत्र का उच्चारण करके अपनी भाव पूजा पांचों पद को अर्पित करता है यदि हम इस महामंत्र की भावना पर ध्यान दें तो हम इस मंत्र को सम्प्रदायातीत विचार का सन्देश-वाहक पाते हैं वैसे जैनदर्शन में संकुचितता या साम्प्रदायिकता की गंध तक नहीं है। जैन दर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'अनेकांत दृष्टिकोण' हमें समस्त धर्मों के समन्वय का पाठ सिखाता है यह एक प्रकार से वैचारिक अहिंसा है और इसके द्वारा अपने से भिन्न विचारधारा के पुरस्कर्ता के प्रति भी आदर का भाव व्यक्त करता है तथा उसमें आंशिक सत्यता आरोपित करता है किन्तु इस महामंत्र में तो गणधर भगवान ने उदारता का ऐसा रूप बताया है कि— जिसके कारण इसका असाम्प्रदायिक रूप अकाट्य है। भारतीय धर्मों में— "श्रमण संस्कृति" का विशिष्ट स्थान है। भगवान महावीर के काल में तत्कालीन विचारधारा मे 'श्रमण' संस्था में केवल जैन साधु ही नहीं अपितु अन्य साधु जन सांख्य, गैरिक, तापस, जैन, बौद्ध का भी समावेश था ऐसी लेखक की

मान्यता है किन्तु गणधर भगवान ने इस महामंत्र के पंचम पद में केवल जैन साधु या श्रमण संस्कृति के पुरस्कर्ता साधु जन तक ही सीमित नहीं किया अपितु लोक के समस्त साधु समुदाय तक को अपना-नमस्कार निवेदन करने का प्रावधान रखा।

यदि हम भगवान महावीर की समकालीन परिस्थिति पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट होगा कि भगवान महावीर के अनुगमन कर्ता में कई परिव्राजक, सन्यासी आदि भी थे और उनका पथ-प्रदर्शन भी इसी महापुरुष के द्वारा किया जाता रहा है। जैन धर्म में १५ प्रकार से मुक्ति प्राप्ति का प्रावधान है जिसमें विशेष रूप से तीर्थ सिद्धा, अतीर्थ सिद्धा, गृहलिंग सिद्धा, अन्यलिंगसिद्धा आदि का भी समावेश है। तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर के मार्ग में मनुष्य चाहे वह निग्रन्थ धर्म में निहित चारों तीर्थ (साधु साध्वी, श्रावक श्राविका) में से कोई हो या अन्य किसी महापुरुष का अनुयायी हो किन्तु जिसके कषायों का उपशम हो गया हो चाहे वह गृहस्थ हो मोक्ष प्राप्ति के लिये सक्षम है। इस प्रावधान ने भी जैन दर्शन की उदारता को जग-जाहिर कर दिया है।

इस महामंत्र के शेष चारों पदों में भी कोई संकुचितता, अथवा साम्प्रदायिकता का दृष्टिकोण नहीं है अरिहंत, सिद्ध, आचार्य तथा उपाध्याय विभिन्न धर्मो में हो सकते हैं और उन सबको इस मंत्र में नमस्कार निवेदन किया है किन्तु यह आवश्यक है कि वह राग-द्वेष विनिर्मुक्त हो तब ही नमस्कार के योग्य है जैसाकि एक विद्वान ने कहा था—

ब्रह्मा वा विष्णुंवा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै।
बुद्धं वा वर्धमानं शत दल निलयं, केशवं वा शिवं वा।

यहां संस्कृत प्राकृत के उद्भट विद्वान जैनाचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य की एक घटना उद्धृत करना समीचीन होगा जिन्होंने शिव प्रतिमा के सन्मुख निम्न श्लोक पढ़कर नमस्कार किया था—

भव बीजांकुर जनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुंवा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

तात्पर्य यह है कि किसी भी महापुरुष के नमस्कार योग्य होने के लिये आवश्यक यह है कि वह राग-द्वेष (जो इस संसार में आवागमन के बीज रूप हैं) से मुक्त हो फिर उसका नाम चाहे जो, हो, इसी प्रकार आचार्य तथा उपाध्याय उसी के मार्ग का अनुसरण करने वाले हों—

जिस प्रकार वैदिक धर्मानुयायियों के निकट गायत्री मंत्र का, इस्लाम के निकट कलमा (ला इलाहा इल्लिाह मुहम्मद रसूलिल्लाह) का महत्व है उसी

प्रकार पवित्र भावना का द्योतक यह Secular Type का महा मंत्र नमस्कार मंत्र है जिसका अंग्रेजी भाव अनुवाद निम्न है—

I bow to the deserving one's and to those who attened perfections, and I bow to the preceptors to the sayes and the leaders of mankind who have taught the righteous path.

मैं कई दिनों से एक कमी अनुभव कर रहा हूँ कि हमारे इस पवित्र मंत्र का स्वर, ताल से लय युक्त गेय रूप समाज के सन्मुख नहीं आ सका। समाज को किसी ऐसे कलाकार को यह कार्य सुपुर्द करना चाहिये जो इस प्राकृत मंत्र को लय युक्त गेय रूप में प्रस्तुत कर सके। यदि आवश्यक हो तो पुरस्कार स्वरूप उचित धन राशि की घोषणा करके इस कार्य को सम्पन्न कराना चाहिये।

८

क्षमा-वणी पर्व और हमारा दायित्व

जैन धर्म की प्रत्येक परम्परा में—'क्षमापना-दिवस' मनाया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा में क्षमापना-दिवस भादों सुदी ४-५ को तथा दिगम्बर परम्परा में भादों सुदी १४ को प्रत्येक वर्ष मनाया जाता है। कोई उसे 'क्षमा दिवस' कोई 'क्षमावणी' के नाम से भी आयोजन होने लगे हैं। उद्देश्य एक ही है। वह कि हम विश्व भर के समस्त प्राणधारियों से अपने कृत अपराध की क्षमा चाहें, यदि किसी प्राणधारी ने हमारे प्रति अपराध किया हो तो उसे क्षमा करदें। तात्पर्य यह है कि forget & forgive की नीति को हम अंगीकार करें। इस अखिल विश्व में कोई व्यक्ति हमारा बैरी न रहे। हम किसी के प्रति बैर भाव न रखें, यही इस महापर्व के पीछे भावना है।

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, बैरं मज्झं ण केणई॥

इसमें बताया गया कि हम किसी के प्रति बैर भाव न रखे। आप जानते हैं कि यदि हम मैत्री भावना को न अपनायें तो हम-'राक्षस' हो जावेंगे। हमारे हृदय में क्रोध होगा जिसके कारण हृदय क्रोधाग्नि से परिपूर्ण हो जावेगा। जब हमारे मस्तिष्क में क्रोध होगा तो हमारी बुद्धि मस्तिष्क को खाली कर देगी। यह एक सुनिश्चित बात है कि मस्तिष्क में एकसाथ में एक ही बात रह सकती है क्रोध रहे या बुद्धि। संक्षेप में यह कि मनुष्य को अपने प्रति किये गए अपराध को भूलना ही पड़ेगा इसीलिए forget & forgive का सिद्धान्त अपनाया गया है यह शुभ दिवस भ्रातृत्व का संदेश वाहक है। इस मैत्री भावना के द्वारा हम वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श अपना सकते हैं। भारतवर्ष जैसे अध्यात्म प्रिय देश की यह इच्छा है जो इस देश के प्रधानमन्त्री स्वर्गीय श्री जवाहरलाल जी ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया था, कि न हम अपने व्यक्तिगत जीवन में ही मैत्री-भावना को अपनायें अपितु सामाजिक तथा अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में भी

यही भावना अपनाई जावे । यही कारण है कि उन्होंने 'पंचशील' का व्यापक तथा अनुपम सिद्धान्त प्रतिपादित किया था । वास्तव में देखा जावे तो यह सिद्धान्त राजनीतिक अध्यात्मवाद का प्रतीक है । भारतवर्ष शान्तिप्रिय देश है उसके नेतागण की हार्दिक इच्छा है कि विश्व में शान्ति रहे । उसके नेतागण अध्यात्म प्रेमी है, उनके रोम-रोम में अध्यात्मिकता भरी हुई है । वह भौतिकता के सिद्धान्तों से प्रभावित नहीं है । हम चाहते हैं कि विश्व का प्रत्येक देश मैत्री दिवस का आयोजन करे और प्रत्येक देश के साथ मैत्री भावना जागृत करें । संयुक्त राष्ट्र संघ इस प्रकार के वातावरण को निर्माण कर पाये तो आप निश्चित जानिए कि सारा विश्व शान्तिप्रिय बन जावेगा । किन्तु आज हमारे जैन भाइयों ने ही स्वयं आचार्य अमितगति के शब्द में —

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थभावम् विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव: ।।

की कृति नही अपनाई है । इसी कारण जैन समाज एक छिन्न भिन्न समाज है । जैन समाजान्तर्गत विभिन्न सम्प्रदाय की मान्यताओं का अभी तक समन्वय नही है । और इसी कारण उनका एकीकरण आज तक सम्भव नहीं हो सका । समाज का इस ओर कोई ध्यान नहीं है । इतना ही नहीं अपितु व्यापक प्रश्नों के सम्बन्ध में समाज एकमत नहीं थे, न उस दिशा में कोई सम्मिलित प्रयत्न होता है । इसी कारण अभी क्षमापना-दिवस का आयोजन भी सारे भारतवर्ष में एक दिन नहीं होता है । कुछ स्थानों पर यह आयोजन एक ही दिन अखिल जैन समाज की ओर से किया जा रहा है यह प्रसन्नता की बात है । होना तो यह ही चाहिए था कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार पर्युषण प्रारम्भ होता है तब से पर्युषण-पर्व प्रारम्भ किया जाकर दिगम्बर सम्प्रदाय के पर्व का अन्तिम दिन हो तब तक सारा जैन समाज पर्युषण-पर्व को मानता, किन्तु यदि आज की परिस्थिति में यह सम्भव न हो तो कम के कम 'क्षमापना-दिवस' तो एक ही दिन मनाया जावे;उत्तम बात तो यह होगी कि दोनों सम्प्रदाय को पर्युषण की समाप्ति पर क्षमापना-दिवस का सार्वजनिक आयोजन किया जाकर मैत्री दिवस मनाया जावे ।

हमारा यह विश्वास है कि समय की मांग के अनुसार एक दिन ऐसा आयेगा जबकि सारा जैन समाज, आचार्य के शब्दों में यह विश्वास करने लगेगा कि—

नाशाम्बरत्वे नसिताम्बरत्वे, न तत्त्ववादे न च तर्कवादे ।
न पक्षसेवाऽऽश्रयेण मुक्तिः, कषायमुक्तिःकिल मुक्तिरेव ।।

जब जैन समाज इस प्रकार की वृत्ति ग्रहण करेगा तभी हमारी वाणी में मजबूती आवेगी और तभी हमारी इच्छा के अनुसार विश्व के राष्ट्र भी मैत्री दिवस का आयोजन करके परस्पर मैत्री भाव जागृत करेंगे ।

९

जैनधर्म का समाजवादी स्वरूप

यदि हम जैन धर्म में निहित तत्वों की ओर गहराई से देखे तो हमें यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देगी कि उसमें व्यक्ति तथा हमाज में अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध मानते हुए भी अधिक महत्व समाज को दिया गया। यह सत्य है कि जैनधर्म आचार प्रधान है उसमें विधि-निषेध सम्बन्धी प्रावधान है तथा उन पर अमल करना आवश्यक माना जाता है इस परिप्रेक्ष्य में इसे व्यक्ति परक भी कह दिया जाता है किन्तु यह एकांगी सत्य है। वास्तविकता यह है कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तक प्रत्येक तीर्थंकर ने तीर्थ की स्थापना की तथा चतुर्विध तीर्थ रूप संघ को अत्यधिक— महत्व दिया। श्री नंदी सूत्र की प्रास्ताविक गाथाओं में संघ महिमा का जो सुन्दर काव्यात्मक रूप हमको मिलता है उससे संघ की महत्ता का दिग्दर्शन हो सकता है, यही नहीं अपितु स्वयं तीर्थंकर भी संघ को 'णमोतित्थस्स' कहकर वन्दना करते हैं। यह सत्य है कि व्यक्ति का समूह ही संघ होता है किन्तु Individual रूप से व्यक्ति को संघ का महत्व प्राप्त नहीं होता जबकि व्यक्ति सामूहिक रूप से 'संघ' कहाता है और उसे महत्व प्राप्त है। इस सामूहिकता का अपर नाम ही 'समाज' है। हम चाहें आज के आधुनिक युग में समाजवादी विचारधारा का जनक 'कार्ल मार्क्स' को कहें किन्तु वास्तविकता यह है कि सामाजिकता तथा समाज-परक व्यवस्था का विचार तथा अमल हमारे देश में युगों-युगों से रहा है। एक विशेषता इस देश की यह भी रही है कि समाज परक व्यवस्था केवल एक विचार, एक Theory ही न हीं रही अपितु इन व्यवस्थाओं के पुरस्कर्त्ता महापुरुषों में पेश्तर ने उस पर अमल किया। जैन साहित्य के एक महान् सूत्र 'श्री मद् स्थानांग सूत्र' में दस धर्मों का विवेचन किया है जिसमें ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म, समाज धर्म का समावेश किया गया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपनी आत्मा के उद्धार के लिये

प्रयत्न करना कर्त्तव्य माना जाता है उसी प्रकार उसको समाज के प्रति भी अपना कर्त्तव्य निर्वाह करना लाजमी है।

प्राग् ऐतिहासिक काल के कुलकर या युग की समाप्ति के पश्चात् भगवान ऋषभदेव ने जो समाज व्यवस्था देश को दी तथा राज्य संस्था का निर्माण किया उसके अध्ययन करने से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकेगा कि उन्होंने मानव को अपनी आजीविका प्राप्त करने के लिये असि, मृसि, कृषि सम्बन्धी कार्यों मे संलग्न रहना जरूरी माना। तात्पर्य यह कि उस प्राग् ऐतिहासिक काल में भी एक 'महनत कश' समाज का सूत्रपात किया गया। यही नहीं उन्होने त्यागी वर्ग के लिये त्रि याम (अहिंसा,सत्य,अपरिग्रह) का उपदेश किया। कहा जाता है कि उसके पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ ने उसे चतुर्याम करके संशोधन किया तथा भगवान महावीर ने पंचयाम करके पंच महाव्रत का रूप दिया (देखिये अमर भारती जनवरी १९७३ अंक) कुछ भी हो किन्तु यह विवाद से भरे तथ्य है कि जैन धर्म के पुरस्कर्त्ता महापुरुषो के हृदय में जिस 'श्रमनिष्ठ' समाज की कल्पना थी उसके लिये उन्होंने 'अपरिग्रह' का प्रावधान भी आवश्यक समझा। हालांकि उस युग में शोषण के बड़े-बड़े साधन नही थे। त्यागी वर्ग के सन्दर्भ में एक आदर्श वाक्य है।

"असंविभागी नहु तस्स मोक्खो"

जो अपने प्राप्त व्यय का संविभाग करके अन्य को नहीं देता उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। यदि हम श्रावकों के लिये निर्दिष्ट १२ व्रतों का अध्ययन करे तो हमें स्पष्ट रूप से पता लगेगा कि श्रावक को जहाँ अपनी सम्पत्ति की सीमा बाँधकर अल्प परिग्रही होने का विधान किया गया वहाँ उसकी दैनिक-व्यवहार की वस्तु पर भी सीमा लगाने का प्रयत्न किया गया। तात्पर्य यह है कि श्रावक सम्पत्ति का असीमित संचय न करे इतना पर्याप्त नहीं माना गया अपितु उससे अपेक्षा की गई कि वह अपने दैनिक व्यवहार की वस्तु-भोगोपभोग पर भी limit करे ताकि देश के उत्पादन का कितने भाग का वह उपयोग करेगा यह सीमा बाँध दी जावे। इन महापुरुषों ने विश्व को जिस प्रकार के त्याग का उपदेश दिया वैसा ही अपने जीवन में अमल किया। यदि यह कहा जावे तो अधिक सत्य होगा कि इन महापुरुषों ने पहले त्याग तथा साधना के द्वारा 'कैवल्य' प्राप्ति की तथा जिस सत्य का—साक्षात्कार किया उसका उपदेश विश्व को दिया। भगवान् महावीर के पश्चात् इन २५०० वर्ष में कई महापुरुषों ने इस देश को दिशा-दर्शन दिया है तथा अपने जीवन व्यवहार से प्रभावित किया है। अभी ताजा उदाहरण राष्ट्रपिता बापू का है जिन्होंने देश

को केवल समाजवादी व्यवहार करने का उपदेश नहीं दिया अपितु स्वयं के जीवन व्यवहार को इस प्रकार सीमित करके साक्षात् साम्यवादी, समाजवादी होना सिद्ध किया। समाज से कम से कम लेकर अधिक से अधिक दिया। जैसा कि इस देश की परम्परा रही है।

जैन साधना पद्धति में सामायिक का बड़ा महत्व है। चाहे त्यागी वर्ग की साधना हो चाहे गृहस्थ की। दोनों पद्धति में 'सामायिक' का महत्व है। इस पारिभाषिक शब्द 'सामायिक' का मूल 'समता भाव है। सामायिक यह है जब कि मनुष्य विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति समता का भाव अपने हृदय में धारण करके उसको आजीवन अथवासमय विशेष तक धारण करे। इसी कारण जैन साहित्य के एक अनुपम शास्त्र उत्तराध्ययन में कहा गया कि

"समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो।"

समता भाव धारण करने से ही श्रमण हो सकता है। जब कोई व्यक्ति श्रमण (साधु) दीक्षा लेते हैं तो उसे आजीवन सामायिक का व्रत धारण करना होता है। यदि कोई व्यक्ति गृहस्थ रहते हुए सामायिक व्रत धारण करना चाहता है तो उसे समय की सीमा बाँधकर सामायिक व्रत कराया जाता है। तात्पर्य यह है कि जैन साधना पद्धति का हार्द 'सामायिक' है जिसमें समता भाव का धारण करना अनिवार्य है। जैन परम्परा के एक धुरन्धर विद्वान-आचार्य समतभद्र ने समस्त प्राणी मात्र के कल्याण की कामना करने की अपनी शुभ भावना प्रदर्शित करते हुए बताया था कि हे भगवन्! आपका यह तीर्थ 'सर्वोदय' (सब का उदय करने वाला कल्याण करने वाला) है

सर्वापदामन्तकरं निरंतं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

तात्पर्य यह है कि जैनधर्म के महान् विचारकों ने बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय का प्रावधान करके विश्व का महान् उपकार किया है, उसका उद्‌घोष था कि—

अर्पित हो मेरा मनुज काय
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय ॥

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह निःशंक रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म में समाजवादिता का जो स्वरूप है वह केवल आर्थिक नहीं है। एकांगी नहीं है, अपितु जिस समाज-परक व्यवस्था का प्रावधान किया है उसमें मानव जीवन का आदर है, उसके विचारों का आदर है, उसमें आर्थिक स्वतंत्रता का उद्‌घोष है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है आधुनिक समाजवाद के

पुरस्कर्त्ता 'काल-मार्क्स' का लक्ष्य केवल मानव के अर्थ-तंत्र से सम्बन्धित था। इसमें सन्देह नहीं कि जब विश्व की विचारसरणि में 'देव-वाद' का बोल बाला था, मनुष्य अपनी गरीबी को भगवान् या भाग्य की देन मानकर संतोष कर लेता था उस युग में विचारक ने स्पष्ट घोषणा की कि—किसी भगवान या भाग्य ने मानव को गरीबी का प्रावधान नहीं दिया। अपितु समाज-व्यवस्था राज्य की व्यवस्था,पूँजीवादी आधारपर होने से वह गरीब है, इस कारण राज्य को व्यवस्था इस प्रकार की परिवर्तित की जाना चाहिये कि जिससे प्रत्येक को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये समुचित अवसर मिल सके। इस विचारक की विश्व को बड़ी देन है किन्तु फिर भी वह एकांगी है। मानव के केवल आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो जाने पर भी बहुत कुछ शेष रहता है। आधुनिक समाजवादी विचारधारा राज्याश्रित अधिक है। समाजवादी यह विश्वास करते है कि राज्य व्यवस्था समाजवादी सिद्धान्तो पर आधारित होने से सब कुछ ठीक हो जावेगा। मानव अभाव से पीडित नही रह सकेगा। तात्पर्य यह कि मानव को अपने अभाव की पूर्ति के लिये राज्य-व्यवस्था के परिवर्तन तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। जबकि भारतीय प्राचीन विचारधारा यह स्पष्ट निर्देश करती है कि दोनों कार्य साथ साथ हों ताकि मानव तब तक उपेक्षित न रह सके। कल्पना कीजिये कि एक मकान में आग लग जावे या पड़ौसी के मकान का निवासी भूख से तडपता हो तब पड़ौस का रहने वाला राज्य शासन की सहायता के लिये भागे तब तक पड़ोसी का मकान स्वाहा हो जायगा या उसके प्राण पखेरु उड़ जावेंगे। इसलिए भारतीय समाजवादी विचारधारा व्यक्ति को उपेक्षित देखना नहीं चाहती। एक विचारक ने लिखा था कि समाजवादी व्यवस्था में प्रजा, राज्य तथा अधिकारीगण पर अधिक आश्रित हो जाती है। राष्ट्रपिता बापू के हृदय में यह कल्पना थी कि इस देश का निवासी अधिक राज्याश्रित न हो। इससे मानव के मन में परावलम्बिता का उदय होगा और यह परिणाम, एक स्वतन्त्र देश के नागरिक के सम्मान के अनुकूल नहीं है। जब मानव को राज्य से उसकी आकांक्षा की पूर्ति नहीं होती तो वह निराश होता है और एक कवि के शब्दों में उसके मुँह से निकलने लगता है।

उलफत के सिले में, सरकार से अपनी।
एक दर्द मिला दिल में, और दाग जिगर में॥

वास्तविकता यह है कि आधुनिक समाजवाद का कोई स्वरूप निश्चित नहीं है। एक विद्वानने लिखा था कि समाजवाद एकऐसी टोपी है किजो किसी के भी सर में फिट हो सकती है। कहा जाता है कि साम्यवादी देशों में भी

समाजवाद का स्वरूप पृथक-पृथक् है। रूस तथा चीन के समाजवाद में ही अंतर है। एक बात निश्चित है कि समाजवादी विचारधारा ने मानव के मन में आर्थिक स्वतन्त्रता की भूख, जगा दी है किन्तु यह विचारधारा एकांगी होने से मानव के मन में 'असन्तोष' की आग भड़का देती है। वह केवल अपने जीवन यापन के स्तर (Standard of Life) वृद्धि की दिशा में ही सोचता है, अधिकार की भाषा उसके मुँह पर होती है कर्तव्य का पक्ष उसके मस्तिष्क में नहीं आता परिणाम यह होता है कि प्रत्येक खराबी का दायित्व वह राज्य पर होना करार देकर राज्य के प्रति विद्रोही भावना को बढ़ाता है। हमारी भारतीय विचारधारा में भी राजा को असन्तुष्ट होना आवश्यक माना जाता था जैसाकि कहा गया है—

> असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः, सन्तुष्टा च महीभुजः।
> सलज्जा गणिका नष्टाः, निर्लज्जा च कुलांगना।

किंतु प्रजा के मन में असन्तोष जागे तो चूँकि वह राज्याश्रित अधिक है उसका क्रोध राज्य पर ही होता है। दूसरी बात जो मानव के मन में घर कर जाती है वह 'वर्ग-विद्वेष' है। मानव की विचार सरणि चूँकि एकांगी होती है इस कारण वह 'अर्थस्य पुरुषोदासः' हो जाता है तथा उसके अभाव की जिम्मेदारी राज्य के साथ एक विशेष वर्ग पर डालकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट है कि आधुनिक समाजवादी विचारधारा का जब तक भारतीयकरण न हो तब तक प्रजातंत्र में स्वयं के कर्तव्य की भावना जागृत नहीं हो सकती और न राज्य के प्रति स्वयं के कर्तव्य का भान उसे हो सकेगा। अधिक सत्य यह है कि राजनीति के पास मानव की समस्याओं का समाधान नहीं है चाहे कोई वाद हो वह समस्या सुलझा नहीं सकेगा। समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदय तब ही सफल हो सकेंगे, जब कि उसमें मानव के हृदय को परिवर्तन करने की शक्ति हो और उसका लक्ष्य मानव को आदर्श नागरिक बनाना हो। आज की विश्व की समस्याओं का समाधान तब हो सकेगा जबकि मानव सनातन मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा कर सकेगा। जैसाकि प्रसिद्ध इतिहासविद तथा विश्वसंस्कृति के अध्येता डॉ० टायनबी का नव-प्रकाशित पुस्तक में निष्कर्ष निकाला गया है। जैन धर्म में समाज-परक व्यवस्था तथा समाजवादिता के जो विचार कण फैले पड़े हैं उसके अनुसार मानव, सनातन मूल्यों की पुनर्स्थापना करें तब ही मानव का कल्याण हो सकता है। मानव का विकास सर्वांगीण होना चाहिये यही जैनधर्म में निहित विचार-कणों का सार है और यही जैनधर्म में निहित समाजवाद का स्वरूप है। ●

१०

सामाजिक तथा आर्थिक न्याय

यदि हम प्राचीन जैन साहित्य का अवलोकन करें तो हम इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि जैनधर्म का मुख्य आधार अहिंसा पर है। 'अहिंसा' से तात्पर्य केवल प्राणिवध से विमुख होना नहीं है किन्तु प्रत्येक प्रकार की हिंसा से विरत रहने से जैनधर्म ने जहां प्राणिवध को अनुचित माना वहीं उसने 'बौद्धिक हिंसा' को भी वर्जित माना। इसीलिये एक प्राचीन जैनाचार्य ने स्पष्ट कहा था कि—

> स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
> नास्त्यन्यपीडनं किंचित्, जैनधर्मः स उच्यते ॥

किन्तु अहिंसा के सम्मुख एक प्रश्न और था वह यह कि समाज में से अर्थ-जन्य द्वेष तथा ईर्ष्या को किसप्रकार समाप्त किया जावे और उसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये भगवान महावीर ने अपने उपदेशों में 'अपरिग्रह' के विचार को बहुत महत्व दिया। भगवान महावीर ने संसार के कल्याण के हेतु जिस स्वानुभूति-पूर्ण मार्ग का उपदेश दिया वह 'निर्ग्रन्थ-धर्म के नाम से पहचाना जाने लगेगा। जैनश्रमण वर्ग के नियमों-उपनियमों का सूक्ष्म अध्ययन करने से पता चलेगा कि श्रमण को अपने शरीरतक की परवाह किये बिना 'आत्मानन्द' में लीन रहना उत्तम श्रमणधर्म बताया गया। यहाँ तक कि जब शारीरिक बल कम होता जाय और जीवन की आशा न रहे तब उसे पूर्ण रूप से शरीर-मोह त्याग कर 'संलेषणा व्रत' अंगीकार कर लेना चाहिये। इसमे भी कोई सन्देह नहीं कि गृहस्थ पूर्ण रूप से अपरिग्रही नहीं हो सकता। यह भी सत्य है कि मानव के मन में अनन्त वासनाएं, इच्छाएं होती हैं। जैन शास्त्रों ने मानव की इच्छा को आकाश के समान अनन्त बताया है। तात्पर्य यह है कि आकाश के समान अनन्त इच्छाओं को परिमित करने का उपदेश भगवान महावीर ने गृहस्थ को दिया, किन्तु उसका भी अन्तिम लक्ष्य पूर्ण अपरिग्रही माना गया

और इसके लिये भी 'संलेषणाव्रत' धारण करके शरीर त्याग उचित माना गया। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान स्व० श्री धर्मानन्द जी कोसाम्बी भगवान पार्श्वनाथ द्वारा उपदेशित 'चातुर्याम धर्म' से बहुत प्रभावित थे और उन्होंने अपनी-अपनी शारीरिक स्थिति की गिरावट का लक्ष्य रख कर अंतिम 'संलेषणा व्रत' अंगीकार करके शरीर त्याग के विचार को उचित समझा था, जैसा कि उनके द्वारा-लिखित 'भगवान बुद्ध' नामक पुस्तक की प्रस्तावना में आचार्य काका कालेलकर ने व्यक्त किया है। मेरे नम्र मत में यह सब अपरिग्रह विचार की प्रक्रिया है।

वास्तव में भगवान महावीर के उपदेश का सार हिन्दी वर्णमाला के प्रथम-अक्षर-अ- से प्रारम्भ होने वाले तीन सिद्धान्त (१) अहिंसा, (२) अनेकान्त, (३) अपरिग्रह है। इस लेख का उद्देश्य अपरिग्रह के विचार के द्वारा भगवान महावीर ने विश्व को किस प्रकार सामाजिक तथा आर्थिक न्याय का उपदेश दिया, इसका दिग्दर्शन कराना है।

अपरिग्रह एक 'विचार' है वाद नहीं यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है। जब कोई विचार 'वाद' का स्थान ले लेता है तो उसमें संकुचितता, जड़ता आ जाती है वह विचार सीमित हो जाता है। भगवान महावीर ने बताया था कि विश्व में किसी वस्तु का संग्रह 'पाप' है। यदि मनुष्य आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करता है तो वह समाज में अपवित्रता का सूत्रपात करता है। संग्रह करने वाला व्यक्ति उन वस्तुओं से समाज के अन्य सदस्यों को वंचित कर देता है। संक्षिप्त में संग्रह पाप है। चाहे धन का हो अथवा अन्य किसी वस्तु का हो। जिस युग में मानव समाज वस्तुओं का विनिमय करके अपनी आवश्यकता की वस्तु को प्राप्त करता था उस Barter Syatem की कठिनाई को ध्यान में रखकर सिक्कों का प्रचलन प्रारम्भ किया गया। यह मानव समाज की सुविधा के लिये था ताकि मनुष्य को अपनी इच्छित वस्तु सिक्के के बदले में प्राप्त हो सके। किन्तु मनुष्य ने इस सिक्के तथा इसके पश्चात् प्रचलित करेन्सी नोट का संग्रह किया। सिक्का तथा करेन्सी नोट का मुख्य कार्य प्रचलन था। जब मनुष्य ने उसका संग्रह किया तो समाज में बुराइयां फैली। यदि पाठक करेन्सी-शब्द के शाब्दिक अर्थ को ध्यान में ले लें तो उन्हें ज्ञात होगा कि जिस नोट का Current जारी रहे, प्रचलित रहे वही करेन्सी नोट है। जब मनुष्य ने उसे संग्रह किया तो उससे समाज में एक अभावग्रस्त वर्ग उत्पन्न हो गया। इसी प्रकार लक्ष्मी 'चंचल' मानी जाती है। उसका स्वभाव चंचल है,

वह किसी एक व्यक्ति पास स्थायी रूप से नहीं टिक सकती है, एक प्राचीन कवि ने विनोद में कहा था—

पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय'

यदि हम प्राचीन परम्परा पर ध्यान दें तो हमें ज्ञात होगा कि लक्ष्मी का वाहन उलुक है, तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य लक्ष्मी को अपनी आवश्यकता की प्राप्ति का साधन मानकर उपयोग करता है, ममत्व-रहित विनिमय करता है, उसके लिये लक्ष्मी एक साधन है किन्तु जिसने लक्ष्मी को साध्य मानकर उसकी पूजा की उस व्यक्ति को लक्ष्मी ने अपना वाहन बना लिया। मानव की इस संग्रह की वृत्ति को व्यापार के क्षेत्र में Hoarding तथा होड़ Competition द्वारा अनुचित लाभ प्राप्ति की वृत्ति को जन्म दिया है। मनुष्य इसी वृत्ति के कारण पूँजीवादी बना। यह माना जाता है कि पूँजीवाद का प्रारम्भ 'सौदा' तथा उत्कर्ष 'सट्टा' से होता है। उसका अंतिम लक्ष्य 'द्यूत' है। इस पूँजीवादी वृत्ति के कारण समाज में संचय, भिक्षा, चौथ जैसी भयंकर बुराईयां फैलती है।

वास्तव में आज विश्व 'सद्भाव' तथा 'अभाव' दो खेमों में विभक्त है। विश्व में इन्हीं दो खेमों में परस्पर संघर्ष है, एक व्यक्ति विपुल सामग्री से युक्त है तथा दूसरा आवश्यक वस्तुओं के अभाव से दुःखी है। जब विपुल सामग्री युक्त व्यक्ति अपनी संग्रहीत सामग्री का मूल्य बढ़ाकर अभाव पीड़ित व्यक्ति के लिये दुर्लभ कर देता है तो उसकी आत्मा रो देती है। इतना ही नहीं अपितु पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था ने तो मूल्य स्थिरीकरण के नाम पर संग्रहीत वस्तु को नष्ट करने तक की व्यवस्था बता दी। इस भारी विषम परिस्थिति के परिणाम-स्वरूप समाज मे अमीर-गरीब जैसे वर्गों की स्थापना हो गई। समाज में अमीर वर्ग निहित स्वार्थ वाला तथा स्थितिपालक बन गया। अमीर तथा गरीब की स्थिति का शब्द-चित्र हिन्दी के एक कवि ने निम्न शब्दों में किया है :—

श्वानों को मिलता दूध,
भूखे बालक अकुलाते हैं।
मां की हड्डी से चिपक ठिठुर,
जाड़े की रात बिताते हैं।
युवती की लज्जा बसन बेच,
जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल, फुलेलों पर,
पानी सा द्रव्य बहाते हैं।

मानव समाज ने जिन महापुरुषों को जन्म दिया है उनमें भगवान महावीर महात्मा बुद्ध के पश्चात् महात्मा ईसा, हजरत मुहम्मद का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। महात्मा बुद्ध ने भी मानव समाज के दुःख निवारणार्थ चार आर्य सत्यों का मार्ग बतलाया था। महात्मा ईसा ने तो घोषणा की थी कि सूचिका (सुई) के अग्रभाग में से किसी ऊंट का निकलना सम्भव नहीं हो सकता है किन्तु धनी मनुष्य का स्वर्ग में प्रवेश असम्भव है। बाईबिल में वर्णित एक कथा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस कथा का सारांश यह है कि अंगूर के बगीचे के मालिक ने कार्य करने के हेतु कुछ मजदूर प्रातःकाल से नियुक्त किये किन्तु दोपहर को देखा तो कुछ अन्य मजदूर कार्य के अभाव में वहीं खड़े थे। उनको भी उसने कार्य पर लगा लिया। इसी प्रकार तीसरे पहर भी कुछ अन्य मजदूरों को कार्य के अभाव में खड़े देखा, उसने उनको भी कार्य पर लगा दिया, किन्तु संध्या को मजदूरी चुकाने के समय सबको उतना ही दिया कि जो प्रातःकाल से कार्य करने वाले मजदूर को दिया था। समानरूप से मजदूरी दिये जाने पर प्रातःकाल से कार्य करने वाले मजदूरों को दुःख हुआ, किन्तु उद्यान के स्वामी ने स्पष्ट कहा कि तुम से जो मजदूरी तय हुई वही मैंने तुमको दे दी। मैं कार्य के अभाव मे प्रतीक्षा करने वालों को भी वही मजदूरी देता हूँ। अपने धन का मैं स्वामी हूँ, तुम्हें दुःख होने का कारण नहीं है। उक्त कथा के द्वारा बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त की ओर मानव का ध्यान आकर्षित किया है।

हजरत मुहम्मद का जीवन तो स्वयम् अल्प आवश्यकता लिये हुए गरीबों का जीवन था। उन्होंने मानव के सम्मुख 'गरीबी' का आदर्श रखा। इन सब महापुरुषों ने किसी वाद की स्थापना नहीं की, अपितु उन्होंने मानव के अन्तर्मन में जो सद्विचार के बीज थे उनको अपील की और अभाव-पीड़ित व्यक्ति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के लिये मार्ग-दर्शन किया। भगवान महावीर ने लगभग २५०० वर्ष पूर्व अपरिग्रह की जो अपूर्व व्याख्या की थी उसमें भी किसी वाद की स्थापना का कोई विचार तो नहीं था किन्तु उसमें 'समाजवादी विचार' के बीज अवश्य विद्यमान थे। उक्त व्याख्या से देश में यह विचार भी पल्लवित हुआ कि समस्त वस्तुएँ और धन उस व्यक्ति विशेष का नहीं, अपितु समाज की सम्पत्ति है। 'समाजाय इदम्, न मम्' व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार उसका वितरण कर देना चाहिये। जो व्यक्ति वितरण नहीं करता वह दोषी है।

'असंविभागी नहु तस्स मोक्खो'

विश्व में कई दार्शनिक विद्वान हुए। उन्होंने भिन्न-भिन्न रीति से अर्थ-जन्य विषमता को मिटाने का उपाय बताने का प्रयत्न किया। इन सब में

मार्क्स का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है मानवता के इस पुजारी ने स्पष्ट बताया था कि अमीरी और गरीबी भगवान की बनाई हुई नहीं है, किसी भी धर्म में उनका कोई प्रावधान नहीं है। इस महाविचारक का विचार था कि हमें ऐसी समाज-व्यवस्था का निर्माण करना चाहिये जिसमें न अमीर रहे न गरीब, इस महान् तथा पवित्र विचार के उद्देश्य पूर्ति के लिये उन्होंने वर्ग-संघर्ष का मार्ग पसन्द किया। यह स्पष्ट है कि वर्ग-संघर्ष के मार्ग में हिंसा अनिवार्य थी। यही कारण है कि उक्त पवित्र उद्देश्य के होते हुए भी साधन अपवित्र होने के कारण देश में उसको अधिक पक्ष नहीं मिल सका। इस विचारक के पश्चात् भारतीय रंगमंच पर एक ऐसी विभूति का अवतरण हुआ जिसने विश्व को प्रमाणित किया। उस महान विभूति 'गांधी' ने केवल सैद्धान्तिक बात ही नहीं की अपितु प्राचीन कई महापुरुषों की भांति 'दरिद्र नारायण' का जीवन स्वयम् व्यतीत किया। उस महान विभूति ने मानव के अन्तर्मन की अपील की, उसने सभी के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया। बाईबिल में वर्णित कथा के आधार पर रस्किन द्वारा लिखित पुस्तक UNTO THIS LAST 'अल्य को भी' ने गांधी के जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। यही कारण है कि गांधी जी विश्व मे मानव की सद्बुद्धि व विवेक को अपील करके समाज में 'सर्वोदय' की स्थापना करना चाहते थे। यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो हमें इस विभाग में साध्य व साधन दोनों की शुद्धता दिखाई देती है। पवित्र साध्य के लिये भी अहिंसक साधन अपनाया जाने की बात थी, किसी पर कोई दबाव नही। वास्तव में भगवान महावीर तथा उसके पश्चात् जैनाचार्यों ने जिस 'सर्वोदय तीर्थ' की रचना का विचार किया था, वही विचार गांधी जी द्वारा उपस्थित किया गया।

'सर्वापदामन्तकरं निरंतं,'
सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव'

यदि हम समाज की वर्तमान परिस्थिति पर सूक्ष्म अध्ययन करें तो इस निश्चय पर पहुँचेंगें कि सामाजिक तथा आर्थिक विषमता के कारण मानव समाज में सारी व्यवस्था अर्थप्रधान हो गई है। अर्थ के अभाव में मानव का कोई मूल्य नहीं। पुराने समस्त मूल्य समाप्त होकर केवल अर्थ-प्राधान्य हो गया है। मनुष्य की विशाल आशा, आकांक्षा पूर्ति का विचार उसे राक्षसीवृत्ति वाला बनाने पर उतारू है। प्रश्न यह है कि कौन-सा मार्ग प्रशस्त है जिसके द्वारा मनुष्य की सात्विक-वृत्ति जागृत हो सके ? मैं यह स्पष्ट अनुभव करता हूँ कि यदि मानव ने अपनी आवश्यकताओं को कम नहीं किया, सादगी का मूल्य नहीं आंका तो उसका जीवन-स्तर कितना ही न बढ़ जाय, वह असन्तोष

की ज्वाला में जलता रहेगा। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य को सम्मान के साथ जीवित रहने के लिये वस्त्र, भोजन और निवास उपलब्ध होना चाहिये और यह भी सत्य है कि शासन, विशेष कर कल्याणकारी राज्य अथवा प्रजातांत्रिक समाजवादी राज्य का दावा करने वाले शासन का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह मानव को उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं, (वस्त्र, भोजन निवास) की पूर्ति करें किन्तु साथ ही शासन के कर्णधारों पर यह भी जिम्मेदारी है कि देश के प्राचीन महापुरुषों की भांति स्वयम् अल्प-संतोषी जीवन यापन करें तथा देश के सम्मुख सादगी का मूल्य प्रस्थापित करें। समाज में जब तक 'संतोष' की वृत्ति जागृत न की जावे वह स्वयं को सुखी अनुभव नहीं कर सकता। 'असन्तोष' ही दुःख मूल का है। मेरी यह स्पष्ट मान्यता है कि वर्तमान शासन कानून के द्वारा समाज में से बुराई को समाप्त करने का प्रयत्न कर सकता है किन्तु चोरी छिपे भी कोई व्यक्ति उस बुराई को नहीं करे, स्वेच्छा से उसे घृणा हो जावे यह स्थिति शासन निर्माण नहीं कर सकता। यह स्थिति निर्माण करने की क्षमता केवल 'सर्वोदय' में ही है। सर्वोदय का लक्ष्य है कि मानव शासन से अनुशासन की ओर बढ़े वह स्वेच्छा से अपने पर ऐसे प्रतिबन्ध लगाये, जिसमें वह सुख अनुभव कर सकें। एक विचारक ने कहा था कि जब मनुष्य को अपनी साधन-सामग्री की प्रचुरता का अभिमान हो तो उसे अधिक साधन सम्पन्न को देखना चाहिये उसका गर्व नष्ट हो जायगा। यदि उसमें अपनी साधन अल्पता के कारण दीनता अनुभव हो तो उसे चाहिये कि अपने से कम साधन वाले व्यक्ति को देखे। उसकी दीनता नाश हो जावेगी। तात्पर्य यह है कि सुख, दुख मनुष्य की मन की अवस्था का नाम है। इतना निश्चित है कि मानव जब तक भौतिकवादी बना रहेगा, उसे सुख का आभास नहीं हो सकता।

सत्य यह है कि मनुष्य का लक्ष्य 'सुख प्राप्ति' है और यह भी सत्य है कि राजनीति के आधार पर स्थापित कोई भी वाद मानव समाज में असन्तोष उत्पन्न करता है, जबकि नीति तथा धर्म का मुख्य आधार संतोष है। मानव समाज में बलात् विषमता को दृष्टि में रखकर आज यह विचार बल पकड़ रहा है कि वैयक्तिक सम्पत्ति का सिद्धान्त शनैः शनैः समाप्त किया जावे। आज हमारे देश में अचल सम्पत्ति से लाभ प्राप्त करने की अनियंत्रित इच्छा पर शासन ने कई प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। भारतीय शासन जिस राजनीतिक दल के हाथ में है उसने (कांग्रेस) जनतंत्रीय पद्धति द्वारा समाजवाद का ध्येय गत वर्ष ही स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि भविष्य में किसी समय देश में यह विचार बल पकड़ेगा कि सारी सम्पत्ति का स्वामी 'समाज' है और

व्यक्ति आवश्यकतानुसार उसका उपभोग कर सकता है। प्राचीन विचारकों ने स्पष्ट कहा था कि :—

मनुष्य सौ हाथ से एकत्र करे किन्तु हजार हाथों से उसका वितरण करे। गांधीजी ने भी ट्रस्टी-शिप का विचार देश के सम्मुख रखा था। यह निश्चित तथ्य है कि देश में व्यक्तिगत रूप से सादगी का मूल्य बढ़े, इसकी जिम्मेदारी शासकों पर है। प्रजातन्त्र मे मंत्रीगण ही नेता माने जाते हैं। उनको यह निश्चित करना चाहिये कि वे देश में 'भोग-प्रधान संस्कृति' या 'त्याग-प्रधान संस्कृति' चाहते हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है कि मंत्रीगण ने त्याग-प्रधान संस्कृति निर्माण का वातावरण अभी उत्पन्न नही किया, जो कि देश की प्रगति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। विस्तार तथा उसकी पूर्ति के लिये वैध,अवैध उपाय अपनाये जाने की वृत्ति तरक्की पर है देश में आध्यात्मिक वातावरण के निर्माण की आवश्यकता है। तभी जैनाचार्य की दृष्टि से देश के नागरिकों के मन में निम्न भाव मुखरित होगा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।

११

विश्व-धर्म सम्मेलन : एक भेंटवार्ता

नई दिल्ली।

१२, लेडी हार्डिंग रोड

विश्वधर्म-सम्मेलन के कार्य का कक्ष।

मध्य भारत के जाने-पहचाने सेवक और विचारक श्री सौभाग्यमलजी जैन के साथ मैं चाय पी रहा था।

'कलकत्ते का सम्मेलन कैसा रहा ?'' श्री जैन साहब मुझसे अचानक पूछ बैठे। मैं संभला और उत्तर देने को तत्पर हुआ। पर सम्मेलन किस अर्थ में कैसा रहा, यह समझे बिना क्या उत्तर दिया जाय ? फिर भी कुछ न कुछ जनरल बात तो कहनी चाहिए, इसलिए मैंने चाय की चुसकी लेते हुए कहा— 'शानदार रहा।'

प्रश्न उठा था, उत्तर मिल गया, बात समाप्त हो गयी। पर मेरे मन का समाधान नहीं हुआ। मैंने पूछा –

'विश्वधर्म-सम्मेलन के भविष्य के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ? क्या बताने का कष्ट करेंगे ?'

'निश्चय ही विश्वधर्म के विचार का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।' सौभाग्यमलजी ने बातों में रस लेते हुए कहना शुरू किया और फिर तो कहते ही चले गये—'पर उसका भविष्य और भी अधिक उज्ज्वल हो सकता है, यदि हम थोड़ा गम्भीरता से इस ओर ध्यान दें तथा दो-तीन बातों पर विशेष रूप से विचार करें।'

सहज ही मेरी जिज्ञासा को बढ़ावा मिला और मैंने पूछा—'कौनसी हैं वे दो-तीन बातें ?'

'पहली बात तो यह कि हमें धर्म के इस प्लेटफार्म को राजनैतिक स्वार्थ-सिद्धि का अखाड़ा नहीं बनने देना चाहिए। किसी भी व्यक्ति का महत्व हमारे

इस प्लेटफार्म पर इसलिए नहीं होना चाहिए कि वह राजनैतिक दृष्टि से बड़ा व्यक्ति है, या मिनिस्टर है या अन्य पदाधिकारी है, बल्कि विश्वधर्म के प्लेट-फार्म पर खड़े होने वाले व्यक्ति के जीवन में साधना होनी चाहिये, साहित्य, संस्कृति या समाज की सेवा का उसके पीछे इतिहास होना चाहिए। यदि हम इस बात का ध्यान रखेंगे तो सहज ही अनेक प्रकार के दोषों से हम मुक्त रह सकेंगे।'

'लेकिन आज तो हमारे समाज में सर्वत्र इन राजनैतिक नेताओं का ही महत्व है। अखबारों पर भी, रेडियो पर भी, प्लेटफार्म पर भी, सब जगह इन्हीं का बोलबाला है। ऐसी स्थिति में हम उनसे कैसे बचे रह सकते हैं?' जब मैंने यह पूछा, तो जैन साहब ने कहा—'आपका कहना सर्वथा ठीक है और वास्तविकता पर आधारित है। पर हमें इससे बचना ही होगा। यदि राजनीति का भूत हम पर भी सवार हो गया तो वह हमारे मिशन को क्षत-विक्षत कर देगा।' मैं दूसरी बात जानने को उत्सुक था, इसलिए मैंने पूछा—'अच्छा, आपका दूसरा सुझाव क्या है?'

'मेरा दूसरा और सबसे मुख्य सुझाव यह है कि हमें इस तरह के साहित्य-निर्माण तथा प्रकाशन की योजना बनानी चाहिए, जिसमें साहित्य एक दूसरे धर्मवाले विचारों की दृष्टि से निकट आ सकें। आज एक-दूसरे के धर्म को नीचा दिखाने वाला और खंडित करने वाला साहित्य प्रचुर मात्रा में है तथा प्रतिक्रियावादी तत्व उसका जी-तोड़कर प्रचार भी करते हैं। यदि हम इस वैमनस्योत्पादक साहित्य से समाज को बचाना चाहते हैं, तो हमें उसके मुकाबले में ठोस तथा स्वस्थ साहित्य समाज के सामने प्रस्तुत करना होगा।

'सभी धर्म तीन विचारों पर आधारित हैं, ज्ञान, कर्म और भक्ति। किसी धर्म ने ज्ञान के महत्व को अत्यधिक मान कर शेष दोनों भागों का एकान्त रूप से खंडन किया। इसी तरह किसी ने कर्म को पकड़कर खींचना आरम्भ कर दिया और किसी ने भक्ति को। वास्तव में तो तीनों विचारों का संतुलन ही धर्म है। जब तक हम विचार को सुरुचिपूर्ण तथा आधुनिक साहित्य का निर्माण करके जनता को नही समझायेंगे, तब तक विश्वधर्म का विचार घर-घर में प्रवेश नही पायेगा।'

साहित्य-निर्माण की बात जैन साहब ने बहुत ही गम्भीरता तथा तीव्रता से कही। उन्होंने यह भी बताया कि इस प्रकार की किसी योजना पर अमल किया जाय तो वे अपनी पूरी शक्ति इस काम में लगाने को प्रस्तुत हैं।

इसके बाद मैंने तीसरी बात बताने का उनसे अनुरोध किया, तब उन्होंने कहा—

'तीसरी बात यह है कि सभी धर्मों को मानने वालों के सामने कोई एक ऐसा 'कोमन प्रोग्राम' होना चाहिए, जिसका सभी अमल कर सकें। वह कोमन प्रोग्राम क्या हो सकता है, यह सभी धर्म वाले मिलकर सोचें। किन्तु जब तक इस तरह का कोई कार्यक्रम नहीं होगा, तब तक हमारी प्रवृत्ति केवल सम्मेलन कर लेने और आम जनता के सामने विचार रख देने तक ही सीमित हो जायेगी। मैं चाहता हूँ कि ऐसा न हो और हमारा काम व्यापक बने।'

इस प्रकार श्री जैन साहब ने अपने तीन विचार रखे। मुझे सायंकालीन गाड़ी से बनारस के लिए रवाना होना था, इसलिए समय कम था। फिर भी लगभग ४५ मिनिट तक हम दोनों विश्व-धर्म के विचार के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से चर्चा करते रहे।

●

A LECTURE AT CEYLONE

Let me first of all take the opportunity of congratulate you on the new years eve.

We are meeting together on the eve of the new year and I sincerely wish that this year, which is in the unhering, may bring us all love and happiness. I feel extremely happy to be able to visit your beautiful Island, which is an indivisible part of India from cultural point of view. I have been longing to visit this country of yours since 1956, when my illness, while returning from the world religious confrence at Japan, prevented me from stopping here. Consequently my ambitions remained unfulfilled. Since then I thought of coming here once or twice but due to the scarcity of time and other unavoidable circumstances, I could not come earlier.

It has been my good fate to have come from a country, which is the birth place of such great apostles of Ahimsa and learning, as Lord Rama, Krishna, Mahavir and Buddha, and from where, preachings of Ahimsa and love, have at all times, emancipated over the whole world. We feel proud to remember that our Indian Rishis, Shramans and Bhikshus were ever anxious to have religious contact with your beautiful Island. It is common knowledge that years ago Prince Mahendra and his sister had visited this Island to spread the

security, but it will be only for short time, not lasting. It is, therefore, Ahimsa and Ahimsa only which will award you preachings of Lord Buddhas. I have come here befoie you today, carrying the preachings of the two pillars of Ahimsa, Lord Mahavir and Buddha. Shri WLS. Fernando, Principal Universal College, who is a great baliever of Ahimsa and whose love and regards for all living specimans is well khown, has been a source of constant inspiration to me and it is his letters dating since year 1956, and the literature that he sent me from time to time, has made this visit possible. For all this, I am extremely thankful to him.

You know that both the countries, yours and mine, inherit a common heritage of Ahimsa. Since both of them today enjoy political freedom and are engaged in building their future it is our onerous duty that we should look back to our cultural history and take inspiration from it. I therefore take this opportunity of expressing my views before you which are mainly based on the teachings of Lord Mahavir and Lord Buddha.

Friends, Ahimsa is not only an ethical rule, but it is an innate feeling of soul-the divine beauty of the Brahma itself. The Jainas proclaim the compassion towards all living beings as the embodiment of god itself.

This is a truth which is experienced and proclaimed by the modern master-minds as well. Shakespeare sings the beauty of mercy and says :—

'But mercy is above this sceptred,
It is enthroned in the hearts of kings,
It is an attribute of god himself,
And earthly flower doth then show thikest Gods
When mercy seasons justice."

And the finest result of this thought for huminity has

been wisely pointed out by Ellswheeler Wilcox in her following stanzas :—

"The heart which feels this holy light within,
finds god and man and beast and Bird its Kin."

Today the world requires this humanitarian spirit as it never required before.

Friends, I may tell you that the Jain Culture, as every culture ought to be, is mainly based on the leased principal of Truth and Ahimsa and its aim is to secure external as well as internal peace-peace and prosperity within certainly leads to happy results of lasting stability in outer world as well. Jainism found and preached one formula which secured both peace at home and peace abroad in Ahimsa. It taught "If you want to live peacefully and to devote your life to highest attainments of men, then practise Ahimsa. Love your neighbour as you love yourself. the moderns, however, are in....... difficulties in this regard, because they have evolved out and developed the spirit of the hunter, who is, at all times, on the look out whom to seiz and devour. Their dispositions are not peaceful, and whatever interest they eveince or possess in the maintenace of peace in the world is truely because they fear for their own safety. They never thought of peace when turning their powerful guns on the unarmed races of men and exterminating them. The result was made visible in the form of the orgy of the bloodshed ealore, for years continueously in the last two wars and intense preparations and callousness in the shape of cold wars are still being made for a grander slaughter in the future. Ahimsa would ask these flower intoxicated human friends, what for all this accumulation of destructive energy ? Do you think warfare will bring you peace ? Peace is only possible by turning an enemy into a friend. That alone will bring you lasting peace, anything else might give you peace and

security, but it will be only for short time, not lasting. It is, therefore, Ahimsa and Ahimsa only which will award you lasting peace. And so every nation should turn to this divine virtue and teach it to children of every nation, to abide an sprit of co-mpassion and cooperation. Lord Buddha has taught this truth.

In the end I want to chant a jain verse in which a Jain achary says :—

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव !

O Lord let me have love and friendship towards all-being joy in the company of virtuous (वृष्यूअस) kindness to all suffeering soul's and have a balanced mind and follow' the goldan mean when food with person's having extreme views.

अष्टम आयाम

समाज और संस्कृति

१

आह्वान

विश्व भरकी जातियां सब बढ़ी आगे जा रहीं।
देखकर पीछे तुम्हें अंगुली उठा देता रहीं॥
दौड़ करके शीघ्र ही अब साथ में हो जाइये।
या शान्ति-दायक मृत्यु की गोद में सो जाइये॥

चहुँ ओर से जागृति का शब्द सुनाई देता है। यह समय उन्नति काल है। इस युग में यदि हम स्वाश्रयी नहीं बने, इस कुम्भकरणीय निद्रा से जागृत न हुए तो समझो किन्तु निश्चय कर लो कि हमारा शीघ्र ही सर्वांश पतन होने वाला है।

चूंकि यह शताब्दि उन्नति का युग है, इस युग में जिसने समाजोन्नति नहीं की वह समाज निद्राग्रस्त नहीं बल्कि पूर्ण शांत, निद्रित है, कभी उठ नहीं सकता। यदि हम इस समय में भी न जागृत हों तो हमको अपनी वास्तविक दशा, अपने गौरव का, अपनी स्वतन्त्रता का कुछ भान न होगा। हमको उन्नत समाज के सन्मुख अपना मस्तक ऊंचा रखने का कोई अधिकार प्राप्त न होगा। हां! एक बात अवश्य होगी कि हमारी समाज को अन्य समाज, नतमस्तक समाज, मूर्ख समाज शिरोमणि, निद्रित समाजाग्रगण्य उपाधियां प्रदान करेंगी। इस तरह हम कलंकित किये जावेंगे। अतः वीर युवको! हम संसार में इन्द्रियार्थ, विलसाय, नहीं आये हैं, हम आये है कर्तव्यमय जीवन व्यतीत करने को। 'जातिर्यातु रसातलम्' की नीति को अब छोड़ दीजिए, वह मरदूदों की नीति है। अतएव उन्नति इच्छुक युवकों! संसार के समरस्थल में आकर अपना सामाजिक बल दिखाओ। कुंभकरणीय निद्रा तजकर एक मात्र शत्रु 'अविद्या'

को समाज से भगादो, प्रेम और ऐक्यता को स्थान दो , क्योंकि इसीसे तुम्हारी अद्वितीय शक्ति प्रकट होगी क्योंकि—

कर्तव्यमेव कर्तव्यं, प्राणैः कण्ठगतैरपि ।

भविष्य की संतान का शिक्षित बनाना बहुत आवश्यक है। आप उनसे शत्रुता न बांधिये। शत्रुता की सीमा हो गई है। उनके विकास का मार्ग प्रशस्त कीजिये।

२

युवक और धर्म

भारतवर्ष में प्राचीन समय में धर्म के प्रति कितना आदर था यह बात सर्व-विदित है। भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है। प्राचीन काल में प्रत्येक मनुष्य अपने को धार्मिक कहलाने में गौरव अनुभव करता था। प्राचीन काल के मनुष्य का रहन-सहन पूर्ण धार्मिक होता था किन्तु अब इसके सर्वथा विपरीत है। जबसे भारतवर्ष में साम्यवादी विचारधारा ने प्रवेश किया है तब से भारत वर्ष में विशेष कर युवक समुदाय में धर्म के प्रति बहुत उदासीनता पैदा हो गई है और वह दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। साम्यवादी विचारधारा जहाँ तक कि उसका सम्बन्ध आर्थिक योजना से ,है प्रशंसनीय हो सकती है उसमें सन्देह नहीं किन्तु कतिपय विद्वानों का कहना है कि साम्यवादी विचारधारा में ईश्वर तथा धर्म के प्रति अनास्था रखना आवश्यक है, एक साम्यवादी विचारक विद्वान ने तो यहाँ तक कह डाला है कि If god really existed it would be necessary to abolish him" मैं इससे सहमत नहीं। मैं तो इस मत का हूँ कि" If god does not exist it would be necessary to invent him, because people must have a relegion."

इसी प्रकार जैन युवकों को लीजिये, उनमें से अधिकतर धर्म अथवा ईश्वर के प्रति उदासीन मिलेंगे। धर्म तथा ईश्वर है, तथा जीवन में उनका उपयोग है इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। यह सत्य है कि ईश्वर तथा धर्म के सम्बन्ध में धर्म के ठेकेदारों ने बहुत काफी विकृति फैला दी है किन्तु विकार फैल जाने से असली वस्तु से इन्कार नहीं किया जा सकता। थोड़े परिश्रम से हम विकार को निकालकर असली वस्तु जगत् के सम्मुख उपस्थित कर सकते हैं। आज युवक वर्ग की उदासीनता का जहाँ तक मेरा ख्याल है यही कारण है कि हमने विकार को हटाने का प्रयत्न नहीं किया। आज का युवक वर्ग देखता है कि ईश्वर तथा धर्म एक चों-चों का मुरब्बा बन रहा है, जितने धर्म

हैं उतने ही इन दोनों वस्तुओं के स्वरूप हैं। नहीं-नहीं उतने ही नहीं। प्रत्येक धर्म में कुछ सम्प्रदाय हैं और उनकी अलग-अलग मान्यता है। उन मान्यताओं की विभिन्नता के कारण भी इन दोनों वस्तुओं के स्वरूप में भिन्नता होती है। ऐसी दशा में युवकवर्ग यह नहीं समझ पाता कि आखिर इन स्वरूप में से ईश्वर तथा धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या हैं। ईश्वर का अस्तित्व या अनस्तित्व यह एक दार्शनिक विषय है और यदि हम अस्तित्व मानते हैं तो, यदि हम अस्तित्व नहीं मानते हो तो हमारी आत्मा के कल्याण पर कोई असर नहीं पड़ सकता, किन्तु धर्म का प्रश्न तो ऐसा है कि जो अनिवार्य है। वास्तव में यह है कि आज का युवक वर्ग जिस वस्तु से घृणा करता है वह धार्मिकता या धर्म नहीं है, मैं तो समझता हूँ कि वह धार्मिक विकार है। जो युवक वर्ग भी यह कहता है कि धर्म से घृणा है मेरे ख्याल में चीज की पहचान नहीं की गई है। दूसरी बात यह है कि युवक वर्ग ने धर्म का अर्थ ही नहीं समझा है। जैन शास्त्रों ने धर्म की परिभाषा कितनी संक्षेप तथा सुन्दर की है। 'वत्थु सहावो धम्मो' सूत्र में धर्म की परिभाषा बताई गई है वह एक कुन्जी है। वस्तु का जो स्वभाव हो उसे धर्म मान लीजिये। अग्नि का धर्म जलाना है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रकृति ने जिस वस्तु का जो धर्म नियत कर दिया है वह अटल है—अपरिवर्तनीय है। हां तो धर्म अपरिवर्तनीय है अब हम इसी कसौटी पर प्रत्येक क्रियाकाड तकको कह सकते है हम जिस क्रियाकांड की परीक्षा लेना चाहते हैं उसके सम्बन्ध में सर्व प्रथम यह देखना चाहिये कि वह आत्मा के धर्म के अनुकूल है या नहीं? यदि है तो वह गृहणीय है। यदि नहीं तो त्याज्य है। इस कसौटी पर परीक्षा करके यदि हम किसी भी धर्म के सिद्धान्तो या क्रियाकांड को अपनायेंगे तो हमको धोका नहीं हो सकेगा। जैनधर्म का दावा है कि वह आत्मधर्म है और मैं एक बात और बतादूं कि जहाँ तक कि मेरा ख्याल है, जैन धर्म का प्राचीन काल में जैन धर्म नाम ही न था वह आत्म धर्म ही था उसका क्या नाम हो। जब एक से अधिक चीज होती है तो नाम संस्कार की आवश्यकता होती है। ताकि वह पहचानी जा सके। जब जगत में इतर धर्मों की उत्पत्ति हुई तो नामकरण की आवश्यकता हुई और चूंकि जिनेन्द्र देव ने धर्म का उपदेश दिया था अत: जैनधर्म नाम रख दिया गया। वास्तव में जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट धार्मिक सिद्धान्त ही आत्म धर्म है। अन्त में युवक समुदाय से अपील करूंगा कि वह धर्म के नाम से घृणा न करें। धार्मिकता बुरी नहीं है। वह तो गृहणीय है। उससे आत्मकल्याण होता है। धार्मिक सिद्धांतों को सोचें, समझें और यदि वह तर्क, बुद्धि के अनुकूल हो ग्रहण करें। मैं धार्मिक सिद्धान्तों को आपसे (Blindly follow) करने के लिये अनुरोध नहीं करता। साथ ही समाज के विद्वानों का कर्तव्य है कि धार्मिक विकार को शीघ्र ही दूर करें ताकि युवक समाज धर्म के प्रति आकृष्ट हो।

३
जातिवाद और युगबोध

संसार में यह अनादि नियम रहा है कि जब समाज में अत्याचार बढ़ जाता है मानव-समाज की विवेक-शक्ति का ह्रास हो जाता है। धार्मिक प्रवृत्ति बन्द हो जाती है। धर्म के नाम पर रूढि का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। उस समय किसी ऐसे महापुरुष का जन्म होता है, जो समाज में व्याप्त स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन करे। आज से लगभग २॥ हजार वर्ष पूर्व संसार में धर्म के नाम पर अधर्म का व्यापार होता था। वर्णाश्रम व्यवस्था के नाम पर मानव-समाज हिस्सों में बाँट दिया गया था। चार वर्णों में से तीन वर्ण अपने को द्विज कहकर उच्चजातीय अभिमान का दावा करते थे। वर्णाश्रम-व्यवस्था जन्म के आधार पर मानी जाती थी। उच्च वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति नीच कर्म करते हुए भी उच्च वर्ग का ही माना जाता था। ऐसी स्थिति में जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान महावीर का क्षत्रिय कुल में जन्म हुआ था। उन्होंने मानव-समाज को स्पष्ट रूप से बताया कि वास्तविक धर्म रूढ़ि-ग्रस्तता में नहीं है। धर्म के कलेवर के स्थान पर उसकी आत्मा का सम्मान किया जाना चाहिए। इसी प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था कर्म के आधार पर मानी जानी चाहिए। कोई व्यक्ति केवल उच्च-कुलोत्पन्न होने के कारण उच्च नहीं माना जा सकता। उसकी उच्चता उच्च कर्म में निहित है। उन्होंने स्पष्ट रूप से बताया कि—

> कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो।
> कम्मुणा वइस्सो होई, सुद्दो हवई कम्मुणा॥

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भगवान महावीर ने कर्म को प्रधानता दी थी। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट रूप से कहा था कि 'चतुर्वर्णा मयासृष्टा गुण-कर्मविभागशः' उपरोक्त उद्धरण से भी यही स्पष्ट है किन्तु उन २॥ हजार वर्ष के भीतर वर्णाश्रम व्यवस्था का और भी विकृत रूप हो गया।

मानव समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था के स्थान पर जातीय प्रथा स्थापित हो गई। एक ही वर्ण के समाज में कई जातियाँ और जातियों में कई उपजातियों का निर्माण हो गया। परिणाम यह हुआ कि मानव-समाज छोटे-छोटे विभागों में विभाजित हो गया। कई जातियों के सदस्य अपने को उच्च जाति का मानने लगे। उनके सामाजिक सम्बन्ध अपनी उसी विशिष्ट जाति तथा उपजातियों मे होने लगे। इस प्रथा के कारण स्वधर्मावलम्बी विभिन्न जातियों में भी परस्पर विवाह तथा अन्य सामाजिक सम्बन्ध नहीं हो सके। धार्मिक क्षेत्र में उन जातियों के सदस्य तक होते हुए भी जाति के क्षेत्र में पृथक्-पृथक् रहने लगे। सांसारिक नियमों के अनुसार मनुष्य-मनुष्य में प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सामाजिक सम्बन्ध की प्रथा अति आवश्यक है। सामाजिक सम्बन्धो के अभाव में प्रेम-सम्बन्ध दृढ़ नहीं होता।

जैन समाज में भी यही स्थिति है। जैन समाज में विभिन्न सम्प्रदाय हैं। एक सम्प्रदाय के मतावलम्बी कई जातियों के सदस्य होते हैं। विभिन्न जातियों मे परस्पर सामाजिक सम्बन्ध नही होते। आवश्यकता तो यह थी कि अखिल जैन समाज से सम्बन्धित जातियों मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित होते। वर्तमान में जो जातियाँ जैन धर्मावलम्बी हैं उनके परस्पर सामाजिक सम्बन्ध न होने के कारण आपस का स्नेह दृढ़ नहीं है। जिन जातियो के कुछ सदस्य जैनधर्मावलम्बी तथा कुछ सदस्य अन्य धर्मावलम्बी हैं वहाँ स्थिति बड़ी विचित्र है। उस जाति के अल्पसंख्यक सदस्य जैन धर्मावलम्बी होते हुए भी उनको सामाजिक सम्बन्धो मे कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। और कभी इससे त्रस्त होकर बहुसंख्यक सदस्यों के साथ तत्सम्बन्धी धर्म में दीक्षित हो जाते हैं। यह स्थिति समाज के लिए विचारणीय है। इसी प्रकार नवदीक्षित जैनियों के सामाजिक सम्बन्धों का प्रश्न भी बड़ा जटिल होता है। कर्म के आधार पर ही जाति व उप जातियो के विभाजन हुआ होगा इसमें कुछ सन्देह ज्ञात नहीं होता है।

आधुनिक युग की आर्थिक क्रियायें जिनमें श्रम विभाजन को अत्यधिक महत्व प्राप्त है। इस तथ्य का प्रमाण है कि मानव-समाज ने अपनी सुविधा की दृष्टि से ऐसा ही निर्णय किया होगा। किन्तु जाति व उपजातियों की दीवारें मानव-समाज में सकीर्णता उत्पन्न कर उनमें स्पर्धा, वैमनस्य, स्वार्थ आदि दुर्गुणों को उत्पन्न करेंगी इसकी तो कल्पना भी नहीं की होगी। विश्व-बन्धुत्व धर्म, समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव सैद्धान्तिक दृष्टि से आवश्यक मानते हुए ही एक धर्म के अनुयायियों में वैवाहिक सम्बन्ध न करना, किसी भी दृष्टि से न्यायानुकूल व तर्क-युक्त नहीं कहा जा सकता। शिक्षा का अभाव प्राचीन

परम्पराएँ, रीति-रिवाज आदि के कारण इस दिशा में प्रगति करना सम्भव नहीं दिखाई देता है। शिक्षा का जितना ही अधिक प्रचार व प्रसार होगा जाति व उपजातियों के बीच के कृत्रिम बन्धन शनैः-शनैः दूर होते जायेंगे। जिस प्रकार यातायात, संवादवहन, देश-विदेशों की यात्रा व साहित्य के प्रचलन से छुआछूत का विचार कम होता जा रहा है। ज्ञान का प्रकाश भी मनुष्य को सही मार्ग दिखाने में सहायक होगा। वैवाहिक सम्बन्ध केवल विशिष्ट जाति तक सीमित रखने के कई दुष्परिणाम दिन प्रतिदिन देखने में आते हैं।

उदाहरण के लिए दहेज की माँग, योग्य वर-वधू का न मिलना, चयन के क्षेत्र में सीमितता, विवशतापूर्वक वैवाहिक बन्धन आदि इस प्रकार के प्रगतिशील कदम से जातीय संगठन दृढ़ होगा। परस्पर सम्बन्धों से स्नेह व बन्धुत्व की भावना का प्रसार होगा तथा जो संघर्ष तीर्थस्थानों, मन्दिरों, धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं में समय-समय पर होते हैं वे सदैव के लिए समाप्त हो जाएँगे। जैन समाज की आर्थिक स्थिति और भी दृढ़ होगी तथा देश के लिए शान्ति, सुख व समृद्धि में वृद्धि होगी। समय की यही आवश्यकता है कि जैन समाज से सम्बन्धित सभी जातियों में परस्पर विवाह आदि सामाजिक सम्बन्ध स्थापित किये जावें। दूसरे शब्दों में अन्तर्जातीय विवाह आवश्यक है।

क्या क्रान्तिकारी भ० महावीर के अनुयायी इस दिशा मे सक्रिय कदम उठाने के लिए विचार करेंगे ?

४

सामाजिक एकता का प्रश्न

विश्व का भावी इतिहासकार इस तथ्य की संसार के महान आश्चर्यों में गणना करेगा कि जैन धर्म को विश्वधर्म कहने वाले जैन धर्मानुयायी बिभिन्न वर्गों के बीच में एकता नहीं है, अपितु राग-द्वेष, विरोध तथा प्रतिस्पर्धा है। एक धर्म के अनुयायी होते हुए भी सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय की तरह जीवन यापन करते हैं। आज के इस युग में जब संसार के समस्त राष्ट्र एक दूसरे के इतने निकट हैं कि धर्म, जाति, रंग, देश आदि को महत्व-हीन समझकर संयुक्त राष्ट्र में अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिये सामान्य उपायों पर विचार विनिमय करते हैं, तथा महान राजनीतिज्ञ 'एक विश्व' का स्वप्न देखते हैं, यह बिडम्बना की बात है कि जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों में अन्तर नहीं होते हुए भी नगण्य बातों को लेकर मतभेदों की खाई दिन प्रति-दिन गहरी होती जाती है। जिन परिस्थितियों मे विभिन्न सम्प्रदायों का निर्माण हुआ वे आज से भिन्न होंगी, किंतु आज तो स्पष्ट दिखाई देता है कि यह एक भयं-कर भूल थी। जैन धर्म में स्याद्वाद या अनेकान्त, एक ऐसा अनुपम व अतुलनीय दर्शन है कि संसार के प्रत्येक धर्म व जाति के प्रति ही नही अपितु प्राणी मात्र के प्रति उदारता, बन्धुत्व व सहनशीलता इसका महान सन्देश है। इस सिद्धान्त की महानता के होते हुए भी जैन धर्मानुयायी अपने मतभेदों का समन्वय नहीं कर सके, यह दुःख व पश्चाताप की ही बात है। जब तक मनुष्य में चिन्तन व मनन की शक्ति है। तब तक मतभेद का होना स्वाभाविक है, किन्तु मतभेदों का समन्वय करके शक्तिशाली सुसंगठित समाज का निर्माण कठिन नहीं है। विशेष कर उन वर्गों में जो एक ही धर्मों के अनुयायी हैं और यह आज के युग की मांग है, यही युग धर्म है। जैन समाज का किंचित भी ध्यान इस समस्या की ओर नहीं है। कई स्थानों पर जैन जैनेतर मतभेदों के नाम पर जैन समाज के प्रति स्वार्थी तत्वों द्वारा कटुता उत्पन्न की जा रही है। भारतीय संविधान से

भारतीय नागरिकों को अपने मत विश्वासों के अनुरूप मान्यता रखने का अधिकार प्राप्त है, किन्तु देश के अल्प जनसंख्यक जैन समाज को अपने मत विश्वास के आधार पर मान्यता रखने पर कई स्थानों पर दण्ड का भागी होना पड़ा है, अपमान सहन करना पड़ा है तथा अप्रतिष्ठित होना पड़ा है। भारत के राष्ट्र नायक पं० जवाहरलाल नेहरू कई स्थानों की घटनाओं के प्रति रोष तथा खेद व्यक्त कर चुके हैं। एक स्थान पर उन्होंने कहा था कि विकृत प्रजातन्त्र में बहुमत का कार्य राष्ट्रीय माना जाता है तथा अल्पमत का कार्य साम्प्रदायिक मान लिया जाता है। आज देश में जैन समाज की प्रतिष्ठा कसौटी पर है। अन्य धर्मानुयायी देशवासियों को उनके मत विश्वास के अनुकूल आचरण करने, प्रचार करने पर उन्हें कोई आपत्ति नही होती, किन्तु जैन समाज द्वारा अपने सिद्धान्तों के अनुरूप आचरण करने व प्रचार करने पर आपत्ति होती है। किसी जैन द्वारा अहिंसा प्रचार की बात करने पर उसे साम्प्रदायिक मान लिया जाता है। कई स्थानों पर राजनीति के राग-द्वेष से प्रभावित सज्जन जैन संस्था के पदाधिकारी होने के कारण जैनों पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाते हैं। यह सब इसलिये है कि हम स्वयं संगठित नहीं हैं और आपस में झगड़ते हैं व अपने शक्ति-साधनों का दुरुपयोग करते हैं। यदि हम विभिन्न वर्गों को समाप्त करके सुसंगठित समाज का निर्माण नहीं करते हैं तो अपने विरुद्ध कुछ कहने वालों को बल प्रदान कर रहे हैं तथा अपने अस्तित्व को विषम परिस्थितियों में डाल रहे हैं। उदारता व समन्वय बुद्धि से हम अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं। अनुदारता व असहिष्णुता पाप है, स्याद्वाद तथा समन्वय बुद्धि के उपयोग से जैन समाज यह कार्य सम्पन्न कर सकता है। इस लेख का उद्देश्य यही है कि विभिन्न वर्ग या सम्प्रदाय आपस के मनमुटाव, विरोध तथा मतभेद को भुलाकर अपने को संगठित करें। यह कार्य न केवल अपने धर्म व समाज के प्रति सेवा कार्य होगा किन्तु विश्व की समस्याओं को सुलझाने में भी योगदान देगा। दो महायुद्धों से लड़खड़ाती तथा तीसरे महा-युद्ध के किनारे पर खड़ी मानवता को अहिंसा के सिद्धान्तों से ही विश्व-शांति के स्थायी लक्ष्य की ओर ले जाया जा सकता है और सुसंगठित जैन समाज अपने सिद्धान्तों के प्रचार व प्रसार के द्वारा ही यह कार्य कर सकेगा अन्यथा नहीं।

सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना से ही समाज में एकता की भावना को बल प्राप्त होगा। जैन समाज संकीर्ण मनोवृति के कारण सामाजिक सम्बन्धों में जाति को आधार मानता है, धर्म को नहीं। आज तो जातीय अथवा सम्प्र-दायो के विभिन्न वर्गों की एकता की ही आवश्यकता नहीं है, अन्तर्जातीय

सम्बन्धों की ओर अग्रसर होना आवश्यक है। किन्तु जब एक धर्म के अनुयायी ही आपस में सम्बन्ध करने को तत्पर नहीं तो अन्तर्जातीय सम्बन्धों की चर्चा करना तो आधारहीन है।

जैन धर्म के प्राग्ऐतिहासिक काल पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन जो आज किया जाता है, उसका सामूहिक नाम ही नही था। वह प्राकृतिक आत्म-धर्म था। जैनशास्त्रों के अनुसार आत्मा का जो स्वभाव है वही धर्म था। आचार्य कुन्द कुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा था कि '**वत्थु सहावो धम्मो**' .. .... इस प्रकार वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा जाता था। वास्तव में आत्मा का अभ्युदय जिन मार्ग व सिद्धान्त से हो, उसे ही धर्म कहना उचित है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कई बार कहा था कि 'गांधीवाद' के नाम की कोई वस्तु नहीं है। जिस सिद्धान्त को मैं प्रतिपादित करता हूं वह मुझे अच्छे लगे हैं मैंने उनका अपने जीवन में प्रयोग किया है, उनको मानव जाति के लिये मैं श्रेयस्कर मानता हूँ। मैं इसीलिये उनको अपनाने की कहता हूँ। कालान्तरसे जैनशास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों के समूह का नामकरण होने लगा। भगवान महावीर के समय देश में दो संस्कृतियां थी। वैदिक संस्कृति में यज्ञ आदि की विशेषता थी तथा श्रमणसंस्कृति (जैन व बौद्ध) मे आत्मयज्ञ अथवा आत्मशुद्धि के लिये स्थान था। पशुयज्ञ को कोई स्थान नहीं था। इस समय भी विभिन्न मतों का प्रतिपादन करने के लिये विभिन्न समूह थे, जैसा कि सत्रकृतांग में बताया गया है कि क्रियावादी, अक्रियावादी, आत्मवादी, अनात्मक्तवादी आदि-आदि, किन्तु ये वाद थे, किसी विशेष धर्म अथवा दर्शन का पुट उन पर न था। यह भी कहा जाता है कि भगवान महावीर के अनुयायी के व्रत, उपवास आदि में विश्वास करने के कारण ही उन्हें 'व्रात्य' कहा जाता था। जो कुछ भी कारण हो, बहुत समय के पश्चात् 'जैन धर्म' संज्ञा प्रारम्भ हुई। श्वेताम्बर दिगम्बर दो वर्गों का निर्माण हुआ, मतभेदों का आधार ऐसा नहीं था जिनका समन्वय नहीं हो सकता था। इन दोनों वर्गों में अचेलत्व व सचेलत्व का प्रश्न मुख्य है। दोनों वर्ग अपरिग्रहवाद के समर्थक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं हैं। मेरे अल्पमत में 'अचेलत्व' अपरिग्रहवाद की बाह्य दृष्टि से चरम सीमा है। विषयासक्त व्यक्ति अचेलत्व को अपनाने का साहस भी नहीं कर सकता है। अचेलत्व आदर्श है। प्रश्न यह है कि हम साधु समाज में किस सीमा तक अचेलत्व को अपनावे। जब साधु समाज वनों के स्थान पर ग्राम-नगरों में निवास करने लगा, तो अचेलत्व का अत्यधिक महत्त्व होते हुए भी, व्यावहारिक दृष्टि से सचेलत्व स्वीकार करना आवश्यक था। श्रावक के सामने अचेलत्व का प्रश्न ही नहीं था। श्रावक वस्त्र सहित होते हुए

भी अपने को दिगम्बर कहलाने लगा तथा इसी प्रकार कई रंग के वस्त्र परिधान करने पर भी श्वेताम्बर कहा जाने लगा। वस्त्र के बिना उसका काम चल ही नहीं सकता था। इन दो बड़े-बड़े सम्प्रदायों के अविभाव के पश्चात् मूर्ति पूजा, सवस्त्र मूर्तिपूजा अथवा ऐसे कई प्रश्नों को लेकर मतभेदों का निर्माण हुआ। मतभेदों के कारणों व उपायों पर विचार करना इस लेख का उद्देश्य नहीं हैं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि जिन बातों को लेकर श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, मूर्तिपूजक, तेरापन्थी, तारणपन्थी आदि सम्प्रदायों का निर्माण हुआ, इन प्रश्नों का बहुत सुविधा पूर्वक समन्वय किया जा सकता है। यह मत-भेद यहीं समाप्त नहीं हो जाता है, अपितु एक ही सम्प्रदाय में कुछ नगण्य बातों को लेकर उप-सम्प्रदायों का निर्माण करता है। जैसे श्वेताम्बर, मूर्ति-पूजक, सम्प्रदाय में तीन थुई चारथुई का विवाद है। एक दल (तीन थुई का समर्थक व अनुयायी) दूसरे दल को मिथ्यात्वी कहता व मानता है क्योंकि वह चार वार स्तुति-वन्दना करता है, यदि तीन बार वन्दना-स्तुति करना धर्म लाभ का कारण है तो ४ बार स्तुति करना कैसे मिथ्यात्व का कारण हो सकता है। स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन (या साधु-मार्गी) सम्प्रदाय में प्रारम्भ में २२ उप-सम्प्रदाय थी। कालान्तर में इस संख्या में काफी वृद्धि हो गयी, छोटी-छोटी बातों को लेकर पृथक आचार्य, पृथक समाचारी बन गयी। कुछ वर्ष पूर्व अधि-कतर उप सम्प्रदायों का एकीकरण हुआ है। यह खेद का विषय है कि उक्त संगठन में भी दरार पड़ रही है। बिडम्बना का यही पर अन्त नहीं होता है किन्तु मतभेद मनभद का निर्माण करता है। जैन धर्म के महान आचार्य हेमचन्द्र ने शिव मदिर मे जाकर भी निम्न श्लोक पढ़ा व शिव दर्शन किये।

भवबीजांकुरजनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

यह समन्वय का अनूठा उदाहरण है। उसी महान आचार्य की परम्परा में विश्वास करने वाले समाज में छोटे-छोटे मतभेदों के कारण पृथक रहें, यह सर्वथा अनुचित है।

जैन धर्मानुयायी स्याद्वाद का गुणगान करते हैं किन्तु व्यवहार में उसका आचरण नहीं करते यह कहा जा सकता है। जैनाचार्य ने तो स्पष्टरूप से कहा है कि जैनधर्म का ध्येय मुक्ति की प्राप्ति है, वह किसी वाद या सम्प्रदाय से नहीं हो सकेगी। मुक्ति तो कषाय के नाश से ही होगी। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था :—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्ववादे न च तर्कवादे।
स्व पक्ष सेवाऽऽश्रयेणन मुक्ति; कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव ॥

आवश्यकता इस बात की है कि जैन समाज की प्रत्येक सम्प्रदाय का सदस्य अपना आत्म-निरीक्षण करके अपने मन के अहंकार को समाप्त करने का प्रयत्न करें। वास्तविकता यह है कि मनुष्य ने अपने अहंकार का पोषणधर्म के नाम पर किया है और उसी को 'धर्म प्रभावना' का नाम दिया है। उर्दू के एक शायर ने कहा है कि :—

मसजिद तो बनादी पल भर में, ईमां की हरारत वालों ने।
मन वही पुराना पापी रहा, बरसों में नमाजी हो न सका॥

हमें हृदय के अन्ध-विश्वास व ढोंग को समाप्त करना चाहिये। समाज धर्म के ठेकेदारों ने धर्म नाम पर न जाने कितने ढोंग अन्ध विश्वासों का चक्र-व्यूह रचा रखा है। धर्म का गूढ़ रहस्य, शिक्षा (धार्मिक) के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। जिस समय धर्म के गूढ रहस्य का पता लग जाता है और अन्ध विश्वास समाप्त होगा, उस समय जैन समाज के सब सम्प्रदायों में एकीकरण होते देर नहीं लगेगी। मैं उस दिन का स्वप्न देखता हूँ कि जब हमारा धार्मिक समभाव व उर्दू के शायर की निम्न पंक्तियों के अनुसार दृश्य देख सके।

'मसजिद में नाचता हूँ नाकूस की सदा पर।

'एक ऐसी संस्था का निर्माण होना चाहिये जो क्रान्ति का झण्डा लेकर समाज में व्याप्त अन्धविश्वास के विरुद्ध मोर्चा ले। यह निर्विवाद है कि इस मोर्चे में समझौता-वादिता से काम नहीं चल सकेगा। दृढ़प्रतिज्ञ होकर संगठित रूप से कार्य की आवश्यकता में 'भारत जैन महामण्डल' जैसी संस्था इस दिशा में माध्यम का कार्य कर सकती है। उसकी नीति और भी स्पष्ट हो तभी सक्रिय होकर यह कार्य किया जा सकता है।

सैद्धांतिक समन्वय के साथ-साथ इस बात की भी आवश्यकता है कि जैन समाज का प्रत्येक सदस्य अपने व्यवहार में इस प्रकार का कार्य करे कि जिससे सामाजिक एकता कायम हो सके। कुछ वर्ष पूर्व मैंने 'जैन जगत' में सामाजिक एकता की दिशा में कुछ सक्रिय सुझाव दिये थे। मेरा विश्वास है कि यदि समाज में इन सुझावों के अनुरूप कार्य किया गया तो निश्चित रूप से जैन समाज सुसंगठित रूप से विश्व के समक्ष जैन धर्म के महान उदार सिद्धान्तों का प्रचार करने में अग्रसर होगा। विदेशों में 'अखिल विश्व जैन मिशन' द्वारा जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार कार्य हो रहा है, वह सराहनीय होते हुए भी अपर्याप्त है। समस्त जैन समाज अपने उत्तरदायित्व को निभाए, यह जैन समाज का प्राथमिक तथा महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।

●

५

समाज में प्राण-प्रतिष्ठा की आवश्यकता

जिस प्रकार स्वचालित यंत्रों में बैटरी अथवा बिजली प्राण-संचार करती है तभी उसमे चेतनता आती है उसी प्रकार समस्त जीवधारियों में भी प्राण के कारण ही चेतना होती है। समाज व्यक्तियों का समूह है इस कारण समाज में भी प्राण आवश्यक है अन्यथा उसमे चेतनता नही आ सकती। अखिल जैन समाज अपने को अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का अनुयायी तथा उनके धर्मशासन का अनुगामी मानता है। आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व आज की भाँति आधुनिक साधन तथा सुविधाओं का अभाव होते हुए भी धर्म प्रवर्तक भगवान महावीर ने अपने स्वानुभूतिपूर्ण सदुपदेश द्वारा इस देश में काफी वड़ी संख्या में साधु साध्वियों को निवृत्ति मार्ग में दीक्षित किया। इसी प्रकार काफी बड़ी संख्या में गृहस्थ तथा गृहणियों को श्रावक-श्राविका बनाकर सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया। यह एक विशेष बात है कि भगवान के अनुयायियों में राजा, महाराजा, मन्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्ग के लोग थे। इसके पश्चात् जैनाचार्यों ने भी इस परम्परा का अनुगमन किया। किन्तु यह बड़े खेद की बात है कि गत कुछ सदियों से चतुर्विध संघ में से श्रावक-श्राविका वर्ग केवल वैश्य समाज तक ही सीमित हो गया। आज जैन समाज की संख्या केवल २०, २५ लाख बताई जाती है इसकी तुलना में यदि हम बौद्ध धर्मानुयायियों की बात लें तो हमें आश्चर्य चकित होना पड़ता है। भगवान गौतम बुद्ध हमारे अन्तिम तीर्थंकर के समकालीन थे। जैन समाज की ओर से यह बड़े गौरव के साथ कहा जाता है कि देश में श्रमण संस्कृति (जैन-बौद्ध) विरोधी वायुमण्डल होने पर बौद्धधर्म को इस देश से पलायन करना पड़ा। अभी भारतीय शासन के "सन् १९६१ सेन्सस रिलीजन" नामक प्रकाशन से यह तथ्य प्रकाश में आया है कि गत १० वर्षों में बौद्धों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। हिन्दू समाज से धर्म-परिवर्तन करके लोग बौद्ध अधिक हो गये। इस लेख का उद्देश्य

यह नहीं है कि इसमें धर्म परिवर्तन तथा उसके हेतु अपनाये जाने वाले तरीकों की उपादेयता अथवा अनुपादेयता के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जाय। वास्तव में भारतीय शासन की धर्मनिरपेक्ष नीति होते हुए भी उसकी कार्य पद्धति ने बौद्ध धर्म को प्रोत्साहित किया है, यही कारण है कि बौद्ध समाज ने उसका लाभ उठाया तथा परिणामस्वरूप बौद्ध धर्मानुयायियों की संख्या में गत वर्षों में असाधारण रूप से वृद्धि हुई। इस सन्दर्भ में यदि हम जैन समाज-दीक्षित "वीर-वाल समाज" के प्रश्न पर दृष्टिपात करें तो हमें बहुत निराश होना पड़ता है। 'वीर-वाल प्रवृत्ति' एक निर्विवाद प्रवृत्ति है जिसके द्वारा हिंसक समाज को अहिंसक बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है किन्तु अखिल जैन समाज का पूर्ण सहयोग इस प्रवृत्ति को भी प्राप्त नहीं हो सकता। वास्तव में जैन समाज अपने आन्तरिक भेदों की व्याधि से पीड़ित है। इसी का परिणाम है कि न तो अखिल जैन समाज में पर्याप्त चेतना है, न स्था० जैन समाज में। जैन समाज के लिए यह एक आत्म-परीक्षण का अवसर है। यदि जैन समाज अपने गुण, दोष पर तटस्थभाव से विचार करके अपनी कार्य-पद्धति में सुधार न करें तो स्थिति दिन-प्रतिदिन शोचनीय होगी इसमें सन्देह नहीं है। समाज को अपने को प्राणवान बनाना पड़ेगा तभी समाज के स्वाभिमान की रक्षा हो सकेगी।

आज स्थिति यह है कि जाने अथवा अनजाने रूप से कई मार्गों से समाज को शक्तिहीन बनाने का प्रयास हो रहा है। यदि हम साधु समाज की ओर दृष्टिपात करें तो बड़ा निराश होना पड़ता है। यह एक कटु सत्य है कि कई नामांकित साधु मुनिराज की संस्थाएँ स्थापित हैं। चूंकि श्रावक समुदाय पर साधु-मुनिराजों का प्रभाव है, अतएव उसके लिए आवश्यक सभी व्यवस्था कई मुनिराजों के द्वारा कराई जाती है किन्तु समाज की किसी केन्द्रीय संस्था की प्रवृत्तियों तथा उसके कार्य के लिए आवश्यक साधन-सामग्री जुटाने की ओर कोई ध्यान नहीं देता। मेरी यह इच्छा कतई नहीं है कि केन्द्रीय संस्था की अर्थव्यवस्था के लिए कोई मुनि प्रयत्न करे किन्तु जब मैं देखता हूँ कि उनके द्वारा स्थापित संस्था के लिए यह सब कुछ करते हैं तो एक प्रश्न चिन्ह उपस्थित हो जाता है।

किसी भी वृक्ष को जब तक जीवित रहने, पनपने के लिये पर्याप्त मात्रा में रस प्राप्त नहीं होता वह न पनप सकता है, न दीर्घायु प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार केन्द्रीय संस्था को "रस" की आवश्यकता है वह समाज से ही प्राप्त हो सकता है। ●

६

समाज में रचनात्मक कार्यक्रम की आवश्यकता

यह युग की मांग है कि जैन समाज में धार्मिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य समाजोपयोगी प्रवृत्तियां प्रारम्भ करने के लिये प्रयत्न किया जावे। तात्पर्य यह है कि समाज के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक प्रश्नों के सम्बन्ध में रचनात्मक प्रवृत्तियां प्रारम्भ करने की आवश्यकता अनुभव की गई। इसमें सन्देह नहीं कि जैन कान्फरन्स हमारे संघ की एक प्रतिनिधि संस्था है और उससे यह आशा है कि वह समाज के धार्मिक प्रश्नों के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में मार्ग-दर्शन दें। एक लम्बे समय से इस बात की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी कि समाज को उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में प्रतिनिधि संस्था की ओर से मार्ग-दर्शन मिलना चाहिये। श्रमण तथा श्रमण वर्ग का केवल धार्मिक तथा किसी अंश तक सामाजिक प्रश्नों के सम्बन्ध में ही सम्बन्ध आता है, किन्तु श्रावक तथा श्राविका समुदाय की समस्या केवल धार्मिक तथा सामाजिक प्रश्न से हल नहीं हो सकती। उनके सम्मुख आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्न भी आते हैं। विशेषकर समाज के सन्मुख स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय शासन द्वारा अंगीकृत आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप समाज के मध्यम तथा निम्न वर्ग के सम्मुख कई महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हो गये हैं। इसी प्रकार प्रजातन्त्री देश के एक नागरिक के नाते राजनीतिक प्रश्न भी समाज के हृदय को आन्दोलित करते हैं। इस प्रकार समाज के आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्न के सम्बन्ध में मौन नहीं रखा जा सकता।

उक्त भूमिका की पृष्ठभूमि में यह आवश्यक है कि हमारा समाज धार्मिक-साधना के साथ-साथ अपने समाज में व्याप्त सामाजिक सुधार के प्रश्न हाथ में ले। भारतीय शासन द्वारा अंगीकृत कल्याणकारी राज्य योजना तथा आर्थिक नीति में सम्भवतः कुछ समय पश्चात् मध्यवर्ग Intermedeate समाप्त हो

जावे। शासन सम्भवतः यह पसन्द नहीं करता कि उत्पादक या उपभोक्ता के बीच में कोई वर्ग (जिसे मध्यम वर्ग कहा जाता है) हो जो केवल पूंजी के बल पर उत्पादक से वस्तु क्रय करके अधिक मुनाफा लेकर उपभोक्ता को बेच दे। हमारे समाज का मध्यम वर्ग इसी मध्यम वर्ग में व्याप्त है। यदि समाज के इस वर्ग ने अपनी आजीविका के साधनो में समयानुकूल परिवर्तन नहीं किया तो निश्चित रूप से एक समय ऐसा आ सकता है जबकि समाज का उक्त वर्ग भयंकर आर्थिक दुरवस्था में ग्रस्त हो जावे। आज के युग में ऋण देकर ब्याज उत्पन्न करने तथा उससे प्राप्त लाभ से आजीविका को समाज आदर की दृष्टि से नहीं देखता। समाज मे साहूकारी-पद्धति के प्रति घृणा तथा नफरत है। हमारा समाज व्यापारी समाज होने के कारण राजनीतिक प्रश्नों के प्रति अधिकतर उदासीन होता है किन्तु प्रजातन्त्रीय पद्धति मे राजनीतिक उदासीनता से हमारी संस्कृति को कभी-कभी हानि पहुँचती है और उसके बुरे परिणाम भुगतने पड़ते हैं इसलिये फिलहाल रचनात्मक प्रवृत्ति के अनुसरण में निम्न कार्य शीघ्र प्रारम्भ किया जाना आवश्यक है।

(१) प्रत्येक नगर में प्रतिदिन अथवा सप्ताह मे एक बार एक प्रार्थना सभा का आयोजन हो जिसमें असाम्प्रदायिक कोई प्रार्थना की जावे। कोई भाई इच्छानुसार सामायिक भी कर सकता है। इस योजना को काफी प्रोत्साहन मिलने पर स्वाध्याय का कार्यक्रम भी चालू किया जा सकता है। अन्ततोगत्वा यह कार्यक्रम शास्त्र-सभा जैसा रूप ग्रहण कर ले।

(२) समाज मे व्याप्त सामाजिक कुरीतियों के सम्बन्ध में रचनात्मक कार्य प्रारम्भ होवे ताकि उसमें सुधार हो सके। जैसे पर्दा प्रथा का नाश अग्रहणी, मृत्यु-भोज व विवाह में अत्यधिक व्यय आदि-आदि। यदि सम्भव हो तो सामूहिक विवाहों का आयोजन आदि-आदि, इसमें सन्देह नहीं कि समाज-सुधार के कार्य में अत्यन्त संयत तथा विनयपूर्ण रीति से कार्य प्रारम्भ हो ताकि विरोध तथा कटुता के वातावरण से बचा जा सके।

(३) स्थानीय संघ में एक उपसमिति का निर्माण करके शासन के उद्योग व्यापार विभाग से सम्पर्क स्थापित किया जावे तथा समाज के सदस्यों को इस बात की समय-समय पर प्रेरणा दी जावे कि वह उत्पादन के कार्य में संलग्न हो। स्थानीय उद्योग व्यापार विभाग प्रतिनिधि से यह भली-भांति ज्ञात हो सकता है कि किस प्रकार के उद्योग की सम्बन्धित क्षेत्र में सम्भावना है। शासन से लघु उद्योग के लिये किस प्रकार की सहायता प्राप्त हो सकती है। समाज का महिला वर्ग (शिक्षित) यदि कोई आंशिक समय निकालकर किसी

कार्य में संलग्न होने की इच्छा रखता हो तो उसकी व्यवस्था करावे। इस सिलसिले में गृह-उद्योग को भी प्रोत्साहन दिया जा सकता है। ऐसे युवकों की सूची स्थानीय संघ के पास रहे जो शिक्षित बेकार हों। इसी प्रकार देश के जैन-उद्योग समूहों की सूची हो। बेकार युवकों को इस उद्योग समूहों Management से पत्र-व्यवहार करके कार्य-दिलाने का प्रयत्न किया जावे आदि-आदि।

(४) जैन-समाज का प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि जैन समाज राजनीतिक क्षेत्र में उदासीन नहीं रहा अपितु सदैव उसने राजनीतिक शक्तियों को प्रभावित किया है। हमारे लगभग सभी तीर्थंकरों का जन्म तो क्षत्रिय कुल में हुआ है। हमारे पूर्वज क्षत्रिय ही थे। जैनाचार्यों के प्रयत्नों से क्षत्रिय से हम लोग Convert होकर जैन दीक्षित हुए। देश में स्वतन्त्रता के पूर्व राजा महाराजाओं के मंत्रीगणों में जैनियों की कमी नहीं थी उन्होंने सफलतापूर्वक अपना कर्तव्य निवाहा। देश में संकट के समय भामाशाह जैसों ने सर्वस्व अर्पण किया स्वतन्त्रता के पश्चात् भी यह परम्परा जारी रही, किन्तु जैन जन-साधारण की राजनीतिक प्रश्नों के प्रति अधिक रुचि न होने के कारण जैन-समाज राजनीति को अधिक प्रभावित न कर सका। यही कारण है कि यदा-कदा राज्य की ओर से जैन-संस्कृति के प्रतिकूल कुछ कार्य होते रहे किन्तु जैन समाज अनुकूल निर्णय न कर सका। इसलिये समाज को जन-साधारण में राजनीतिक चेतना जागृत करने का कार्यक्रम भी हाथ में लेना चाहिये। स्थानीय समाज मास में एक बार स्थानीय समस्या पर मिलकर चर्चा करे और उस गोष्ठी में समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रश्नों पर चर्चा करके कोई हल निकाला करे।

बहरहाल यह एक प्रारम्भिक रूपरेखा है जिसके अनुसार समाज में विभिन्न प्रवृत्तियां जारी की जा सकती है। कान्फ्रन्स का केन्द्रिय कार्यालय इस दिशा में पहल करके दीप-स्तम्भ का कार्य करे ऐसी मेरी भावना है।

७

साम्प्रदायिकता; एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति

संस्कृत भाषा में एक कहानी है :—

"एकोदरा पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिण; त एवं निधनं यान्ति...."

सारांश यह है कि एक पशु था जिसकी एक उदर किन्तु दो गरदनें थी इस कारण भोजन की दो नलिया थी। भोजन की दोनों नलियों में परस्पर विरोध हो गया। एक ने दूसरे को हानि पहुँचाने को सोचा। एक नली ने विषपान कर लिया किन्तु उदर एक था इस कारण उस पशु की मृत्यु हो गई। यदि हम जैन समाज की स्थिति का अवलोकन करें तो हमें उक्त कथा में वर्णित उक्ति सार्थक प्रतीत होती है। जैन समाज के दोनों महत्वपूर्ण अंग श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्परा-भगवान महावीर के अनुयायी हैं। दोनों भगवान महावीर को पूज्य मानती हैं। उनके उपदेशों को, विचारों को आप्त-वाक्य मानती, उनसे अनुप्राणित होती हैं। आज लगभग दो सहस्र से अधिक वर्षों से दोनो परम्परा स्वतन्त्र रूप से विद्यमान हैं किन्तु दुःख की बात यह है कि दोनों परम्पराओं में कई बार परस्पर संघर्ष हुए, अशान्ति का निर्माण हुआ, परस्पर करोड़ों रुपयों का व्यय, शक्ति का अपव्यय करके मुकद्दमेबाजी हुई। काफी समय पूर्व समाचार-पत्रों में यह समाचार प्रसारित हुआ था कि जैन तीर्थ सम्मेद शिखर के आस-पास की भूमि को बिहार सरकार Aquire करने वाली है तो जैन समाज ने उस पर विरोध प्रदर्शित किया। सरकार के इस निश्चय को रद्द कराने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किये। यहां तक समाचार पत्रों से ज्ञात होता है बिहार सरकार ने जैन समाजान्तर्गत किसी एक परम्परा के साथ समझौता करके कुछ निश्चय कर लिया है। समाचार पत्रों से यह भी ज्ञात हुआ कि अन्य परम्परा उक्त समझौते अथवा निश्चय को रद्द कराने के लिये कानूनी कार्यवाही करने का विचार कर रही है। क्या समाज का यह

दुर्भाग्य नहीं है ? कि इस प्रकार के आन्तरिक प्रश्नों को हम आपस में हल नहीं कर सकते तथा इस प्रकार के आन्तरिक प्रश्नों का निबटारा करने के लिये सरकार अथवा न्यायालयों की शरण लेनी पड़ती है। यह एक विडम्बना है कि हमारे यह तीर्थ के विवाद धर्म के नाम पर होते हैं। जैन-धर्म के तीर्थंकर पूर्णत: अपरिग्रही होते हैं, उनका कोई स्वामित्व किसी पर नहीं होता किन्तु हम अपने व्यक्तिगत समाजगत, अहंकारों के पोषण के लिये इस प्रकार के पवित्र स्थानों के स्वामित्व का प्रश्न उत्पन्न करते हैं जहां हमारे पूज्य तीर्थंकरों के कई कल्याणक हुए। मेरी आन्तरिक इच्छा है कि समाज को यह सुबुद्धि प्राप्त हो कि समाज के आन्तरिक प्रश्नों को हम परस्पर निर्णय कर लें, उसकी जांच तथा निर्णय के लिये कोई Tribunal निर्माण कर लें तथा सरकार के किसी ऐसे निश्चय को समाज के हितों के विरोध में हो उसका प्रतिकार सम्मिलित होकर सगठित रूप से करें, ताकि वह प्रभावशाली हो सके।

८

जैनधर्म और समन्वयात्मक दृष्टि

भारतवर्ष धार्मिक वृत्ति वाला देश होते हुए भी जन साधारण मे धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट नहीं है, यही नहीं अपितु जनसाधारण सम्प्रदाय को ही धर्म मानता रहता है। देश के विद्वद्‌वर्ग में धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट हो सकता था; किन्तु अनाग्रही विचारों के अभाव के कारण यह वर्ग भी स्पष्ट नही कर पाता। वास्तव में धर्म तथा सम्प्रदाय में महान अन्तर है। धर्म उदार तथा विशाल दृष्टिकोण अपनाता है जब कि सम्प्रदाय अथवा पंथ संकुचित दृष्टिकोण। सम्प्रदायवादी, पंथवादी मनुष्य केवल उस सम्प्रदाय अथवा पंथ के अनुयायी को ही स्वर्ग तथा मोक्ष में प्रवेश का अधिकारी मानता है जबकि धार्मिक मनोवृत्ति के निकट प्रत्येक सज्जन, साधुमना व्यक्ति के लिये स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार खुला है। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् जब संघ शासन ने धर्म-निरपेक्ष नीति की घोषणा की तब से यह प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र में भी चर्चित रहा है। धर्म-निरपेक्ष नीति की व्याख्या इस गलत तरीके पर हुई है कि जन साधारण में यह भ्रान्त धारणा गहराई से बैठ गई है कि भारतीय शासन अधार्मिक राज्य है, अथवा उसका धर्म, धार्मिक सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जहां तक मैं समझता हूँ यह तात्पर्य नही था। धर्म-निरपेक्ष नीति का उद्देश्य केवल यह था कि शासन किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय नहीं देगा, न उसका प्रचारक होगा। वास्तविक रूप से नीति का नाम यदि 'सम्प्रदाय निरपेक्ष नीति' रखा जाता तो अधिक उपयुक्त रहता। विश्व में सम्प्रदायों के नाम पर जो रक्तपात पूर्व काल में हुआ है वह इस नीति के निर्मातागण की दृष्टि में था, किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय देने का अर्थ यह होता कि शासन उक्त सम्प्रदाय

विशेष का हामी है। इस कारण इस नीति का अपनाना उचित था। जैसा ऊपर निर्देश किया गया है, धर्म तथा सम्प्रदाय में आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय शासन का धार्मिक सिद्धान्तों से कोई विरोध नहीं हो सकता। आखिर धर्म क्या है? मेरे मत में जिन सिद्धांतों से मनुष्य का जीवन उदार उन्नत, सामाजिक जीवन बन सके। नैतिकता के उन उच्चतम नियमों का नाम 'धर्म' है किन्तु धर्म निरपेक्ष नीति के कारण उत्पन्न भ्रान्त धारणा ने केवल २० वर्ष के अल्पकाल में ही भारतीय जन-जीवन में नैतिकता, सदाचार का जो अवमूल्यन किया है वह विचारक वर्ग के लिये अत्यन्त विचारणीय प्रश्न बन गया है। भारतीय जन जीवन में आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता वादी विचारों का प्रभाव स्पष्ट जाहिर है। गत आम चुनाव के पूर्व तथा पश्चात् २ वर्ष में जो घटनायें देश में, लोक सभा, विधान सभाओं में घटीं उनको दृष्टि-गत रखते हुए यह सोचने को विवश होना पड़ता है कि क्या भारतीयों में सार्वजनिक प्रश्नों, समस्याओं को हल कराने का यही एक तरीका शेष रह गया है? हमारे जन जीवन मे चाहे व्यक्तिगत प्रश्न हो, चाहे सार्वजनिक प्रश्न हो, सहनशीलता की कमी, सात्विकता की कमी होती जा रही है। इस पृष्ठ भूमि में यह आवश्यक है कि हम सम्प्रदाय तथा धर्म का भेद स्पष्ट समझें तथा यह भी निश्चित करें कि जैन धर्म एक सम्प्रदाय है अथवा धर्म है?

विशाल जैन साहित्य के महत्वपूर्ण तथा प्राचीनतम ग्रन्थ आचाराग सूत्र में भगवान महावीर ने यह उद्घोषणा की है कि—

से बेमि – जे अईया जे पडुप्पन्ना जे य आणागया अरहंता भगवंतो सव्वे पण्णविसु वा, पण्णवेंति वा, पण्णविस्संति वा। ·······

······ अर्थात् भूतकालीन, वर्तमान कालीन, भावी तीर्थंकर यही प्रतिपादित करते हैं कि सभी प्राणी सभी भूत, सभी जीव, सभी सत्व को दण्डादि से नहीं मारना चाहिये, उन पर आज्ञा नहीं चलाना चाहिये, उनको दास की भांति अपने अधिकार में नहीं रखना चाहिये, उन्हें शारीरिक, मानसिक संताप नहीं देना चाहिये और उन्हें प्राणों से रहित नहीं करना चाहिये। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है। संसार के दुःखों को जानकर जगत हितकारी भगवान ने संयम में तत्पर अथवा अतत्पर, उपस्थित, अनुपस्थित, मुनि-गृहस्थ, रागी, त्यागी, भोगी, योगी को समान भाव से यह उपदेश किया है, यह सत्य है, यह तथा रूप है और ऐसा धर्म जिन प्रवचन में कहा गया है।

इस प्रकार से प्राणी मात्र को अभयदाता, आश्वस्तकर्ता धर्म किसी भी दृष्टिकोण से सम्प्रदाय नहीं हो सकता, वह धर्म शब्द में निहित उच्च तथा

महान विचारों से समन्वित होने के कारण धर्म है। यह सर्व विदित है कि 'धर्म' शब्द अनेकार्थी है। विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थ का द्योतक है। यहाँ जिस अर्थ का संदर्भ है वह कर्तव्य अथवा आचार संहिता का द्योतक है। एक प्राचीन आचार्य ने जैन धर्म की व्याख्या निम्न श्लोक में अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण की है।

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडनं किंचित्, जैन धर्मः स उच्यते॥

जिस दर्शन में स्याद्वाद हो, अनेकांती दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है, विभिन्न धर्म, दर्शनों के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि रखी जाती हो, जिसमें किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाने का विधान है उसको जैन धर्म कहते हैं। यह सर्व विदित है कि विश्व में विभिन्न वादों की प्ररूपणा करने वाले कई धर्म विद्यमान है। उन विभिन्न वादों में एकांगी सत्य Partial Truth का अस्तित्व जैन धर्म मानता है। यदि उन आंशिक सत्यों को एक कर लिया जावे, उनमें समन्वय कर लिया जावे तो सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। इस प्रकार जैन धर्मानुसार विश्व मे प्रचलित विभिन्न धर्मों के प्रति उदार विचार रखना आवश्यक है। यह सुनिश्चित है कि भगवान महावीर के समय में विभिन्न वादों के विस्तार से ३६३ मतों का प्रचलन था। भगवान महावीर ने विभिन्न मतों के दृष्टिकोण से उन सबके प्रति अनेकांती दृष्टिकोण अपनाया, तथा अपना मंतव्य समन्वयात्मक रूप से प्रकट किया, उस शैली को स्याद्वाद कहा जाता है। यह सत्य है कि जैनागम मे स्याद्वाद के विचार बीज रूप में सर्वदा विद्यमान थे। पश्चात् वर्ती जैनाचार्यों ने उन बीज रूपी विचारों को पुष्पित, पल्लवित करके स्याद्वाद पर विशाल साहित्य की रचना की और स्पष्ट रूप से घोषणा की कि,

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

उक्त जैन आचार्य ने घोषणा की कि उनका वीर वचनों के प्रति कोई पक्षपात नहीं है न कपिल आदि मुनियों के प्रति विद्वेष ही है। जिसका वचन युक्ति पुरस्सर होगा, उसको अंगीकार करने में हिचक नहीं है। **'पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्त तत्तविणिच्छियं'** तत्व की समीक्षा प्रज्ञा द्वारा (बुद्धिपूर्वक) की जानी चाहिये। इसी विचारसरणी के अनुरूप जैनाचार्यों ने तत्कालीन प्रचलित भारतीय दर्शनों में विभिन्न नय के दृष्टिकोण से सत्य (आंशिक) का दर्शन किया जैसा कि महान साहित्यकार समदर्शी विचारों के जनक जैनाचार्य हरिभद्र सूरि के 'षड्दर्शन समुच्चय' के पृष्ठ १५७ पर टीकाकार ने अंकित किया है कि—

बौद्ध दर्शन—ऋजुसूत्रनय

वेदांत—निश्चय नय (एवंभूत)

सांख्य—मीमांसा—संग्रहनय

चार्वाक—व्यवहारनय

न्याय-वैशेषिक—नैगमनय

शब्द-ब्रह्मवादी - शब्दनय ।

यही नहीं, आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने तो इसी विचार को आगे बता-कर यहाँ तक प्ररूपित करने में हिचकिचाहट नहीं की,कि जैन धर्म 'मिच्छादंसण समूहो' है । स्पष्टवादिता की चरम सीमा है । तात्पर्य यह था कि विभिन्न वादों में आंशिक सत्य होने के कारण वह मिथ्यादर्शन है क्योंकि वह एकांगी दृष्टिकोण रखकर केवल उसी को सत्य प्ररूपण करते हैं, और अपने से भिन्न वाद को असत्य मानते हैं जब कि जैन धर्म समस्त वादों के प्रति उदार विचार रखकर अनेकान्ती दृष्टिकोण अपनाता है । आचार्य श्री सिद्धसेन इसीकारण उसको मिथ्यादर्शनों का समूह कहते हैं । वास्तविकता यह है कि मात्विक रूप से भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में भी एक वाक्य का प्रयोग किया गया है कि 'एक सद्विप्रा बहुधा वदंति' एक ही सत्य को विभिन्न रूप में विप्र (विद्वान) कहते हैं । यहाँ तक तो तत्व निरूपण की बात हुई किन्तु जैनाचार्य ने इसे व्यवहारिक रूप भी प्रदान किया । पाठक जानते है कि जैन धर्म 'में 'नमोकार मंत्र' का अत्यन्त महत्व है । वास्तव में वह नमस्कार का मंत्र है जिसमें आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न सिद्ध, आदि तथा मुक्ति मार्ग के पथिक साधकों को नमस्कार किया गया है । इस मंत्र में जैन दृष्टि कितनी व्यापक हो गई है इस तरफ बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है, इस मंत्र में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय के पश्चात् 'विश्व के समस्त साधुजनों' को नमस्कार अर्पित किया गया है । पूर्व के चार पद विशिष्ट अवस्था के द्योतक है । प्राथमिक सीढ़ी 'साधुता' के विकास क्रम से प्राप्त होती है । प्राथमिक, आध्यात्मिक कार्य से 'साधु' में विश्व के समस्त साधुजन सम्मिलित कर लिया जाना जैनधर्म की विशालता का ज्वलंत प्रमाण है । यहां गणधर भगवान ने साधुता को केवल जैन धर्म द्वारा मान्य आचार विचार के पोषक अथवा विशेष चिन्ह लिंग-धारक जैन साधु को ही मान्यता नहीं दी, बल्कि विश्व में जितनी भी साधुता युक्त आत्मा हैं उन सब को नमस्कार करके अपना सन्मान व्यक्त किया गया है । एक जैनाचार्य ने बहुत सुन्दर ढंग से अन्य धर्मों द्वारा मान्य देवता ब्रह्मा-विष्णु-महेश को भी नमस्कार किया है । उक्त जैनाचार्य ने निम्न श्लोक में यह प्रतिपादित किया है कि

ब्रह्मा-विष्णु-हरि महेश जिन सब को नमस्कार करता हूँ। केवल वह ऐसे हो कि जिनके भव-भ्रमण आवागमन के बीज रूप राग-द्वेष नष्ट हो गये हैं। कहा जाता है कि उक्त श्लोक में जैन धर्म के अप्रतिम आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिने स्याद्वादी होने की परीक्षा के परिणाम स्वरूप 'शिव मन्दिर' में गाया था। तथा शिव-मन्दिर स्थित शिव प्रतिमा को नमस्कार किया था। यह सर्व विदित है कि जैन धर्मान्तर्गत मुक्ति, मोक्ष आत्मा की उच्चतम अवस्था का नाम है जहाँ अनन्तवीर्य, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान होता है, जहाँ पर जाकर आत्मा का भव-भ्रमण समाप्त हो जाता है। मुक्ति पथ के पथिक को अपने जीवन में पूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना होता है। तब वह आत्मा का साक्षात्कार करके मुक्त होता है। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार मुक्त १५ प्रकार से हो सकते हैं, जिसमे यह स्पष्ट बताया गया कि जैन धर्म के अनुयायी हों या न हों, जैन धर्म द्वारा मान्य-लिंग-धारणा करते हो या न करते हो, वे मुक्त हो सकते हैं। तीर्थसिद्धा, अतीर्थसिद्धा, स्वलिंगसिद्धा, अन्यलिंगसिद्धा यही नही, यह भी आवश्यक नहीं कि वह श्रमण साधु हो वह गृहस्थ भी हो सकता है। यही कारण है कि भगवान महावीर के अनुयायियों में राजा महाराजा जैसे अभिजात्य वर्ग के लोग, विभिन्न प्रकार के व्यवसायी, मध्यम वर्ग के लोग, चाण्डाल जैसे निम्न जाति के लोग, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण के लोग सम्मिलित थे। यही नहीं तत्कालीन विभिन्न परम्परा जैसे परिव्राजक सन्यासी आदि भी भगवान के अनुयायियों मे सम्मिलित थे। यह सब भगवान महावीर की उदार, स्याद्वाद, समन्वयकारी वृत्ति का परिणाम था। वास्तव मे अनेकान्त दृष्टिकोण अथवा स्याद्वादमयी भाषा भगवान की अहिंसा नीति का ही एक अंग था। भगवान ने आचार मे अहिंसकता का उपदेश दिया वहां विचारों में अनेकान्त दृष्टिकोण का तथा वाणी में स्याद्वाद का उपदेश दिया जहां तक आचार गत अहिंसा का सम्बन्ध है इस देश में नहीं अपितु विश्व के ख्यातिप्राप्त विद्वानों ने भी यह स्वीकार किया है कि 'अहिंसा' की सूक्ष्म व्याख्या तथा विचार जितना जैन धर्म में किया गया है उतना किसी भी धर्म में नहीं किया गया। अहिंसा से तात्पर्य केवल प्राणिवध को रोकना नहीं है अपितु मन, वचन, काया से किसी भी प्राणी को दुःख देना, सताना, दास बनाना सामाजिक अथवा आर्थिक शोषण करना यह सब हिंसा मानकर उसका निषेध किया गया है। यही नही जहां-जहां जीव की संभावना हो सकती है, चैतन्य की संभावना है, उस-उस स्थान पर भी अहिंसा का पालन आवश्यक माना गया। अहिंसा केवल नकारात्मक सिद्धान्त नहीं है अपितु उसका विधेयात्मक स्वरूप बता कर उसको जीवन में उतारने का उपदेश भी दिया। अहिंसा को इतना विशाल दृष्टिकोण

देकर भगवान महावीर ने प्राणिमात्र का उपकार किया है। यही कारण है कि इस देश में यत्र तत्र अहिंसक शक्ति के जो दर्शन होते हैं वह उस महान पुरुष के उन प्रयत्नों के परिणाम हैं जो उन्होंने देश भर में घूम-घूम कर लगभग २५०० वर्ष पूर्व किये थे। वास्तव में जैन धर्म एक धर्म है, सम्प्रदाय नहीं। केवल मानव धर्म नहीं अपितु प्राणिमात्र का धर्म है, विश्व धर्म है। आवश्यकता इस बात की है कि 'अहिंसा' के नाम पर जो इस लम्बे काल में भ्रांत धारणायें बन गई हैं उनका परिष्कार करके उसको वैज्ञानिक स्वरूप दिया जावे। मेरा यह निश्चित विश्वास है कि यदि जैन समाज अथवा समन्वय वादी दृष्टिकोण सम्पन्न देश के प्रबुद्ध वर्ग ने इस दिशा में सक्रिय प्रयत्न किया तो विश्व का बहुत बड़ा उपकार होगा। दुर्भाग्य यह है कि आज के परस्पर राग,द्वेष, असहिष्णुता इस युग में अहिंसक, सात्विक विचारों का अभाव होता जा रहा है। उसी का परिणाम यह है कि जो हमें देश के जन जीवन में यत्र तत्र सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इस युग के महान क्रान्तिकारी संत महात्मा गांधी ने अहिंसा का प्रयोग सामूहिक तथा राजनैतिक प्रश्नों के सुलझाने में किया। गांधी जी ने जीवन के कई क्षेत्रों में अहिंसा का प्रयोग किया। पशुबल, शस्त्रबल के प्रतिकार के रूप में भी उसका प्रयोग किया तथा सफलता प्राप्त की। आज गांधी जी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी संत बिनोवा उसका प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु अभी पर्याप्त सफलता नही मिल सकी। आज बड़ी निराशाजनक स्थिति है। आज तो प्राणी मात्र की बात तो दूर है किन्तु मनुष्य मनुष्य के बीच भी जो स्नेह, प्रेम, सौहार्द, सज्जनता की कड़ी नहीं हैं। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बड़ा देश कमजोर देश को दबाकर गुलाम बनाना चाहता है। व्यक्तिगत जीवन में भी सबल निर्बल का शोषण कर रहा है। इन्सानियत कराह रही है, ऐसी दशा में आज के युग में भगवान महावीर की वाणी, उनके उपदेश, अहिंसा की अत्यन्त आवश्यकता है। स्थिति बड़ी विषम है। कोई मार्ग नजर नहीं आता है जैसा कि उर्दू के एक कवि ने कहा है:—

इक रह गई थी मजहबे इन्सानियत की बात।
वह बात भी बाफजूले जुबा, जुर्म हो गई॥

६

जैनधर्म का हृदय

आज मैं आपको धर्म, विशेषकर 'जैन धर्म' के सम्बन्ध में कुछ जानकारी देना चाहता हूँ। 'धर्म' शब्द से क्या अभिप्राय लिया जाये, यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। किसी व्याख्याकार ने धर्म शब्द से उसके शाश्वत सिद्धान्त, किसी ने उसमें प्रतिपादित आचार, किसी ने केवल वस्तु के स्वभाव-गुण, किसी ने कर्मकाण्ड समझ कर उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रतिपादित किया है। जहा तक मैं समझता हूँ, धर्म शब्द से शाश्वत सिद्धान्त अथवा उसमें प्रतिपादित आचार का अभिप्राय लिया जाना उचित होगा। मेरे मत में मानव जीवन अथवा प्राणी जगत जिस प्रकार अनादि अनन्त है, उसी प्रकार धर्म भी अनादि अनन्त है। यह नहीं हो सकता कि इस विश्व में मानव तो हो, किन्तु धर्म का अस्तित्व न हो। इसमें भी सन्देह नही कि धर्म के शाश्वत सिद्धान्त अपरिवर्तनशील है। पर यह भी सत्य है कि धर्म के नाम पर जो नियम, उपनियम बनाये जाते हैं, उन पर देश, काल, परिस्थिति का प्रभाव भी पड़ता है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार धर्म का शाश्वत सिद्धान्त क्या है, तथा धर्म का उद्देश्य क्या है?

एक प्राचीन पवित्र ग्रन्थ 'आचारांग सूत्र' में यह निर्देश है कि जितने तीर्थंकर पूर्व में हो चुके हैं, जो वर्तमान में हैं व जो भविष्य में होंगे, वे सब किसी जीव को पीड़ा न पहुँचाने व उसका वध न करने का उपदेश देते हैं। मेरे नम्र मत में यह धर्म का प्राण है। उसका उद्देश्य यह है कि प्राणी मात्र की आत्मा का विकास हो, उसमें गुणों का आविर्भाव हो, विकास करते-करते आत्मा महात्मा-महान आत्मा हो जावे। धर्म की उपयोगिता इसी में है। जो मानव समाज की समस्याओं का निराकरण कर सके, यही जीवित धर्म का लक्षण है। धर्म अथवा धार्मिकों में नवीन विचारों का स्वागत या उसको पचाने

की शक्ति न हो अथवा जो बुद्धिवाद से भड़क उठते हों, केवल श्रद्धा और श्रद्धा पर ही जिसका अस्तित्व हो वह जीवित धर्म नहीं हो सकता।

दुर्भाग्य से आज प्रचलित कई धर्मों अथवा उसके अनुयायी धार्मिकों में इस प्रकार की वृत्ति विद्यमान है कि वे बुद्धिवाद से चकरा जाते हैं। वे सामान्य जनता को केवल श्रद्धा के सहारे विश्वास करने के लिए आवाहन करते हैं। परिणाम यह होता है कि उसमें नवीन विचारों के स्वागत करने या उसे पचाने की शक्ति नहीं रहती न वे समाज में व्याप्त समस्याओं का निराकरण कर सकते हैं। संक्षेप में वे दिमागी गुलामों का एक दल चाहते हैं। यही कारण है कि सामान्य जनता में धर्म के प्रति उतना आकर्षण नहीं है। कहा जाता है कि धर्म के नाम पर अतीत में जो धार्मिक असहिष्णुता इस देश में पंडित, मौलवी मुल्ला का तथा यूरोप आदि देशों में पोप का पाखण्डमय जीवन रहा है, धर्म के नाम पर जो रक्त की नदी बहाई गई है, उन सब के कारण धर्म अपनी उपयोगिता समाप्त कर चुका है। आज का सामान्य मानव उससे घृणा करता है।

धर्म के नाम पर जितना अत्याचार, अनाचार, कर्मकाण्ड का पाखण्ड फैला है, उतना सम्भवतः अन्य किसी के कारण नहीं। परन्तु प्रश्न यह है कि सब गलत, अनुचित बातों के लिए 'धर्म' जिम्मेदार है या वे तथाकथित धार्मिक कहलाने वाले पाखण्डी जिम्मेदार हैं, या सामान्य जनता जिसने ऐसे पाखण्डियों को बरदाश्त किया। मेरे मत में इस परिस्थिति के लिए तथाकथित धार्मिक किन्तु पाखण्डी व्यक्ति तथा सामान्य जनता जिसने ऐसे अत्याचार बरदाश्त किये, जिम्मेदार है। किसी जीवित धर्म के अनुयायी के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह उस विशिष्ट धर्म के नाम प्रचलित इतिहास व भूगोल, खगोल, ज्योतिष आदि विभिन्न विषयों की मान्यता पर भी विश्वास करे। जब हम यूरोपीय देशों का अतीत का इतिहास देखते हैं हमको पता लगता कि उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में भिन्न मत व्यक्त करने वाले को कड़ी सजाएं दी गई। यह कार्य तथा कथित धार्मिकों (वास्तव में पाखण्डी) ने किया तथा सामान्य जनता बेबस थी, उसने बरदाश्त किया। यह धार्मिक असहिष्णुता थी कि वहां एक ही धर्म की विभिन्न सम्प्रदायों ने एक दूसरे के अनुयायियों पर अत्याचार किये जब कि धर्म तो मानव जाति के विभिन्न सिद्धान्तों में सामन्जस्य व समन्वय स्थापित करने का पाठ पढ़ाता है। उर्दू के महान कवि इकबाल के शब्दों में:—

मजहब नहीं सिखाता, आपस में बैर करना
हिन्दी है हम-वतन हैं, हिन्दोस्तां हमारा"

राष्ट्रपिता महात्मागांधी ने अपने संतमय जीवन में जिन ११ व्रतों का समावेश किया था, उनमें 'सर्व धर्म समभाव' भी एक था। यदि हम धर्म के हृदय का गहराई से परिशीलन करें तो हमें ज्ञात होगा कि धर्म का उद्देश्य सारे विश्व को एक कुटुम्ब मानने व उस प्रकार का वर्तन करने का उपदेश देता है—'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'।

धर्म के सम्बन्ध मे इस प्रारम्भिक प्रस्तावना के प्रकाश में हमें यह विचार करना है कि जिन सिद्धान्तों को हम 'जैनधर्म' के नाम से पहिचानते हैं, वास्तव में उनमे जीवित धर्म के लक्षण विद्यमान है या नहीं। किसी भी धर्म का परिचय कराते समय अधिकतर यह प्रश्न तलाश किया जाता है कि यह प्राचीन है या अर्वाचीन? इस प्रकार का प्रश्न मेरे नम्र मत में अनुपयोगी प्रश्न है। इस प्रश्न के कर्ता के मन में ऐसा भाव संभवत: विद्यमान रहता है कि जो प्राचीन है वही प्रमाण है। वास्तविक रूप में यह विचारसरणि दूषित है किसी भी धर्म की प्रमाणिकता की कसौटी प्राचीनता नही हो सकती है जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, धर्म एक शाश्वत सत्य है। जब तक मानव जाति मे नैसर्गिक नियमों की आस्था रही तब तक शायद धर्म के नामकरण की आवश्यकता महसूस नही हुई। जब धर्म के नाम पर विभिन्न मत-मतान्तरों का प्रदुर्भाव हुआ तब नामकरण की आवश्यकता हुई हो। जहां तक जैन धर्म का सम्बन्ध है उसका वर्तमान नाम प्राचीन नही है, उसकी आत्मा, उसके सिद्धान्त अनादि है अनन्त हैं। वर्तमान उत्सर्पिणी काल के चौदह कुलकरों में अन्तिम कुलकर नाभिराय के सुपुत्र ऋषभदेव जैनधर्मानुसार प्रथम तीर्थंकर धर्मोपदेष्टा थे।

भगवान ऋषभदेव के अस्तित्व के प्रमाण में वेद, भागवत पुराण आदि का उल्लेख किया जा सकता है। भगवान ऋषभदेव को प्राचीन साहित्य में अत्यन्त आदर तथा श्रद्धा का पात्र बताया गया है। भगवान ऋषभदेव ने अपने जीवन में मानव जाति को सभ्यता का पाठ पढ़ाया, कला का विकास किया, आजीविका अर्जित करने आदि की शिक्षा दी, मानव जाति उनकी अत्यन्त ऋणी है। एक विद्वान के कथनानुसार भाद्रपद मास में जो ऋषिपंचमी का त्यौहार आता है, वह वास्तव में ऋषभ पंचमी थी, जो काल व्यतीत होते-होते ऋषि पचमी हो गया। तात्पर्य यह है कि भगवान ऋषभदेव के अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता। उनके पश्चात् के अन्य तीर्थंकरो का विस्तृत जीवन परिचय नहीं मिलता किन्तु २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ, महाभारत के प्रमुख पात्र गीता गायक श्री कृष्ण के चचेरे भाई ही थे।

इतिहासकारों ने २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा २४ वें तीर्थंकर महावीर का अस्तित्व स्वीकार किया है। दुर्भाग्य से आज भगवान महावीर के पूर्व का कोई साहित्य उपलब्ध नही है। भगवान महावीर के समय का भी बहुत सा साहित्य अनुपलब्ध है, किन्तु जो साहित्य उपलब्ध है, उससे यह निशंक रूप से कहा जा सकता है कि जिन सिद्धान्तों को आज जैन धर्म के नाम से पहचाना जाता है उसके प्रणेता भगवान महावीर नहीं थे अपितु वे धर्म के शाश्वत सिद्धान्त थे। भगवान महावीर उसके प्रमुख प्रवक्ता थे। भगवान महावीर के समय के उपलब्ध साहित्य में "जैन" शब्द का जिक्र नही आता अपितु 'निग्रन्थ धर्म' आदि शब्दों का प्रयोग आता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है जैन धर्म की आत्मा, उसके सिद्धान्त अनादिकालीन है। किसी समय यह सोचा गया कि 'जिन' के उपासक होने से इन सिद्धान्तों को 'जैन' संज्ञा से अभिहित कर दिया जावे। संभवत: इसी कारण जैन अथवा जैनधर्म शब्द रूढ़ हो गया। जिन महान व्यक्तियों ने अपनी इन्द्रियों पर काबू कर लिया, राग-द्वेष से मुक्ति प्राप्त करली, उन मुक्ति प्राप्त महात्माओं को "जिन" कहा जाता है। इसी प्रकार जैन धर्म शब्द अधिक प्राचीन न होते हुए भी अर्थ पूर्ण है।

श्रमण-संस्कृति के उन्नायक भगवान महावीर ने तत्कालीन परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर जो धार्मिक क्रांति की, उसका मूल्यांकन मानव जाति को करना होगा। भगवान महावीर की मानव जाति को सबसे महत्वपूर्ण अमूल्य भेंट यह है कि उन्होंने मानव जाति को "ईश्वर" की गुलामी के फन्दे से मुक्त किया। तत्कालीन प्रचलित विभिन्न मान्यताओं के अनुसार ईश्वर सदैव ईश्वर था, भक्त सदैव भक्त रहने वाला था। उन्होंने इस मान्यता को गलत करार देते हुए मानव जाति को विश्वास दिलाया कि वह उच्च गुणों का अपनी आत्मा मे विकास करते करते "परमात्मत्व" प्राप्त कर सकती है। 'परमात्मत्व' पर किसी व्यक्ति-विशेष, शक्ति-विशेष का एकाधिकारित्व नहीं है। उन्होंने कर्मवाद के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए मानव जाति को आश्वस्त किया कि प्राणी मात्र को शुभा-शुभ कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।"

विश्व का कोई भी विशिष्ट व्यक्ति इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता। शुभाशुभ कर्म की मुक्ति ही मनुष्य को परम पद की प्राप्ति है। ऐसी विशिष्ट स्थिति प्राप्त व्यक्ति ही परमात्मा हो सकता है। हमारे देश की तत्कालीन परिस्थिति में एक विशिष्टवर्ग के व्यक्ति को उच्चता प्राप्त थी। उसका उस व्यक्ति के गुण-अवगुणों से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रथा के

विरुद्ध भगवान महावीर ने प्रतिपादित किया कि उच्चता जन्मना नहीं अपितु कर्मणा होनी चाहिये। यदि उच्च कुल में जन्म प्राप्त व्यक्ति के कर्म शुभ नहीं है तो उसे समाज में उच्चता प्राप्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि नीच कुल में जन्म प्राप्त व्यक्ति के कर्म शुभ हों तो उसे उच्च माना जाना चाहिये। देश में यज्ञ के नाम पर हिंसा का बोलबाला था। कृषि योग्य पशुओं को पकड़-पकड़ कर यज्ञ में होम दिया जाता था। भगवान महावीर ने यज्ञ का आत्मलक्षी अर्थ करके प्रतिपादित किया कि यज्ञ मनुष्य को अपनी इच्छा, वासना का करना चाहिये। यही सच्चा यज्ञ है। तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर ने मानव प्रतिष्ठा का एक महान कार्य किया है।

भगवान महावीर ने आत्मा को मुक्ति का जो मार्ग प्रतिपादित किया, उसे मोक्ष मार्ग कहा जाता है। एक प्राचीन आचार्य ने उसका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार से किया है:—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

मानव जब सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की उपासना करके उच्च गुणो को प्राप्त करले तब मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। मनुष्य में जब तक पक्ष-पात हीन सम्यग्दृष्टि न हो, सम्यक् प्रकार का ज्ञान न हो और सम्यग् प्रकार का चारित्र (अमल) न हो तब तक वह मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। दृष्टि, ज्ञान, चारित्र के साथ सम्यक् विशेषण महत्वपूर्ण है। सबसे प्रथम मनुष्य की दृष्टि पक्षपात रहित होनी चाहिये ताकि वह निष्पक्ष दृष्टि से विवेक के साथ उचित तथ्य स्वीकार कर सके। एक आचार्य ने कहा है कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।

कितना उच्च विचार है। भगवान महावीर ने अपने अनुयायियों से किसी भी तत्व की अन्ध-विश्वास के साथ श्रद्धा करने की कभी अपेक्षा नहीं की। उन्होंने तो कहा—

पन्ना समिक्खए धम्मं तत्तं तत्तविणच्छियं।

तत्व की प्रज्ञा द्वारा समीक्षा करके ग्रहण करो। भगवान महावीर ने सम्यक् दृष्टि के साथ ही अनेकांतदृष्टि प्रदान की है। उनका प्रतिपादन यह था कि किसी भी वस्तु के अनन्त धर्म-गुण होते हैं। इसी प्रकार किसी भी दार्शनिक प्रश्न के कई पहलू होते हैं। मनुष्य की बुद्धि इतनी पूर्ण नहीं होती

कि वह समस्त पहलुओं को एक ही समय देख सके। इसके अतिरिक्त भाषा की शक्ति भी सीमित है। उसके द्वारा मनुष्य अपनी भावनाओं को पूरी तौर पर कई मर्तबा व्यक्त नहीं कर पाता। इसीलिए भगवान महावीर ने अनेकांत दृष्टि का उपयोग करने का प्रतिपादन किया था। जिसमें इस बात की गुंजाइस रहती है कि विरोधी अथवा भिन्न विचार के लिए भी सत्यता की संभावना स्वीकार की जावे। यदि इसको दार्शनिक भाषा में कहा जावे तो यह कहा जा सकता है वह बौद्धिक अहिंसा है। एक प्राचीन आचार्य ने भारतीय षड्दर्शनों को भिन्न भिन्न नय से आंशिक सत्य होना स्वीकार किया है। कहा जाता है कि—

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति"

एक सत्य को विद्वान लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करते हैं। इसी अनेकांत सिद्धान्त के आधार पर 'सर्व धर्म समन्वय' की भावना पल्लवित हुई है। महान प्रभावी आचार्य ने सर्व धर्म समभाव को दृष्टिगत रखकर निम्न श्लोक की रचना की थी—

भवबीजांकुरजनना, रागाद्याक्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै।

उक्त आचार्यों ने ऐसी सब महान आत्माओं को नमस्कार किया है जिन्होंने संसार के आवागमन के कारण राग-द्वेष का नाश कर दिया है। चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो, जिन हो। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की पक्षपातहीन सम्यक्‌दृष्टि जिसकी हो, उसको सम्यक्‌दर्शन प्राप्त होता है और उसी को सम्यक् रूपेण ज्ञान प्राप्त होता है। यदि हम चरित्र की दृष्टि से विचार करें तो इस निश्चय पर पहुंचेंगे कि भगवान महावीर ने जो सिद्धान्त निरूपित किये थे, उन सबका आधार अहिंसा रहा है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। भगवान महावीर के अनेकांत सिद्धान्त में बौद्धिक अहिंसा का विचार पल्लवित है। सक्षेप में यदि महावीर के उपदेशों को कहा जावे तो वह हिन्दी वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' कार से प्रारम्भ होने वाले तीन शब्द, अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह में निहित है।

एक प्राचीन आचार्य ने इस सम्बन्ध में कहा था —

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्।"

जो व्यवहार स्वयं की आत्मा को अनुचित लगता हो, उस प्रकार का व्यवहार तुम अन्य के प्रति मत करो। यह हमारे कर्त्तव्य तथा अकर्तव्य की सीमा निर्धारित करने की संक्षिप्त तालिका है।

संक्षेप में यदि हम जैन धर्म द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त का पर्यवेक्षण करें तो वह सब इन्हीं तीन सिद्धान्तों, अनेकान्त, अहिंसा, और अपरिग्रह का विस्तार है।

भगवान महावीर ने अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त का निरूपण करके विश्व में व्याप्त आर्थिक असमानता, विषमता और शोषण को समाप्त करने का उपदेश दिया। और इस प्रकार समाज को आर्थिक न्याय मिलने का रास्ता प्रशस्त किया। अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त से जहाँ समाज लाभान्वित हुआ, वहाँ व्यक्ति की दृष्टि से उसकी इच्छाएं, आकांक्षाए सीमित करने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

अपरिग्रहवाद उस युग की महान उपलब्धि है। इस भाषण को एक जैन आचार्य के निम्न श्लोक में समाप्त करता हूं, जिसमें उन्होने जैन धर्म की परिभाषा का प्रतिपादन किया है कि जिसमें स्याद्वाद का अस्तित्व हो, पक्षपात न हो, किसी की हिंसा न करना, पीड़ा न पहुंचाने का निश्चय हो, वही जैन धर्म है। क्या कोई इन महान सिद्धान्तों से इन्कार का साहस कर सकता है?

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडनं किंचिद्, जैनधर्मः स उच्यते॥

१०

जैनत्व या श्रावकत्व

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी रचना 'भारत भारती' में कहा था—

हम कौन थे क्या हो गए हैं और होंगे क्या अभी
आओ विचारें आज मिल कर ये समस्यायें सभी।

किसी भी समाज या राष्ट्र के चरित्र की प्रगति या अवनति को मापने के लिये भूत, भविष्य और वर्तमान की स्थिति का पर्यावलोकन किया जाता है। जहाँ तक मेरा अनुमान है कि वेदकालीन समाज में सन्यास परम्परा नहीं थी। उस समय का ऋषि गृहस्थ होता था। उसका द्रष्टा होना पर्याप्त माना जाता था। ऋषि दर्शनवान Man of vision होने से उनको ऋषि संज्ञा प्राप्त होती थी। इसके पश्चात् शंकराचार्य के युग मे सन्यास प्रथा प्रारम्भ की गई और मनुष्य जीवन को आयु के लिहाज से विभाजित किया गया। किन्तु भगवान महावीर ने मनुष्य जीवन को आयु के लिहाज से विभाजित नहीं किया। कारण स्पष्ट था कि यदि कोई मनुष्य प्रथम स्थिति ब्रह्मचर्याश्रम के समय ही इतनी आध्यात्मिक भूमिका प्राप्त कर ले उसे इतना वैराग्य हो जावे कि जिससे उसे मुनिधर्म दीक्षा के योग्य माना जा सके तो आयुबन्धन की दशा में कठिनाई उपस्थित होती। भगवान महावीर ने मनुष्य जीवन को प्रवाहशील माना तथा उसे केवल गृहस्थ तथा मुनिदशा इस प्रकार दो भागो में ही विभाजित किया। दूसरे शब्दों मे सागार धर्म with exception अनगार धर्म without exception कहे गए। कहने की आवश्यकता नही कि गृहस्थ जीवन मे मुनिधर्म पूर्णरूप से पालन करना सम्भव नहीं था। इसलिये गृहस्थ जीवन में आगार सहित व्रतो का विधान किया गया। मुनिधर्म में आगार के अपवाद का कोई स्थान नही रखा गया हालाँकि मुनिधर्म में भी मुनि पूर्ण रूप से अहिंसक नहीं हो सकता। यह लेखक का नम्र मत है। मनुष्य जीवन की

अनिवार्य आवश्यकता कई ऐसी है कि जिससे हिंसा हो ही जाती है। उदाहरणार्थ मनुष्य का श्वासोछ्वास लेना जिसमें कई वायुकाया के जीवों का हनन हो जाता है। मनुष्य किसी भी स्थिति में हो, चाहे बैठे, चाहे लेटे चाहे समस्त प्रवृत्ति स्थगित कर दे। तब भी उक्त प्रकार की हिंसा हो ही जाती है। इसलिये मुनधर्म की संक्षिप्त रूपरेखा दिग्दर्शन कराने वाला 'दशवैकालिक सूत्र' में 'मुनि को यदि वह उक्त अनिवार्य प्रवृत्ति विवेक सहित करता है तो पाप बन्धन नहीं होगा' ऐसा विधान किया गया है। वास्तव मे जीवन का प्रकाशस्तम्भ सूत्र 'विवेगे धम्ममाहिए' होना चाहिये। मुनिजीवन मे विवेक का कितना स्थान रह गया है? मुनि जन नियमों के हार्द की गहराई में जाकर उसका पालन करते हैं या केवल उसके कलेवर को पकड़ कर नियमों के पालन हो जाने का संतोष कर लेते हैं यह स्वतंत्र लेख का विषय है। इतना निश्चित है कि गृहस्थ के जीवन मे तो विवेक का स्थान बहुत कम रह गया है। भगवान महावीर के समय मे उस व्यक्ति को, जो मुनिधर्म पालन करने की प्रतिज्ञा लेने में विवशता अनुभव करता था उसे गृहस्थ धर्म पालन की प्रेरणा दी जाती थी तथा उसे 'श्रावक या श्रमणोपासक' कहा जाता था। लेखक का यह अनुमान है कि निर्ग्रन्थ के उपासक को "जैन' कहने की परम्परा बहुत बाद की है। जहाँ तक मुझे माहीति है हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों में श्रावक की कोई परिभाषा स्पष्ट रूप से नही दी गई है। भगवान महावीर के काल में श्रावक जीवन की झलक अग साहित्य के 'उपासक दशांग सूत्र' मे मिलती है। अन्यत्र भी बिखरी हुई सामग्री अग साहित्य मे मिल जाती है किन्तु मुनिधर्म की जितनी विस्तृत माहीति उपलब्ध है उतनी विस्तृत तथा सुनियोजित गृहस्थ धर्म की उपलब्ध नही है ऐसा मेरा मत है। 'सागारधर्मामृत' ग्रन्थ की पं० आशाधरकृत टीका में एक स्थान पर श्रावक की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि—

कोऽसौ ? सो श्रावक . श्रृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकदेशसंयतः

जो गुरू पासून मिलालेला उपदेश श्रवण करिता तो श्रावक हो (देखिये पृष्ठ ३६) तात्पर्य यह है कि श्रावक से तात्पर्य 'श्रावण' से तात्पर्य श्रवण कर्त्ता One who listens माना गया। यह बहुत प्रारम्भिक व्याख्या है। 'सागारधर्मामृत' प्रथम अध्याय श्लोक संख्या १९ मे श्रावक ११ प्रकार के बताये गये हैं।

१. दार्शनिक-सम्यग् दर्शन सहित आठ मूल गुण पालक, २. व्रतिक-दार्शनिक जब अणुव्रत पालन करें तब व्रतिक, ३. सामायिक-व्रतिक जब त्रिकाल सामायिक करें तब सामायिक इसी प्रकार, ४. पोषधोपवासी, ५. सचित्त त्यागी, ६. दिवा

मैथुन त्यागी, ७. ब्रह्मचारी, ८. आरम्भ-त्यागी, ९. परिग्रह त्यागी, १०. अनु-मति त्यागी, ११. उद्दिष्ट त्यागी।

इसी प्रकार जैनाचार्य समंतभद्ररचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में भी श्रावकों के नियमोंपनियम का विधान किया गया है। कहीं श्रावकों को सम्यकत्वी होना पर्याप्त मान लिया गया। कही सप्त-व्यसन त्यागी, कहीं उसके २१ गुणधारी होना आवश्यक माना गया, कहीं मार्गानुसारी के ३५ गुण आवश्यक माने गये। जहाँ तक मैं समझता हूँ केवल जैन या श्रावक को ही नहीं शिष्ट समाज के किसी सदस्य को सप्तव्यसन का त्यागी तथा २१ गुणों का धारक होना चाहिये। यही नहीं, मार्गानुसारी के ३५ गुण भी उसमें होने चाहिये अन्यथा उसकी आज कीं परिस्थिति में शिष्ट समाज का सदस्य recognise नहीं किया जा सकता। सप्त व्यसन का त्याग २१ या ३५ गुणों का पालन सज्जनतापूर्ण जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। मेरा अनुमान है कि जैनत्व, मार्गानुसारी, तथा श्रावकत्व में इससे अधिक कुछ विशेषता होना आवश्यक है। मोटे तौर पर गृहस्थ सम्यकत्व पालक है जिसकी आस्था देव, गुरु, धर्म में है उसे जैन या मार्गानुसारी कहा जाना चाहिये तथा जो १२ अणुव्रतों का पालक हो या अणुव्रत सहित प्रतिमाधारी हो उसे 'श्रावक' कहा जाना चाहिये।

किन्तु आज की समस्या तो बड़ी जटिल है। हम गृहस्थों में जैनत्व के संस्कार हैं। यह सरलता से नहीं कहा जा सकता। हमारे देश में जैनत्व की मोटी पहचान 'रात्रि भोजन त्याग' तथा 'शुद्ध खान-पान' माना जाता था। रात्रि भोजन त्याग की बात तो आज गिने चुने घरों को छोड़कर कहीं दृष्टि-गोचर नहीं होती। दिगम्बर जैन समाज (जहाँ रात्रि भोजन त्याग के लिये बहुत आग्रह रहता था) में भी रात्रि-भोजन त्यागी गिने चुने घर में मिलते हैं। बड़े शहरों में कालेज पाठी अथवा सम्पन्न घरों के लड़कों को शुद्ध खान-पान का आग्रह नहीं रहता है ऐसा मेरा अनुमान है। हमारे जीवन में भारती-यता का लोप होता जा रहा है। तथा विदेशी तौर-तरीकों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। विदेशी तौर-तरीके सभी बुरे नहीं होते किन्तु हम तो अन्धा-नुकरण करते जा रहे हैं। हमारा अन्धानुकरण अधिकतर बुराई के लिये अधिक सजग है हमारे घरों में मम्मी-डेडी जैसे शब्दों की भरमार है जबकि स्नेहपूर्ण शब्द माता-पिता का हमने हमारे बच्चों से बहिष्कार करा दिया है। और मम्मी-डेडी जैसे कर्ण कटु शब्दों को चुनकर हम गर्व से फूल जाते हैं। हमारे देश में 'हिप्पी' 'बीटल' आदि के द्वारा हमारी सभ्यता तथा संस्कृति पर आक्रमण हो रहा है। उनकी वेष-भूषा रहन-सहन व गन्दे तौर तरीके सभ्य

समाज के लिये उचित नहीं है किन्तु हमारे मनचले लोग उनकी भी नकल करने में नहीं सकुचाते ।

तात्पर्य यह है कि आज के समय में जैनत्व या श्रावकत्व की बात तो दूर हम अपनी युवा पीढ़ी को सभ्य तथा सुसंस्कृत रख सकें तो भी हमारी उपलब्धि बहुत महत्वपूर्ण मानी जानी चाहिए। हमारा रहन-सहन तौर-तरीका सभ्यता, विकृत होती जा रही है। समाज के कर्णधार इस दिशा में उदासीन हैं। जैन-सस्कृति या श्रमण-सस्कृति को सुरक्षित रखने की कोई योजना समाज के पास नहीं है, न इस पर कोई ऊहापोह नही ज्ञात होता है। नेतृत्व ने इस विकृति का कोई Notice नोटिस ही नही लिया है और सब ओर शान्ति है।

इस स्थिति मे भविष्य की कल्पना सहज की जा सकती है। क्या यह आवश्यक नहीं है कि समाज में वर्तमान विकृति तथा उसके निराकरण के उपाय सोचने के लिये यत्र तत्र गोष्ठी परिसंवाद आयोजित किये जायें ताकि समाज में वातावरण निर्माण हो और नेतृत्व इस दिशा मे कोई मार्गदर्शन समाज को देना कि जिसमें श्रमण सस्कृति सुरक्षित रह सके।

●

११

श्रमण-संस्कृति

आधुनिक इतिहासकार की दृष्टि आज से लगभग पांच हजार वर्षों से पूर्व नहीं जाती। यदि हम इतिहास की ओर दृष्टिपात करें तो हमें इस परिणाम पर पहुँचना होगा कि आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व केवल भारतवर्ष में ही नहीं, समस्त विश्व में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि मानव समाज अपने किसी उद्धारक की खोज की आवश्यकता अनुभव करता था। बात वास्तव में यह थी कि मानव समाज की आंतरिक क्षुधा केवल यज्ञ-यागादि पूर्ण वैदिक संस्कृति से तृप्त नहीं हो रही थी। वेदकालीन ब्राह्मणसंस्कृति मे अधिकतर प्रकृति पूजा थी। मानव अपनी भौतिक समृद्धि के लिए मंत्रों द्वारा प्रार्थना किया करता था। उसका लक्ष्य भौतिक साधनों की प्राप्ति था। उसके पश्चात् मानव समाज ने कुछ प्रगति की और उपनिषद् काल मे आध्यात्मिक विचार प्राप्त किए। वेद तथा उपनिषदकालीन ब्राह्मण-संस्कृति का मार्ग प्रवृत्ति सूचक था। उससे मानव पूर्ण संतुष्ट नहीं था। ब्राह्मण-संस्कृति के अग्रदूत ऋषि, मुनि स्वयं भी प्रवृत्ति मार्ग अपनाते तथा सांसारिक जीवन व्यतीत करते थे। उस समय मानव समाज को निवृत्ति सूचक मार्ग का कोई उपदेष्टा प्राप्त नही था। ब्राह्मणसंस्कृति के उस युग में ब्राह्मणों की ही श्रेष्ठता थी। वह अन्य वर्ण को अपने से निम्नकोटि का मानता था। शूद्रों को अत्यन्त नीच मानकर उन्हे वेद श्रवण तक का अधिकार स्वीकार नही किया जाता था। दासप्रथा वर्तमान थी बाजार में दास, दासियों का क्रय-विक्रय होता था। महिलाओं की स्थिति दयनीय थी, उन्हें कोई सामाजिक अधिकार प्राप्त न थे। धर्म के नाम पर पशुबलि दी जाती थी। धर्म केवल रूढ़ियो का कंकाल मात्र था। ऐसी विषम परिस्थिति में मानव समाज अपने किसी मसीहा, उद्धारक की खोज मे था। इस परिस्थिति के परिणाम स्वरूप ही श्रमण-संस्कृति की आवश्यकता अनुभव हो रही थी, श्रमण-संस्कृति पूर्व में भी थी किन्तु काल प्रभाव से उस पर

आवरण छा रहा था। उसके उद्धार की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी ऐसे समय में भगवान पार्श्वनाथ ने वाराणसी में आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व एक क्षत्रियकुल में जन्म में लेकर इस आवश्यकता की पूर्ति की। उन्होंने श्रमण-संस्कृति को परिस्कृत किया। धर्म के कंकाल मात्र रूढ़ियों पर प्रहार किया। मानव समाज को निवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया तथा मानव मात्र की बराबरी का अधिकार स्वीकार किया। उन्होंने बतलाया कि मानव किसी विशेष कुल-जाति में उत्पन्न होने से ही उच्च नीच नहीं हो सकता अपितु अपने कर्मों से ही उच्च नीच होता है। इस प्रकार उन्होंने जन्मना उच्च, नीच के विचार पर आक्रमण करके तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन किए। दास-दासियों का क्रय-विक्रय सामाजिक पाप प्ररूपित किया यज्ञ की परिभाषा बदल दी। उन्होंने मानव को संदेश दिया कि यज्ञ स्वयं का करो। आत्मयज्ञ तुम्हें आत्मशांति देगा। अपनी असद् इच्छाओं की आहुति देकर आत्मा को प्रगति पथ पर ले जाना मानव के लिये श्रेयस्कर है। भगवान पार्श्वनाथ ने अपने शतायु-पूर्ण जीवन में निवृत्ति-प्रधान संस्कृति का खूब प्रचार किया। उसके परिणाम स्वरूप उनके कई अनुयायी गृहस्थ जीवन त्याग कर सन्यासी हो गए, जिनको 'श्रमण' नाम से अभिहित किया गया। भारतवर्ष में श्रमण-संस्कृति दिन-प्रतिदिन पल्लवित होने लगी।

भगवान पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् श्रमण-संस्कृति ने देश में निवृत्तिप्रधान मार्ग का विकास किया। वास्तव में संस्कृति के द्वारा ही मानव अपनी आत्मा को संस्कृत कर सकता है। आत्मा को सस्कृत करने का अर्थ यही है कि मानव अपनी आत्मा को सद्गुणी सुसस्कृत करके अबाध सुख की प्राप्ति करें। आवागमन रहित मुक्ति प्राप्त करें। मानव-समाज को इसकी पूर्ति प्रवृत्ति प्रधान मार्ग में दिखलाई नही पड़ी, इसीके परिणाम स्वरूप भगवान पार्श्वनाथ द्वारा परिष्कृत श्रमण संस्कृति तथा उनका उपदेशित 'चातुर्याम-धर्म' का देश में खूब प्रचार हुआ। प्रत्येक वर्ग के मानव उसमें दाखिल हुए। सर्व साधारण से लेकर तत्कालीन राजा, महाराजा ने भी उससे लाभ उठाया। भगवान पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् २५० वर्ष तक यही क्रम चलता रहा किंतु काल प्रभाव से पुनः पूर्व परिस्थिति उत्पन्न होने के लक्षण प्रकट होने लगे। मानव समाज पुनः ब्राह्मण-संस्कृति से ऊबने लगा। मानव समाज सामाजिक अत्याचारों से पीड़ित होने लगा। हिंसापूर्ण यज्ञ-यागादि का पुनः प्रचार होने लगा। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी मगध देश के क्षत्रियराजा सिद्धार्थ के यहाँ आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व वर्द्धमान

का जन्म हुआ। अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य करने के कारण उनको महावीर कहा जाने लगा। भगवान महावीर ने अपने ७२ वर्षीय जीवन से पुनः श्रमणसंस्कृति को प्रतिष्ठित किया। तत्कालीन समाजव्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन किए। यदि यह भी कहा जाये कि भगवान पार्श्वनाथ द्वारा उपदेशित मार्ग तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार परिवर्धित तथा परिष्कृत रूप में मानव समाज को दिया उसमें और भी क्रांतिकारी परिवर्तन किए तो अत्युक्ति नहीं होगी। भगवान महावीर ने तत्कालीन प्रचलित विभिन्न मत-मतान्तरवाद का समन्वय करने के लिए मानव समाज को अनेकान्तदृष्टि का उपदेश दिया। इस प्रकार उन्होंने सर्व-धर्म समन्वय के मार्ग को खोला। संक्षिप्त में इस प्रकार कहा जा सकता है कि—

(१) विचार में अनेकान्त (२) वाणी में स्याद्वाद (३)आचार में अहिंसा (४) सामाजिक न्याय में अपरिग्रह।

वास्तव में भगवान को श्रमण संस्कृति को पुनः प्रतिष्ठित करने में अत्यन्त कष्ट पूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ा। भगवान महावीर के समय प्रतिकूल परिस्थिति काफी सबल थी, किंतु उनकी साधनापूर्ण तपस्या मय जीवन ने मार्ग को प्रशस्त कर दिया। उसके परिणामस्वरूप श्रमण तथा श्रावक धर्म मे, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र प्रत्येक प्रकार का मानव दीक्षित होने लगा। उच्च, शिक्षित वेदपाठी, ब्राह्मण, विद्वान, राजा, महाराजा, धनिक, निर्धन सब दीक्षित होने लगे। भगवान महावीर के समय में पूर्ववर्ती भगवान पार्श्वनाथ क अनुयायी श्रमण, श्रावक संघ विद्यमान था। दोनों महापुरुषों द्वारा उपदेशित मार्ग में कुछ साधारण सा अन्तर था। इस कारण भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी केशी मुनि तथा भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर में चर्चा हुई। भगवान महावीर द्वारा उपदेशित अनेकान्तदृष्टि क ही यह प्रताप था कि वह चर्चा अत्यन्त शान्त वातावरण में होकर समन्वय हो सका। इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथ तथा भगवान महावीर द्वारा परिष्कृत श्रमण-संस्कृति आज लगभग तीन हजार वर्षों से अपना कार्य कर रही है तथा मानव की आत्मा को संस्कृत करने में योगदान दे रही है।

इसमें रंच मात्र संदेह नहीं कि श्रमण-संस्कृति के प्रचार में भगवान महावीर के समकालीन बुद्ध का भी पर्याप्त योगदान मिलता है। भगवान बुद्ध स्वयं एक क्षत्रिय राजा के पुत्र थे तथा भगवान महावीर से आयु में कुछ कम थे। भगवान बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य 'शारिपुत्र' से अपने बोध प्राप्ति से पूर्व की जीवनचर्या के सम्बन्ध में तथ्य बतार हैं। उक्त चर्चा पर विचार करने से यह कहा जा सकता हैं कि यह चर्चा जैन स्थविर मुनियों तथा जिनकल्पित जैन

साधुओं की है । इस पर से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि भगवान बुद्ध ने पूर्ववर्ती भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा या अन्य श्रमण संघ की परम्परा में साधु जीवन व्यतीत किया होगा । क्योंकि भगवान बुद्ध के पूर्व बौद्धधर्म की परम्परा भारतवर्ष में रही हो ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है । इस पर से यह अनुमान निकलता है कि भगवान बुद्ध ने उक्त जीवन कुछ वर्षों तक व्यतीत किया । उसके पश्चात् उन्होंने मध्यम मार्ग निरूपित किया । इस सम्बन्ध में केवल एक विद्वान बौद्ध भिक्षुक स्वर्गीय श्री धर्मानन्द कौशाम्बी द्वारा लिखित पुस्तक 'भगवान बुद्ध' मे पण्डित धर्मानन्द कौशम्बी का परिचय आदरणीय काका कालेलकर के शब्दो में उद्धृत करना उचित होगा -

"धर्मानन्दजी इस निर्णय पर पहुंचे थे कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में ही बौद्ध और जैन यह दो धारायें निकली हैं । उ का यह भी अभिप्राय था कि बौद्ध और जैन विचारपद्धति की बुनियाद में जो दार्शनिक जीवनदृष्टि है, उसके स्वीकार करने मे ही समाजवाद और साम्यवाद कृतार्थ हो सकेंगे और मानव जाति का कल्याण करने की साधना आज के मानव के हाथ मे आयेगी" -- ("भगवान बुद्ध" पुस्तक पृष्ठ ६)

भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध के उपदेशों का अनुशीलन किया जाय तो यह तथ्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि उनके उपदेशो मे विशेष अन्तर नही है । उनके द्वारा उपदेशित आधार तथा उनकी भूमिका लगभग एक सी है । यही कारण है कि "उत्तराध्ययन सूत्र" तथा धम्मपद की कुछ गाथायें समान समान हैं । ब्रह्मचारी शीतल-प्रसादजी ने अपने द्वारा लिखित पुस्तक "जैन बौद्ध तत्व ज्ञान" मे यह निरूपित किया है कि दोनों महापुरुषों द्वारा प्ररूपित तत्वज्ञान मे विशेष अन्तर नहीं है । यह प्रश्न अधिक गवेषण का विषय है । जहाँ तक आचार की भूमिका का सम्बन्ध है, दोनों ने उच्च आदर पाया था । यह स्पष्ट है --श्रमण संस्कृति दोनो महापुरुषों के विचारों तथा जीवन से पल्लवित हुई है और इस समय विश्व का कल्याण श्रमण-संस्कृति के उन्नयन से ही हो सकता है । यदि जैन तथा बौद्ध समाज अपने आचार तथा अमल के द्वारा विश्व में दोनो महापुरुषो द्वारा उपदिष्ट उच्च आदर्श का प्रचार करे तो निश्चित रूप से विश्व वर्तमान स्थिति से उभर सकता है । आज के युग की वर्तमान विषमता, घृणा, नफरत का वातावरण प्रेम तथा स्नेह के वातावरण में बदल सकता है । सिद्धान्तो के प्रचार का सबसे उत्तम माध्यम - "अमल" होता है । अमल के बिना केवल वाणी का प्रचार प्रभाव पूर्ण नहीं हो सकता । यही कारण है कि उच्च सिद्धान्तों के प्रचुर प्रचार के बावजूद विश्व में वर्तमान विषमता, घृणा का स्थान स्नेह तथा प्रेम नहीं ले सका ।

भगवान महावीर तथा भगवान् बुद्ध के जन्म के साथ अन्य देशों में भी कुछ प्रभावशाली हस्तियों ने जन्म लिया। उदाहरण के रूप में यूनान में सुक-रात, फारस में जरथुस्त, चीन में लाओत्से तथा कान्फ्युसीयस का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने तत्कालीन समाज में वैचारिक क्रान्ति की। भगवान महावीर के निर्वाण दिवस के अवसर पर यह आशा करना अनुचित न होगा कि समाज अपनी ओर से अमल के जरिये श्रमण-संस्कृति के प्रचार, प्रसार का पूर्ण प्रयत्न करेगा।

सर्वे भवन्तु सुखिन. सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत ॥

१२

श्रमण-संस्कृति की परम्पराएँ तथा आधुनिक युगबोध

डाक्टर बैजनाथपुरी ने संस्कृति तथा सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा कि संस्कृति अभ्यंतर है, तथा सभ्यता बाह्य। संस्कृति का सम्बन्ध निश्चय ही धार्मिक विश्वास से है। हमारे देश में दो सस्कृति मुख्य रही हैं (१) श्रमण संस्कृति (२) ब्राह्मण संस्कृति। यह निर्विवाद है कि ब्राह्मण संस्कृति में यज्ञयाग तथा तज्जनित हिंसा, कर्म काण्ड, जन्मना जाति तथा वर्ण का प्राधान्य था, तथा श्रमण संस्कृति में यज्ञ याग का प्रावधान नहीं था अपितु यज्ञ का तात्पर्य आत्म लक्ष्य किया जाता था। इस कारण यज्ञ से सम्बन्धित हिंसा तथा कर्म काण्ड का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था। किसी भी वर्ण या जाति में उच्चनीच का प्रश्न उसके कर्मों से निश्चित होने का प्रावधान था। तात्पर्य यह है कि श्रमण संस्कृति जैन तथा बौद्ध धर्म से प्रभावित थी तथा ब्राह्मण संस्कृति वेद वेदांग से। जैन साहित्य में "श्रीमद आचारांग सूत्र" का महत्व पूर्ण स्थान है जो भाषाशास्त्र के मत से प्राचीनतम कृति है उसमें बताया गया है कि: –

"जितने तीर्थंकर पूर्व में हुए हैं अथवा भविष्य में होंगे वह सब यही कहते हैं कि सभी प्राणी, सभी भूत, सत्व को दण्डादि से नहीं मारना, उन पर आज्ञा नहीं चलाना, उनको दास की भाँति अपने अधिकार में नहीं रखना। उनको शारीरिक, मानसिक संताप नहीं देना, न उन्हें प्राणों से रहित करना चाहिये। यही धर्म शुद्ध, नित्य तथा शाश्वत है।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि श्रमण-संस्कृति जैन तथा बौद्ध धर्म से अनुप्राणित रही है। जैनधर्म वास्तव में किसी विशेष प्रकार के कर्म काण्ड, रूढियों के पालन का नाम नहीं है। अपितु जैनधर्म मानव ही नहीं, समस्त प्राणि जगत के उद्धार का मार्गदर्शक है। मानव आत्मा के स्वाभाविक गुणों का

विकास करके मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना है। इस कारण उसे विशिष्ट नाम से सम्बोधित किया जाना उचित नहीं है। लेखक के मत में प्राग् ऐतिहासिक काल में उसका कोई विशेष नाम भी नहीं था। उसको "आत्म धर्म" कहा जा सकता था। किन्तु पश्चात्वर्ती युग में उसे 'निर्ग्रन्थधर्म" कहा जाने लगा और बाद में इस कारण कि उसके उपदेष्टा "जिन" थे उसका "जैन धर्म" नामकरण हो गया जो भी हो इतना स्पष्ट है कि वह अनादि, अनन्त है। मानव समाज तथा सृष्टि अनादि है, इसलिये यह "आत्म धर्म" भी अनादि है। फिर भी उपलब्ध जैन साहित्य से श्रमण संस्कृति की परम्परा के सूत्र देखने होंगे। वर्तमान के चौबीस तीर्थंकर "जिन" में सबसे पहले ऋषभदेव का नाम आता है, जो समाज व्यवस्था का सूत्रपात करने वाले प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम धर्मापदेष्टा थे। जैन मान्यता के अनुसार १४ कुलकर तथा वैदिक मान्यता के अनुसार १४ मनु होते हैं। इसमें अंतिम "नाभिराय" थे। (चाहे इन्हें कुलकर कहा जावे या मनु किन्तु दोनों मान्यता में नाभिराय सामान्य हैं) उनके पुत्र ऋषमदेव हैं यह युग इतिहास की पहुँच के परे हैं किन्तु श्रीमद् भागवत के अनुसार ऋषभदेव 'नाभिराय के पुत्र' मोक्ष मार्ग के उपदेशक के रूप में प्रसिद्ध थे। उन्हें "वासुदेव का अष्टम" अवतार माना गया है। ब्राह्मण परम्परा के अन्य साहित्य में भी उनका उल्लेख उच्च कोटिका है। मोटे तौर पर श्रमण संस्कृति का उद्गम ऋषभदेव से कहा जा सकता है। उसके पश्चात् के २० तीर्थंकरों के सम्बन्ध में विस्तृत माहिति नहीं मिलती। किन्तु २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमीनाथ) श्रीकृष्ण के चचेरे भाइ थे और उनका उल्लेख ऋग्वेद आदि में आता है। यूरोपीय कई विद्वानों ने पार्श्वनाथ तथा महावीर की ऐतिहासिकता स्वीकार की है। श्री मेक्समूलर ने अपने ग्रन्थ Sacradbook of the East vol XIV introduction Page 21. में स्वीकार किया है।

"That parsha was a historical persom is admitted by all as very probable.

तात्पर्य यह है कि यह सब महापुरुष श्रमण संस्कृति के उन्नायक रहे हैं।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है ब्राह्मण संस्कृति का मूल आधार यज्ञ यागादि था। जिसको सम्पन्न करने के लिये पशु-हिंसा आवश्यक मान ली गई थी। ब्राह्मणों के द्वारा यज्ञ सम्पन्न होते थे। यज्ञ में हिंसा न मानी जाने का प्रावधान कर दिया गया। (वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति) यज्ञों के लिये कृषि योग्य पशु होम दिये जाते थे। परिणाम यह हुआ कि देश का कृषक

वर्ग दु:खी हो गया। यज्ञकर्ता राजा अपने सैनिकों के द्वारा कृषि उपयोगी पशु पकड़वाकर मंगा लेता और यह अमानवीय कृत्य ब्राह्मणों के निर्देश तथा इशारे पर होता था। परिणामत: जन मानस में ब्राह्मणों के सम्बन्ध में क्षोभ बढ़ गया। यह सत्य है कि जिन ब्राह्मणों के विरुद्ध जन मानस में क्रोध क्षोभ बढ़ा, वह ब्राह्मण संस्कृति के हामी थे। ऐसे कई विचारक ब्राह्मण थे कि जो जन्मना ब्राह्मण होते हुए भी श्रमण संस्कृति के हामी थे या हामी हो गये थे। भगवान महावीर के ११ प्रमुख शिष्य (गणधर) स्वय ब्राह्मण थे जो श्रमण संस्कृति के केवल हामी नहीं, अपितु पुरस्कर्ता भी थे। यह स्पष्ट है कि वेद कालीन ब्राह्मण संस्कृति निवृत्तिगामी थी। ऋषि, मुनि अधिकतर गृहस्थ होते थे। उनके द्वारा की हुई प्रार्थनायें अधिकतर भौतिक समृद्धि के लिये या प्राकृतिक आपत्ति से रक्षा के लिये हुआ करती थी। हम देखते हैं कि उपनिषद् काल में यह क्रम परिवर्तन होता था। ऋषि मुनि आध्यात्मप्रिय आत्म-विद्या में निपुण थे। कई क्षत्रिय आत्मविद्या में इतने प्रवीण थे कि ब्राह्मण उनके पास जाकर शिक्षा प्राप्त करते थे। जैसा कि छांदोग्योपनिषद में अरूणि के पुत्र श्वेतकेतु और प्रवाहण क्षत्रिय के संवाद से स्पष्ट है। इसी प्रकार बृहदा-रण्यक उपनिषद् के ६ ठे अध्याय में राजा प्रवाहण ने आरूणी से कहा कि "इसके पूर्व यह अध्यात्मविद्या किसी ब्राह्मण के पास नहीं रही वह मैं तुम्हें बताऊँगा।" संभवत: यही कारण था कि जन-मानस में उस युग में ब्राह्मण वर्चस्व कम हो गया तथा क्षत्रिय वर्चस्व उत्तरोत्तर तरक्की कर गया। जन मानस ब्राह्मण को आदर की दृष्टि से नहीं देखता था। इसी पृष्ठ भूमि में यह धारणा उत्पन्न हुई कि जैनतीर्थंकर का जन्म ब्राह्मण कुल में न होकर क्षत्रिय कुल में होता है। ब्राह्मण परम्परा में भी वामन तथा परशुराम को छोडकर सब अवतार क्षत्रिय कुल में ही जन्मे थे।

वेदकालीन परिस्थिति में जहाँ मानव का चिन्तन केवल भौतिक समृद्धि के लिए था, उपनिषद् काल में वह चिन्तन कुछ आध्यात्मिक हो गया। स्वर्ग आदि के सम्बन्ध में मानव ने चिन्तन किया किन्तु फिर भी मानव समाज बड़ी तीव्रता से शांति की खोज में था। उपनिषद कालीन आत्मविद्या से भी उसे संतोष नहीं हुआ। मानव समाज का अंतिम लक्ष्य "मुक्ति" था और वह उसकी प्राप्ति के उपाय की खोज में था। कहना न होगा कि आत्मा मूलत: शुद्ध-बुद्ध है। मौलिक रूप से परमात्मा की potentially में कोई भेद नहीं था। केवल भेद यह था कि एक राग-द्वेष आदि बन्धन से युक्त थी तथा दूसरी बंधन मुक्त थी जैसा कि कहा गया है:—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि ।
संसारमाया परिवर्जितोऽसि ॥

× ×

सिद्धां जैसा जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय ।
कर्म मेल का आंतरा, बूझे विरला कोय ।

प्रश्न यह था कि आत्मा राग-द्वेष के बन्धनों से किस प्रकार मुक्त हो । तत्कालीन मानव प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ईश्वर अथवा देवता का अनुग्रह प्राप्त करके इच्छित लक्ष्यपूर्ति का मार्ग जानता था । श्रमण-संस्कृति के प्रथम उद्गाता भगवान ऋषभदेव तथा श्रमण संस्कृति उन्नायक भगवान महावीर ने यह उद्घोष किया कि मानव तुमको किसी ईश्वर या देवता की आवश्यकता नहीं है स्वयं आत्मा शुभ-अशुभकर्म की कर्त्ता है और वही उससे बन्धन मुक्त हो सकती है । तुम ही स्वयं के मित्र तथा शत्रु हो ।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाणा य सुहाणा य ।
अप्पामित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥
अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहाधेणू अप्पा मे नंदणंवणं ॥

तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर ने प्रवाह के विरुद्ध मानव की उच्चता का घोष किया और उसमें आत्म विश्वास जगाया ।

न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ।

उन्होंने कर्म के सिद्धान्त का निरूपण किया तथा स्पष्ट कर दिया कि कर्म फल से संसार का कोई महान व्यक्ति भी नहीं बच सकता । सुकर्म तथा कुकर्म का अन्त होने से ही जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होती है । यूरोपीय विद्वानों ने श्रमण-संस्कृति के उन्नायकों में जिन महापुरुषों की ऐतिहासिकता मानी है उनमें भगवान पार्श्वनाथ प्रमुख हैं । उन्होने आत्मा के कर्म समूह को नष्ट करने तथा शुभ जीवन व्यतीत करने,के लिये 'चातुर्याम धर्म' का प्रतिपादन किया । प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान स्व० श्री धर्मानन्दजी कोसाम्बी ने अपनी पुस्तक 'पार्श्वनाथ का चातुर्याम' की प्रस्तावना में यह स्वीकार किया है कि "आज जो कुछ श्रमण संस्कृति शेष बची है, उसके आदि गुरु पार्श्वनाथ हैं और बुद्ध के समान यह भी श्रद्धेय है । इसी पुस्तक के पृष्ठ १४ में अंकित किया है कि—

"त्रिपिटक में निग्रन्थों का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है । उससे ऐसा दिखाई देता है कि निग्रन्थ सम्प्रदाय बुद्ध से वर्षों से पहले मौजूद था । अंगुत्तरनिकाय में यह उल्लेख पाया जाता है कि बप्प नाम का शाक्य निग्रन्थों

का श्रावक था। उस सुत्त की अनुकथा में यह कहा गया है कि यह बप्प बुद्ध का चचा था। अर्थात् यों कहना पड़ता है कि बुद्ध के जन्म से पहले या उनकी छोटी उम्र में ही निग्रन्थों का धर्म शाक्य देश में पहुँच गया था। महावीर स्वामी बुद्ध के समकालीन थे। अतः यह मानना उचित होगा कि यह धर्म प्रचार उन्होंने नहीं बल्कि उनके पहले के निग्रन्थों ने किया था"।

श्रमण संस्कृति के पुरस्कर्ता भगवान महावीर तथा उनके समकालीन शाक्य-पुत्र गौतम बुद्ध तो थे ही किन्तु लगभग छठी शताब्दि में रचित निशीथचूर्णि में श्रमणों में निग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक आजीवकों की गणना की गई है। आजीवक-सम्प्रदाय भगवान महावीर के समय में मौजूद था और यह कहा जाता है कि निग्रन्थ धर्म तथा आजीवक सम्प्रदाय के आचार एक दूसरे के निकट थे। हालांकि जैन साहित्य में गौशालक को निन्हव बताया गया है। और त्रिराशिवाद को छठा निन्हवमत अंकित किया गया है इसके अनुयायियों को आजीवक मत का अनुकर्त्ता बताया गया है इसके प्रतिष्ठाता कल्पसूत्र के अनुसार आर्य महावीर के शिष्य रोहगुप्त थे। गोशालक के अतिरिक्त पूरण काश्यप, अजितकेशकम्बल, प्रकुधकात्यायन, संजयवेलट्ठि श्रमण संस्कृति के प्रचारक थे। कुछ विद्वानों का मत है कि यह भी जिन कहलाते थे। लेखक के मत में श्रमण-संस्कृति जीवन में सदाचार के उच्चतम नियमों को अंगीकृत करने पर अधिक जोर देती थी। उसमें सैद्धान्तिक बारीकियों तथा उससे उत्पन्न उप-प्रश्नों का अधिक महत्व नहीं माना गया। यही कारण है कि दिगम्बर तथा श्वेताम्बर (जिनमें विस्तार की गई बातों में मतभेद है) दोनों का श्रमण संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि भगवान महावीर के युग में साधु नग्न तथा वस्त्र सहित रहते थे, दोनों के आचार में कुछ भेद भी था। (चाहे उन्हें जिनकल्पी तथा स्थविरकल्पी कहे) दोनों का समावेश भगवान महावीर के शासन में था। दोनों आदर तथा श्रद्धा के पात्र थे। बारह वर्षीय दुष्काल के समय जब कुछ साधु दक्षिण में चले गए तथा कुछ साधु अन्य क्षेत्र में। जब दुष्काल के पश्चात् परस्पर मिलन के समय उच्चत्व तथा निम्नत्व की भावना हुई और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दो परम्परा का आविर्भाव हो गया। वास्तव में यह आश्चर्य का विषय है कि निग्रन्थ धर्म अनेकान्तवाद का हामी होने के कारण परस्पर विरोधी विचारधाराओं का समन्वय कर सकने का दावा करता था उसी के अनुयायी २५०० वर्षों में परस्पर के मतभेदों का समन्वय नहीं कर सके। यह सत्य है कि इस लम्बे काल में कई प्रभावशाली आचार्य हुए, जिन्होंने दूसरी सम्प्रदाय के प्रति उदारता का भाव रखा और इस प्रकार समन्वय का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक हुए

किन्तु सफलता नहीं मिल सकी। यदि हम श्रमण संस्कृति के मुख्य आधारों को लें तो हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँच सकते हैं कि केवल भारतीय धर्म ही नहीं अपितु बाईबिल में भी इसी प्रकार के विचार मिलते हैं। बाईबिल एक महत्व-पूर्ण ग्रन्थ है जिसका प्रभाव केवल पश्चिम जगत ही नहीं, अपितु अरब तथा दूसरे इस्लामी देशों पर भी पर्याप्त रूप से पड़ा है। बाईबिल के अनुसार परमेश्वर (यहोवा) मूसा से पर्वत के शिखर पर से Sermon of the mount ......, यह आदेश दिया है जिन्हें New testament. कहा जाता है। इस दस आज्ञाओं का अवलोकन करें, तो यह ज्ञात होगा कि इनमें से कई हमारी श्रमण संस्कृति के मूलाधार जैसी ही हैं।

वास्तव में श्रमण संस्कृति अहिंसाप्रधान, कर्मप्रधान तथा पुरुषार्थप्रधान रही है जैसा कि इस लेख के पूर्वार्द्ध में बताया गया है। इस संस्कृति का मूलाधार अहिंसा है, वह अहिंसा केवल नकारात्मक नहीं, अपितु विधेयात्मक भी है। जहाँ वह हिंसा न करने का प्रावधान करती है वहीं समस्त प्राणि जगत से, मैत्री, करुणा प्रमोद का उपदेश देती है उसका मूल मंत्र है—

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देवः॥

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि अहिंसा केवल प्राणी के प्राण नाश करने तक ही सीमित नहीं है अपितु आर्थिक क्षेत्र में अर्थ जन्य द्वेष, ईर्ष्या आदि को समाप्त करने के लिये अपरिग्रह (इच्छा परिमाण व्रत) को उपदेशित करती है। अपने रहन-सहन में सात्विकता हो, आवश्यकतायें सीमित हों इसके लिए उपभोग, परिभोग,परिमाण व्रत का विधान किया गया। तात्पर्य यह है कि मानव समाज में शोषण की वृत्ति न रहे, इसी प्रकार अनेकान्तवाद का विधान करके बौद्धिक अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया। श्रमण-संस्कृति के प्रभाव के सम्बन्ध में एक बार स्व० लोकमान्य तिलक ने कहा था कि ब्राह्मणों पर जैनों की अहिंसा का बहुत प्रभाव पड़ा है। यह एक प्रसिद्ध घटना है कि जैनों के २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमीनाथ) जब विवाह के लिये पहुँचे, उन्होंने वहाँ एक पशु गृह में पशुओं की आर्त्तपुकार सुनी तथा जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि यह अतिथियों के भोजन के लिये वध किये जावेंगे तब वापस हो गये। विवाह अस्वीकार कर दिया। सहस्रों वर्ष पुरानी इस घटना ने सौराष्ट्र के जन-जीवन में अहिंसा का जो बीजारोपण किया उसकी झाँकी आज भी वहाँ देखी जा सकती है। सौराष्ट्र में पशु-पक्षियों की शालायें आज भी देखी जाती हैं तथा, जैनेतर लोग उत्साहपूर्वक पशु-रक्षा करते हैं। यह भी एक सुविज्ञ बात

है कि हमारे देश के जनजीवन में अभी भी शाकाहार को उत्तम मानते हैं। यह जैन अहिंसा का प्रभाव है, हालाँकि गत कुछ वर्षों की परिस्थिति तथा विरुद्ध प्रचार के कारण स्थिति में परिवर्तन होता जा रहा है किन्तु एक बात बिना संकोच के स्वीकार की जानी चाहिये कि अहिंसा (प्राणीवध) के अतिरिक्त अनेकान्त, अपरिग्रह, जाति-प्रथा आदि (जो श्रमण संस्कृति के मूलाधार थे) पर स्वयं जैन समाज ने अधिक जोर नहीं दिया। परिणाम यह है कि श्रमण-संस्कृति को मजबूत नहीं बनाया जा सका। केवल जैन समाज के ही कई विभाग, भाग-उपविभाग हो गए, कोई खाई को नहीं पाट सका। अपरिग्रह की तो विडम्बना है। लेखक के विदेशी मित्र ने उससे व्यंग्य पूर्ण जिज्ञासा की कि अपरिग्रह का उपदेश देने वाले जैन धर्म के अनुयायियों (जैन साधु नहीं) गृहस्थों में अपरिग्रह का कोई आकर्षण नहीं है। कर्मणा जाति का उद्घोष करने वाले महान पुरुष की वाणी पर समाज ने कोई अमल नही किया। तात्पर्य यह है कि हमें इस दिशा की अपनी असफलता स्वीकार करनी चाहिये।

यदि यह कहा जावे तो अत्युक्ति न होगी कि हम में वैचारिक-जड़ता इतनी आ चुकी है कि भगवान पार्श्वनाथ, महावीर, बुद्ध जैसे महान् क्रान्तिकारी महा पुरुषों के अनुयायी होने के बावजूद हम लकीर के फकीर हो चुके हैं। संस्कृति वास्तव में विकृत होती जा रही है। हमारे मन-मस्तिष्क में कोई नया उन्मेष नहीं होता। इस विकृत परिस्थिति में आधुनिक युग की समस्याओं से जूझने, उसका हल निकालकर मानव जाति का उत्थान करने की क्षमता नही रही है। साधुसमाज की स्थिति बड़ी विचित्र होती जा रही है। हम शब्द (जड़) के गुलाम होते जा रहे हैं। उन शब्दों के पीछे जो भावना (Spirit) है, उसको देखकर प्रेरणा प्राप्त करने का हम में साहस नहीं रहा है। अच्छे बुरे, पाप पुण्य का निर्णय बाह्य परिस्थिति से करके धर्मी तथा पापी होने का प्रमाण पत्र दे देते हैं, जब कि श्रमण संस्कृति में अंतर्वृत्ति पर अधिक जोर दिया जाता रहा है यदि श्रमणसंस्कृति को तारुण्य प्रदान करना है तो आधुनिक समय के Challange को स्वीकार करके समस्याओं का हल निकालना होगा। आज समस्या केवल व्यक्तिगत जीवन की नहीं अपितु समाज के जीवन की है, राष्ट्र के जीवन की है। समाज तथा राष्ट्र में व्याप्त विषमता मिटाकर समता प्रस्थापित करना होगा, जो कि श्रमण के जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। जैन ग्रन्थों में कहा गया है कि—

समयाए समणो होई बंभचेरेण बंभणो।
नाणेणय मुणि होई, तवेण होई तावसो॥

काश! हम सब जैन, बौद्ध तथा और जो श्रमण-संस्कृति के उन्नयन के इच्छुक हैं, सोच कर व्यापक कार्य प्रारम्भ करें।

१३

अनेकान्त को चरितार्थ करें

जैन साहित्य एक विशाल समुद्र है। यदि इस विशाल जैन साहित्य का अन्य भारतीय दर्शनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो मनुष्य को आनन्द की जो उपलब्धि, अनुभूति होगी वह अकथनीय है। जितना गहन अध्ययन होगा, उतना ही मनुष्य अनेकान्त, स्याद्वाद एवं समन्वय के निकट पहुँचेगा—ऐसा मेरा विश्वास है। अनेकान्त एक विचारपद्धति है। इस विचार पद्धति के परिणामस्वरूप उत्पन्न विचार को जिस भाषा में व्यक्त किया जाय वह स्याद्वाद है। सबका मूल लक्ष्य समन्वय है।

मेरा यह विश्वास है कि अखिल जैन समाज ने अनेकान्त विचार-पद्धति को केवल सैद्धान्तिक ज्ञान बनाए रखा। यदि दृढ़ता से उसका आचरण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किया गया होता तो अखिल जैनसमाज वर्तमान विशृंखल अवस्था में नहीं होता। गत दो सहस्राब्दि का इतिहास बड़ा ही करुणापूर्ण है। जैन समाज की विशृंखल अवस्था इस बात का प्रमाण है कि हमारी अनेकान्त पर केवल शाब्दिक आस्था है। मेरी हार्दिक कामना है कि वर्तमान तथा भावी पीढ़ी इस दिशा में गहन अध्ययन करें, समन्वय के द्वारा सगठित अखिल जैन समाज का निर्माण हो।

१४
साम्प्रदायिकता का विष-वृक्ष

'अग्नि-परीक्षा' से संबंधित रायपुर-घटना पर एक प्रकट चिन्तन

साम्प्रदायिकता का विष-वृक्ष ऐसा है कि अतीत में जिसने यूरोप में ईसाई समाज के दो सम्प्रदायों रोमन केथोलिक तथा प्राटेस्टेट के बीच कई अमानवीय घटनाएं घटित कराईं। हमारे देश में मुसलमानों के दो सम्प्रदायों शिआ और सुन्नी के बीच झगड़े कराए। यही नहीं, सनातन धर्म तथा जैन-बौद्धों के बीच तथा स्वयं जैन समाज के दो सम्प्रदायों-श्वेताम्बर व दिगम्बर के बीच इसी प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति कराई। तात्पर्य यह कि हमारे देश का ही नहीं, अपितु विश्व का इतिहास साम्प्रदायिकता की बर्बर तथा अमानवीय घटनाओं से भरा पड़ा है। अतीत में जब हमारे देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते थे, तब हम विदेशी सत्ता को सारा दोष देकर संतोष कर लेते थे, किन्तु स्वतन्त्र भारत में भी जब इस प्रकार की घटनाएं घटित होती हैं तब किसे दोष दिया जावे ? यदि सच पूछा जाये तो आज तो शुद्ध साम्प्रदायिकता अपना करिश्मा दिखला रही है। २५-२६ वर्ष की आयु के स्वतन्त्र भारत ने साम्प्रदायिकता के कई मोड़ देखे हैं।

जहाँ तक मैं सोचता हूं, साम्प्रदायिकता धर्म का बाना पहन कर आती है और मेरा यह भी विश्वास है कि सार्वभौम धर्म एक ही है। 'धर्म' शब्द की चाहे जितनी परिभाषाएं की जाएं, पर धर्म एक उच्च स्तर के सदाचार युक्त जीवन का नाम है। वह सार्वभौम के साथ सार्वदेशिक भी है, किन्तु जब धर्म के साथ दर्शन का मेल कर दिया जाता है तब वहीं धर्म सार्वभौम तथा सार्वदेशिक नहीं रह जाता। उसमें मत भिन्नता हो जाती है तथा पृथक-पृथक हो जाते हैं और उनकी सुरक्षा के लिये यम, नियम, वेष आदि बनाकर उसे सम्प्रदाय का रूप दे दिया जाता है। वैसे देखा जावे तो जो धर्म उदार दृष्टिकोण का हामी था, वही धर्म देश के संकुचित सम्प्रदाय का हामी बन जाता है।

उदाहरण के तौर पर प्रत्येक मनुष्य को यदि वह उच्चस्तर का सदाचार-युक्त जीवन व्यतीत करता है, चाहे वह किसी विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित न हो तब भी मोक्ष मार्ग का पथिक माना जाना चाहिए किन्तु सम्प्रदायानुमोदित धर्म यह व्यवस्था बताता है कि इस प्रकार का व्यक्ति जब तक विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित न हो, स्वर्ग या मोक्ष में प्रवेश नहीं कर सकता। आपद्धर्म या दूसरे नंबर की बात मानकर इसे भी बर्दाश्त किया जा सकता है, किन्तु जब एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय पर आक्रमण करे, उसके मान्यता, विश्वास को नष्ट करने पर उतारू हो जावे या साम्प्रदायिकता के मद में दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायियों को केवल इस कारण कि वह एक विशिष्ट सम्प्रदाय से सम्बन्धित है, कष्ट दे, उनके साथ अमानवीय व्यवहार करे तो यह स्थिति किसी विशेष देश के लिये ही नहीं, अपितु सारी मानवता के लिये कलंक है। दुर्भाग्य से केवल अतीत ही नहीं, वर्तमान भी इसी साम्प्रदायिकता के अभिशाप से कलुषित है और स्वतन्त्रता के २३ वर्ष पूरे हो जाने पर भी साम्प्रदायिकता के कारण न देश में शांति है और न देश मजबूती अनुभव करता है। जब साम्प्रदायिकता के साथ राजनीतिक लोग मिल जाते हैं, तब तो स्थिति भयंकर हो जाती है। राजनीतिक लोग अवसर पाकर साम्प्रदायिकता का नाम लेकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। प्रारम्भ में रायपुर की घटना में जो भी कारण रहे हों, किन्तु गत २ मास से म० प्र० राज्य का एक नगर रायपुर इसी साम्प्रदायिकता की ज्वाला में धधक रहा है। सब जानते हैं, आचार्य श्री तुलसीजी एक जैन सन्त हैं, अपरिग्रही हैं तथा सार्वधर्म-समन्वय की भावना में विश्वास रखने के साथ ही स्याद्वादी वृत्ति के हामी हैं। कहा जाता है कि उन्होंने वर्षों पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में रचित किसी ग्रन्थ के आधार पर 'अग्नि-परीक्षा' नाम की पुस्तक लिखी जो काफी वर्ष पूर्व प्रकाशित हो गई थी। उक्त पुस्तक में भगवती सीता के चरित्र का चित्रण है और उनका चरित्रबल ऊँचे दर्जे का होना निरूपित किया गया है। किन्तु नगर के कुछ महानुभावों की नजर में इस पुस्तक में भगवती सीता का चरित्र-चित्रण किसी विशिष्ट धर्म के अनुयायियों की धार्मिक भावना को ठेस पहुंचाने के लिये किया गया है। जहाँ तक मैं आचार्य श्री को जानता हूँ, वे जैन धर्म के आदर्श पुरुषों के प्रति आदर सम्मान की भावना अधिक रखें- यह तो हो सकता है, जैसे कि कोई पुत्र स्वयं के पिता के प्रति अधिक आदर रखे, किन्तु आचार्य श्री से यह संभव नहीं है कि वे अन्य आदर्श पुरुषों का अनादर करें या उनके मन में उनके प्रति अनादर की भावना हो। परिणाम यह है कि रायपुर में इस बात को लेकर राजनीति पूर्ण साम्प्रदायिकता ने अपना करिश्मा दिखलाकर अशांति उत्पन्न कर रखी है। यदि

समाचार पत्रों में प्रकाशित रिपोर्ट सत्य है तो यहां की स्थिति भयानक है। इस पर आचार्य ने यह संतोष कराने का प्रयत्न किया है कि प्रस्तुत पुस्तक एक प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर काफी समय पूर्व लिखी गई थी, उसमें भगवती सीता के चरित्र के बारे में कोई अनुचित बात नहीं है और फिर वह एक लोक गीतों के रूप में लिखी गई है। किन्तु भोली जनता सन्तुष्ट न हो सकी तब स्थिति को टालने के लिये आचार्य श्री ने यह भी तत्परता बताई कि देश के निष्पक्ष विद्वान आचार्य बिनोवाजी, काका कालेलकर आदि जो निर्णय देंगे, उन्हें वह स्वीकार होगा। इस पर भी जन-मानस शान्त नही हुआ तब चातुर्मास काल मे ही रायपुर से विहार करना तय किया, हालांकि मध्यप्रदेश के युवा मुख्यमन्त्री के आग्रह पर उन्होने अपना इरादा कार्यान्वित नहीं किया। फिर भी वहां की स्थिति शान्त नहीं हुई। एक उर्दू कवि के मुताबिक आचार्य तुलसी की स्थिति इस प्रकार है:—

न तड़पने की इजाजत है न फरियाद की है,
घुट के मर जाऊं ये मरजी मेरे सय्याद की है।

स्थिति की भयानकता इन दो मास की घटनाओं से भली भांति जानी जा सकती है। यहां उनकी अर्थी निकालकर जलाई जाती है। अन्य साध्वियों के निवास-स्थान में आग लगाने का प्रयत्न किया जाता। रायपुर के उस क्षेत्र में धारा १४४ साधारण बात हो गई हैं। प्रश्न यह है कि क्या रायपुर में कोई बुद्धिवादी, निष्पक्ष, सरल-मना व्यक्ति नही है कि जो आन्दोलनकर्ता सज्जनों को यह विश्वास दिला सके कि 'अग्नि-परीक्षा' पुस्तक धार्मिक भावना को ठेस पहुंचाने के लिए नहीं लिखी गई है। जिन विद्वानों ने जैन पौराणिक कथा साहित्य का अध्ययन किया है, वे भली-भांति जानते हैं कि जैन कथा साहित्य में भगवान राम का स्थान उच्चस्तर के महापुरुषों में 'बलदेव' के रूप मे है तथा भगवती सीता का स्थान १६ सतियों में है। ऐसी दशा में यह सम्भव नहीं कि भगवती सीता के सम्बन्ध में कोई अपमानजनक बात एक आचार्य द्वारा लिखी जावे, यह तथ्य भी विद्वानों से छिपा नहीं है। वैष्णव, शैव तथा अन्य पौराणिक कथा वस्तुओं से जैन पौराणिक कथा वस्तु कुछ भिन्न है। यह भिन्नता तो महर्षि वाल्मीकि-कृत रामायण तथा संत तुलसीदास कृत रामायण में भी दृष्टिगोचर होती। खैर, ऐसा लगता है कि रायपुर का निष्पक्ष सरल-मना बुद्धिजीवी मौन है। या तो वह जनसाधारण के इस आन्दोलन से अलिप्त रहना चाहता है, मौन दर्शक रहकर तमाशा देखता है या वह जनसाधारण के इस आन्दोलन में स्वयं नहीं होना चाहता। जो भी हो, रायपुर का बौद्धिक वर्ग आज कसौटी पर है।

रायपुर के इस उग्र राजनीति पूर्ण साम्प्रदायिक आन्दोलन की तीव्रता को अनुभव करके शायद आक्रोश को शान्त करने के लिये मध्यप्रदेश शासन ने भारतीय अपराध संहिता की धारा २९५-ए के तहत उक्त पुस्तक को जब्त घोषित कर दिया है।

यह भी समाचार है कि कुछ सज्जनों ने मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय में इस शासन आदेश को चुनौती दी है। उसका जो परिणाम हो, किन्तु वह रोग का उपचार नहीं है। रोग का असली उपचार यह है कि रायपुर का प्रबुद्ध वर्ग जनसाधारण को उक्त पुस्तक के मजमून तथा भगवती सीता के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण से सन्तुष्ट करावे।

सच यह है कि आज रायपुर में आचार्य तुलसी की पुस्तक की 'अग्नि-परीक्षा' नहीं हो रही है, अपितु मानवता, सज्जनता की 'अग्नि-परीक्षा' हो रही है। समाचार पत्रों में एक समाचार यह भी है कि रायपुर में आचार्य तुलसी के विरुद्ध मोर्चे के नेताओं के भाषणों की जांच की जा रही है, और सम्भवतः उन पर मुकद्दमा चलाया जाये। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, इन सब कार्यवाहियों से रायपुर में शान्ति नहीं हो सकती, अपितु मनमुटाव ही बढ़ेगा। शासन द्वारा जब्ती का आदेश निकालना या वहाँ के आन्दोलनी नेताओं पर मुकदमा चलाना, यह परस्पर मनमुटाव का कारण रहेगा। सारी आशा का केन्द्र रायपुर के असाम्प्रदायिकवृत्ति के प्रबुद्ध नागरिक हैं, वह नगर में ऐसा वातावरण बनावें कि जिससे वहाँ परस्पर सद्भाव की वृद्धि हो, अन्यथा वहाँ उर्दू के एक कवि के मुताबिक :—

बस एक रह गई थी मजहबे इन्सानियत की बात,
बाफज्ले खुदा वह भी आज जुर्म हो गई।

अभी ४–५ दिन पूर्व ही जो घटना घटी है, वह रायपुर के लिए कलंक है। यह आवश्यक है कि इस आन्दोलन के प्रमुख सज्जन उससे अपना सम्बन्ध न होना कहके इसे असामाजिक तत्वों द्वारा किया गया उपद्रव बताएँ, किन्तु आसनी से किसी समझदार को यह समझ में आ सकता है कि कोई भी आन्दोलन चाहे वह शुद्ध तथा सत्य बातों पर आधारित हो, तब भी नगर का असामाजिक तत्व अवसर मिलते ही उस पर छा जाता है और तब वह हिंसा की ओर मुड़ जाता है। इस कारण आन्दोलनकर्ता नेतृत्व तो इस सम्भावना को ध्यान में रखकर इस स्थिति की रोक के लिये उपाय सोच कर कुछ कदम उठाना चाहिए। दुर्भाग्य से रायपुर में जो कुछ हुआ, वह अत्यन्त शर्मनाक है तथा धर्म की हत्या हुई है। हमारा मस्तक ग्लानि से झुक जाना चाहिए। आचार्य

श्री तुलसी एक आध्यात्मिक सन्त है। मैं अधिक प्रसन्न होता यदि वह मध्य-प्रदेश शासन से यह आग्रह करते कि हमको पुलिस संरक्षण की आवश्यकता नहीं है। किन्तु किसी बड़े व्यक्तित्व की कठिनाइयों से मैं परिचित हूँ। उन्होंने सम्भवत: शासन या जिला प्रशासन की जिम्मेदारियों को ध्यान में रखकर ऐसा आग्रह नहीं किया। यदि ऐसा आग्रह किया जाता और उनको कोई शारीरिक हानि पहुँचा दी जाती तो जिला प्रसासन तथा शासन की स्थिति भयानक हो जाती। इस कारण उनका इस प्रकार का आग्रह न करना उचित ही रहा है। अब ताजा समाचार यह है कि आचार्य श्री तुलसीजी ने रायपुर नगर से बिहार कर दिया है। रायपुर नगर ही नहीं, पूरे मध्यप्रदेश ही नहीं, अपितु देश के प्रबुद्ध नागरिकों के सामने यह घटना एक प्रश्न चिन्ह छोड़ गई है कि हमारे देश में वैचारिक-सहिष्णुता कितनी कम है, और तथाकथित नेतागण अपने लाभ के लिए जनसाधारण का उपयोग उसको भ्रम में डालकर कितना ले सकता है तथा नगर की शान्ति को कितनी अधिक सीमा तक भंग करा सकता है।

आशा है कि देश का विचारक वर्ग इस स्थिति के लिये गहराई से सोचकर कोई मार्ग निकालेगा तथा देश का नेतृत्व इस प्रकार की घटना की पुनरावृत्ति न हो, इस दिशा में सक्रिय रूप से सोचेगा।

१६

जापान में भारतीय संस्कृति

मैंने सन् १९५६ में 'अनाई नोबमों' द्वारा आयोजित विश्वधर्म सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये 'जापान यात्रा' की थी। मुझे यह स्वीकार करना चाहिये कि 'जापान यात्रा' के सीमित-निवास में जितना गहन अध्ययन इस दिशा में करना चाहिए उतनी गहनता से अध्ययन समय की कमी के कारण नहीं हो पाया किन्तु दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि जापान के इस संक्षिप्त निवास काल में शहर तथा ग्रामीण जीवन की झांकी मेरे हृदय पटल पर आज भी अंकित है। उससे यह तो निश्चित है कि जापान की संस्कृति हमारी संस्कृति से पूर्व में निश्चित रूप से प्रभावित हुई है।

भारतवर्ष से पूर्व में जापान देश प्रशान्त महासागर में एक द्वीप है, विश्व के मानचित्र में आप यह देखेंगे कि जापान लम्बाई में अधिक तथा चौड़ाई में कम है। जापान सुदूर पूर्व के देशों में गिना जाता है उसे सूर्य का देश कहा जाता है। कहा जाता है कि जापान का प्राची नाम 'ब्रह्मनोवमो' था। जापानी भाषा में 'नवमों' शब्द का अर्थ 'धर्म' था। जापान की प्राचीन राजधानी 'नारा नगरी' थी। मैंने जापान यात्रा में 'नारा नगर' का अवलोकन किया है उक्त नगर की बसाहट हमारी प्राचीन संस्कृति के मुख्य नगर 'बनारस' जैसी है। जापान की वर्तमान राजधानी 'टोकियो' में मैंने एक मन्दिर का अवलोकन किया और ज्ञात होता था कि स्वर्ग के अधिपती 'इन्द्र' के देवालय है जिसके प्रवेश द्वार पर 'हनुमान' जैसी प्रतिमा द्वारपाल के रूप में स्थित है। इसी नगर में 'शारदा' जैसी मूर्ति विद्यमान है। भारतीय जीवन में सरस्वती शारदा, कला विद्या की अधिष्टात्री देवी मानी जाती है। जापान में शारदादेवी का अन्य नाम प्रचलित है। कई स्थानो पर 'यमराज' भी दृष्टिगोचर होते हैं जिसे 'अेम्मा मासा' कहा जाता है। पृथ्वी, सोम, वरुण, वायु आदि देवता भी इस देश में देखे जा सकते हैं। इन्हीं निर्दिष्ट तथ्यों के आधार पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा

सकता है कि प्राचीनकाल में जापानवासी ब्राह्मण धर्म से अवश्य प्रभावित रहे हैं।

लगभग पांच वर्ष हो जाने के पश्चात् भी मेरे मानस पर जापान वासी सज्जनों का आतिथ्यभावी होने की स्पष्ट छाप अंकित है। मुझे आज भी स्मरण है जब मैंने रात्रि के ३॥ बजे हवाई अड्डे पर उतर कर शासकीय औपचारिकता पूर्ण की और मुझे मेरे एक जापानी आतिथ्य के मकान पर ले जाया गया तो उस समय जो भावभीना स्वागत तथा उसका ढंग था निश्चयरूप से भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत था। लगभग ४ बजे रात्रि को अतिथि के कुटम्बीजन मकान पर मेरी प्रतीक्षा करते हुए बैठे थे। गृहप्रवेश करते ही भावभीना स्वागत किया। जापानी घरों में साधारणतया जूते सहित नहीं जाते। मकान की देहली के बाहर चप्पल रखी रहती है जिसको पहन कर मकान में घूमा जा सकता है। उसके स्थान पर अपने जूते निकाल कर रख दिये जाते हैं शौचालय में जाने के लिये कपड़े बदलना होता है, मकान में सुन्दर चटाई बिछी रहती है जिसके बीच में एक तिपाई रखी रहती है जो पढ़ने तथा लिखने तथा भोजन पात्र रखने के उपयोग में आती है। जापानवासी स्वभाव से नम्र, विनयी होते हैं। यह अभिवादन के समय शरीर का आधा भाग झुकाते हैं। स्वच्छता प्रिय होते है। इसमें संदेह नहीं कि वहां का पुरुष वर्ग वेश-भूषा में पाश्चात्य वेषभूषा अपनाता जा रहा है किन्तु महिला वर्ग आज कल भी अधिकतर भारतीय परिधान साड़ी पहनती हैं। उन्हें कृष्णवर्ण की साड़ी अधिक प्रिय होती हैं। तात्पर्य यह है कि जापान में गृह का वातावरण जापानवासियों का व्यवहार भारतीय रहन-सहन से अधिक निकट है उनकी सभ्यता प्राचीनकाल के भारतीय सभ्यता से निश्चय रूप से अनुप्राणित रही है।

इसमें सन्देह नहीं कि विद्वद्वर्ग की खोज का यह विषय है कि वह भारत जापान सम्बन्धों के इतिहास की खोज करके प्रामाणिक रूप से तथ्यों को विश्व के सन्मुख रखें।

नवम आयाम

जीवन-दर्शन

(१) महात्मा गांधी : जीवन दर्शन
(२) आचार्य आत्मारामजी महाराज का जीवन-दर्शन

१

महात्मा गांधी : जीवन-दर्शन

यह शंका से परे तथ्य है कि महात्मा गांधी एक असाधारण महापुरुष थे। यह तथ्य अंग्रेज साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासक तथा उच्चाधिकारी भी स्वीकार करते थे, गांधीजी का जीवन एक खुली पुस्तक होते हुए भी उनके जीवन दर्शन का सर्वमान्य भाष्य कर सकना असम्भव नहीं हो तो मुश्किल अवश्य है। देश के प्रसिद्ध उद्योगपति श्री घनश्यामदास बिड़ला द्वारा लिखित पुस्तक 'बापू' में आदि वचन में स्व० श्री महादेव देसाई ने लिखा था कि एक बात और, जैसे गीता सबके लिये एक खुली पुस्तक है उसी तरह गांधीजी का जीवन भी एक खुली पुस्तक कहा जा सकता है। गीता को बड़े-बड़े विद्वान तो पढ़ते ही, हजारों श्रद्धालु लोग भी, जो प्राय: निरक्षर होते हैं, उसे प्रेम से पढ़ते हैं। गांधीजी के जीवन की विशेषता उनकी आत्मकथा की भी यही बात है। जैसे गीता, सबके काम की चीज है वैसे गांधीजी भी सबके काम के हैं। गीता के बड़े विद्वान अधिक लाभ उठाते हैं, या निरक्षर किन्तु श्रद्धालु भक्त अधिक, यह विचार योग्य प्रश्न है। यही बात गांधीजी के विषय में भी है। उनके जीवन को, उनके सिद्धान्तों की, समझने के लिये न तो विद्वत्ता की आवश्यकता है, न लेखन शक्ति की। उसके लिये तो हृदय चाहिये, सत्यशीलता चाहिये। वास्तव में गांधीजी का जीवन इतना सर्वतोमुखी था कि वह जन-जीवन की प्रत्येक समस्या को छूता था। गांधीजी केवल कट्टर सिद्धान्तवादी ही नहीं थे किन्तु सिद्धान्तवादिता के साथ तात्कालिक प्रश्न भी वह अपने वैचारिक दृष्टिकोण में रखकर निर्णय करते थे। यदि इसको अधिक स्पष्टता के साथ कहा जा सके तो यह कहा जा सकता है कि उनके जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप में सिद्धान्त और व्यावहारिकता का आजीवन मिश्रण था दूसरे शब्दों में वह Practical Idealist (व्यावहारिक आदर्शवादी) थे।

पूज्य गांधीजी का प्रारम्भिक जीवन वैष्णव तथा जैन धर्मावलम्बियों के वातावरण से अनुप्राणित था, उन्होंने अपने को आजीवन कट्टर हिन्दू होने का दावा किया, किन्तु उनका हिन्दुत्व बंधे-बंधाये सिद्धान्तों या रूढ़ियों के फ्रेम में आबद्ध नहीं था। उनका उदार हिन्दुत्व, अन्य धर्मावलम्बियों तथा जातियों से ही नहीं, विश्व के समस्त मानव-जीवन के प्रति उदार व्यवहार रखने के लिये प्रेरणा देता था। उन्होंने जनवरी, सन् १९२८ में Federtion of International fellowship में भाषण देते हुए घोषित किया था कि :—

After long study and experience I have come to These conclusions.

(i) All religions are true.

(ii) All religions have some error in them.

(iii) All religions are almost dear lover as my own Hinduism.

उपरोक्त उद्धरण गांधीजी के 'सर्व धर्म-समभाव' की भावना का स्पष्ट दिग्दर्शन कराता है। गांधीजी के प्रारम्भिक जीवन के धार्मिक वातावरण तथा विभिन्न धर्मग्रन्थों के अध्ययन के परिणामस्वरूप निश्चित विचारसरणि ने उनके व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन में जबरदस्त छाप डाली। यह तथ्य सर्व विदित है कि गांधीजी अपने व्यक्तिगत जीवन में धार्मिक सिद्धान्तों का कड़ाई से पालन करते थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि "विश्व का कोई व्यक्ति धर्म के बिना जीवित नहीं रह सकता"। वह अपने जीवन में चीनी दन्तकथा पर आधारित तीन बन्दरों को अपना गुरु बताकर प्रेरणा लेते थे जिसका पृथक-पृथक सिद्धान्त था कि (1) Speak no Evil (2) Hear no Evil (3) See no Evil.

वह स्वयं इन बातों पर कड़ाई से अमल करते रहे। गांधीजी को ईश्वर पर अटूट श्रद्धा थी। उनकी प्रातःकालीन तथा सन्ध्याकालीन प्रार्थना जीवन का अभिन्न अंग थी किन्तु उनका ईश्वर 'सत्य' था। सत्य ही ईश्वर है यह उनका वाक्य था। गांधीजी ने धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता को सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट करायी। उनके निकट राजनीति भी धर्म का एक अंग थी इस कारण गांधीजी की राजनीति भी धर्म का एक अंग थी उन्होंने Spiritualization of politics किया। एक मित्र के कथनानुसार जो राजनीति पश्चिमी देशों में वैश्या का जीवन बिताती थी उसको गांधीजी ने स्वयं के अपने तप तथा साधना द्वारा सती-साध्वी बना दिया। उनके निकट राजनीति में भी नैतिक तथा अध्यात्मिक पक्ष सन्मुख रहता था। यही कारण है कि ब्रिटिश शासक तथा उच्च अधिकारी उनकी प्रामाणिकता पर विश्वास करते थे।

जैसाकि ऊपर लिखा गया है, गांधीजी कट्टर सिद्धान्तवादी होते हुए भी व्यावहारिक थे। यदि तात्कालिक समस्या के कारण सिद्धान्त की मूल आत्मा को हानि पहुँचाये बिना Adjustment किया जा सकता हो तो वह तैयार रहते थे। यही कारण है कि कभी-कभी ब्रिटिश शासकों, उच्च अधिकारियों विदेशियों, आलोचकों को उनके कार्य कलाप में विरोधाभास दृष्टिगोचर होता था। अमेरिका के एक ग्रन्थकार श्री गुंथर ने एक बार लिखा था कि "महात्मा गांधी में ईसा मसीह, चाणक्य और बापू का अद्भुत सम्मिश्रण है। बुद्ध के बाद वह सबसे महान व्यक्ति है। उनसे अधिक पेचदार व्यक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह ऐसे व्यक्ति हैं जो किसी तरह पकड़ में नहीं आ सकते। यह कुछ में अनादर भाव से नहीं कह रहा हूँ। एक साथ महात्मा, राजनीतिज्ञ, अवतार और प्रतापी अवसरवादी होना यह मानवी नियमों का अपवाद या अवज्ञा है।" —'बापू' पुस्तक पृष्ठ १४

यदि हम गहराई से विचार करें तो इस प्रकार की कल्पना उन व्यक्तियों की है जिन्होंने गांधीजी का जीवन उनके कार्य कलाप केवल दोष दर्शन (Fault finding) के लिये ही देखे हों। यदि हम उनके जीवन के सिद्धान्त तथा कार्य-कलाप के तथकथित विरोधाभास के पीछे जो दार्शनिक तत्व, रहस्य भरा रहता था, उस पर विचार करें, एक सहृदय, (सत्यशीलता जैसाकि श्री महादेव देसाई ने अपेक्षा की है) के आधार पर विश्लेषण करें, तो उपरोक्त भ्रम दूर हो सकता है। यदि हमने गांधीजी को एक ऐसा महापुरुष मान लिया हो जिसकी प्रत्येक बात अपरिवर्तनीय हो, चाहे कैसी परिस्थिति हो वह अपनी लकीर से (रामायण की भाषा में लक्ष्मण-रेखा से) वे बंधे बंधाये उसूलों से इंच भर भी नहीं हटे तो हमें अपनी भूल सुधारनी होगी। गांधीजी सतत गत्यात्मक, परिवर्तनशील प्रगति के पथ पर चलने वाली महान आत्मा थे जिसने अपने युग में केवल इस देश को नहीं, सारे विश्व को अनुप्राणित किया है।

गांधीजी एक संत, समाज-सुधारक, राजनीतिज्ञ, सेवा-भावी, चिकित्सक (निसर्गोपचारी) थे। उनका सारा जीवन अनासक्तिमय था। कर्मयोगी का जीवन था, यही कारण है कि विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों में उलझे रहने के बाद भी निवृत्त जैसे थे। अपने जीवन में ही 'जीवन-मुक्तता' अनुभव करते थे। यदि गांधीजी के जीवन दर्शन को संक्षिप्त में कहा जाये तो यह कहना काफी होगा कि उनके जीवन का दर्शन (Philosophy) धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित अनासक्तता था।

काश ? गांधी जन्म-शताब्दी के इस ऐतिहासिक वर्ष में हम उनके जीवन की दार्शनिकता को रंचमात्र भी अपनाकर अपने को आलोकित कर सकें। ●

२

आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज का जीवन दर्शन

उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि ने कहा था कि—

बहुत शौक से सुन रहा था जमाना ।
तुम्हीं सो गए दास्तां कहते-कहते ॥

अखिल भारतीय श्वे० स्था० जैन श्रमण संघ के आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के स्वर्गवास का समाचार सारे देश ने अत्यन्त शोक पूर्ण स्थिति में दिनांक ३१ जनवरी १९६२ को सुना । आचार्य श्री का स्वर्गवास दिनांक ३०-१-६२ को रात्रि में हुआ । जैसे ही ३१ जनवरी का सूर्य अपने प्रखर तेज के साथ उदित हुआ यह करुणा पूर्ण समाचार आकाशवाणी द्वारा सारे देश में फैल गया । आचार्य श्री का दीर्घकालीन साधनामय जीवन उनकी प्रगाढ़ विद्वता, तथा अगाध ज्ञान देश के विद्वज्जन तथा सर्व साधारण के लिए सुलभ वस्तु थी । आचार्य श्री के ज्ञान का लाभ उनकी आगम सम्बन्धी सूक्ष्म दृष्टि से विद्वज्जन जहां लाभ उठाते थे वहां सर्व साधारण अपनी ज्ञान-पिपासा शांत करते थे । इसी बात को लक्ष्य करके उर्दू के कवि ने उपरोक्त नजम कहीं थी । आचार्य भगवान के पास जब जाइए तब, उनको श्रमण अथवा श्रावक विद्वज्जन के साथ आगम चर्चा में रत पायेंगे । उनके कंठस्थ ज्ञान को देखकर आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता था । वर्षों से प्रज्ञाचक्षु होते हुए भी शास्त्रीय संदर्भ कंठस्थ स्मृति से दिये जाते थे । कई भाषा पर उनका अधिकार था । मुझे अपने जीवन में आचार्य भगवान के दर्शन का लाभ केवल दो बार मिला । दिसम्बर १९५८ को जब अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फरन्स के एक साधारण सदस्य के नाते एक शिष्टमण्डल सहित लुधियाना गया था । उस समय जो छाप पड़ी वह कई वर्ष बीत जाने पर भी हृदय पर स्पष्टतया अंकित है । मैं उक्त महापुरुष के साहित्य तथा मानवीय सद्गुणों का समूह देखकर गुनगुना रहा था—

"तुम गौरव गिरि उत्तुंग शिखर, पद पूजन का भी क्या उपाय ?' वास्तव में कहां आचार्य श्री का उच्च व्यक्तित्व और कहां मुझ जैसा पामर तुच्छ अल्प जीव ! अभी दिनांक २२ जनवरी को मैं लुधियाना दर्शनार्थ गया। मुझे दिनांक २०-२१ जनवरी की अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फरेन्स की जनरल कमेटी की बैठक में ज्ञात हुआ था कि आचार्य श्री का स्वास्थ्य चिन्ता का विषय है तो वहां से दर्शनार्थ चला गया। उनके देदीप्यमान आकृति पर वही शांति, धैर्य चमक रहा था।

स्वर्गीय आचार्य श्री ने अपने दीर्घकालीन साधनामय जीवन में पर्याप्त साहित्य का निर्माण किया। कई आगमों का आधुनिक ढंग से संस्कृत छाया, टीका, अर्थ-सहित सम्पादन करके प्रकाशित कराया। इसके अतिरिक्त लगभग ५० ग्रन्थों का सम्पादन किया जिनमें कई मौलिक रचनाएँ हैं। उक्त सरस्वती के एक अनवरत सेवक की इन मौलिक ग्रन्थों की रचना की सराहना जैन तथा अजैन विद्वानों ने की, न केवल उतना अपितु कई जैन शास्त्रों के मर्मज्ञ विदेशी विद्वानों ने भी मुक्त कंठ से सराहना की।

आचार्य श्री का लक्ष्य सदैव संघहित की ओर रहता था। उनको उनकी विद्वत्ता आदि गुणों से आकर्षित होकर पंजाब सम्प्रदाय के उपाध्याय पद पर विभूषित किया गया। उसके पश्चात् उन्हें आचार्य पद से अलंकृत किया गया। जब श्रमण संघ का निर्माण हुआ उनकी अनुपस्थिति में भी उन्हें अ० भा० श्वे० श्रमण संघ के आचार्य पद से अलंकृत करके अपनी श्रद्धा व्यक्त की। तब से वे आजीवन श्रमण संघीय आचार्य है। इस काल में कभी उन्होंने अधिकार का प्रयोग नही किया। उन्होंने अपने समस्त अधिकार कार्य वाहक समिति को हस्तांतरित कर दिये। ऐसे समाज रत्न को खोकर आज सारा समाज क्षुब्ध है अनाथ हो गया है। वास्तव में ऐसे ही महापुरुष को लक्ष्य करके भर्तृहरि ने निम्न श्लोक लिखा था :—

परिवर्तिनि संसारे, मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन, याति वंशसमुन्नतिम् ॥

आचार्य श्री ने श्रमण संघ को, समाज को, पर्याप्त उचित अनुपम मार्ग दर्शन किया। मेरा निश्चित विश्वास है कि यदि आचार्य भगवान कुछ समय तक हमारे बीच रहते तो न केवल स्था० जैन श्रमण संघीय मतभेद समाप्त होकर संगठन दृढ़ होता, अपितु अखिल जैन समाज की विभिन्न परम्पराओं का समन्वय होकर सुदृढ़ जैन समाज का निर्माण होता। वास्तव में आचार्य श्री के स्वर्गवास से जैन समाज की ऐसी क्षति हुई है जो पूर्ति होने योग्य नहीं है।

आचार्य भगवान को शास्त्रीय ज्ञान के अध्ययन, अध्यापन में विशेष रुचि थी, मैंने उनके प्रमुख शिष्य श्री ज्ञान मुनिजी द्वारा रचित 'आचार्य सम्राट' पुस्तक का अवलोकन किया जिससे स्पष्ट है कि वह सदैव शास्त्रीय अध्ययन अध्यापन, शोध कार्य में संलग्न रहते थे। ऐसी दशा में आचार्य श्री के प्रति कृतज्ञता प्रकाश का एक ही रास्ता है कि हम स्था० जैन समाज की ओर से एक ऐसा 'जैन ग्रन्थ संग्रहालय' निर्माण करावें जिसमें आगम शास्त्रों से लेकर जैन ग्रन्थों का अक्षय संग्रह हो। जैन समाज की इससे एक बड़ी कमी दूर होगी। आप बौद्ध तीर्थ-स्थानों में से कई स्थान पर विशाल पुस्तकालय देखते होंगे। जैन समाज की अभी इस ओर उपेक्षा रही है। आशा है कि जैन समाज इस ओर पर्याप्त ध्यान देकर आचार्य श्री का वास्तविक स्मारक निर्माण करायेगा।